Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

R
20.02
म 28

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

ya Samaj Foundation Chennai a

Domain. Gurukul Kangri Collec

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

13446

विज्ञान महाविद्यालय पुस्तकालय

गुरुकुल कांगड़ी

R
20.02

विषय संख्या

आगत पंजिका संख्या

तिथि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
COMPILED

पुस्तकालय
(विज्ञान विभाग)
R
20.02
५२५
(१५८४)
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

पुस्तक-वितरण की तिथि नीचे अंकित है। इस तिथि सहित १५वें दिन तक यह पुस्तक पुस्तकालय में वापिस आ जानी चाहिए। अन्यथा ५ पैसे प्रतिदिन के हिसाब से विलम्ब-दण्ड लगेगा।

~~66162~~

Stock Verification-2004

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी की

षण्मासिक पत्रिका

COMPILED

दर्शन समीक्षा

संपादक :
यशदेव शल्य

113446

वर्ष : १ | जुलाई, १९७१ | अंक : १

स्टाक मार्जीकरण ११८४-११८५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

66162
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
COMPILED
113446

दर्शन-समीक्षा

वर्ष : १ जुलाई, १९७१ अंक : १

संपादक :
यशदेव शल्य

परामर्शदाता :
चांदमल, दयाकृष्ण, नंदकिशोर देवराज, पंपापति राव, राजेन्द्रप्रसाद, (कु.) रूपरेखा वर्मा

विषय सूची

प्रस्तावना	....	१
संपादकीय	....	३
फिनोमिनलोजिकीय दर्शन-प्रणाली	यशदेव शल्य	५
तर्कशास्त्र का दर्शन	(कु.) रूपरेखा वर्मा	४७
न्याय का स्वरूप	चांदमल	७६
पत्रिका-लेख-सारांश		१०१-११२

शिक्षा तथा समाज-कल्याण मंत्रालय, भारत सरकार की विश्वविद्यालय ग्रंथ-योजना के अन्तर्गत राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी द्वारा प्रकाशित।

वार्षिक शुल्क : साधारण : १२.००
संस्थाओं के लिए : २०.००

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

20.02
प2प
(२६७०९)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रस्तावना

हिन्दी ग्रंथ अकादमियों की समन्वय समिति ने अपनी जनवरी १९७१ की बैठक में हिन्दी में कुछ उच्चस्तरीय समीक्षा-पत्रिकाएं प्रकाशित करने का निर्णय किया था। इन पत्रिकाओं की योजना मूलरूप में राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी ने ही प्रस्तुत की थी। समन्वय समिति की उक्त बैठक में राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी से दर्शन तथा इतिहास की दो षण्मासिक पत्रिकाएं निकालने का निवेदन किया गया था। इन पत्रिकाओं का प्रयोजन हिन्दी-पाठकों को, विशेषतः विश्वविद्यालयों के अध्यापकों एवं विद्यार्थियों को, विभिन्न भाषाओं में प्रकाशित होने वाली महत्वपूर्ण नवीन कृतियों से परिचित कराना है। लेखक इस प्रयोजन के लिए चयन की गई पुस्तकों का सम्यक् सारांश प्रस्तुत कर अत्यन्त संक्षेप में उस पुस्तक का परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत करेंगे, जिससे उस विषय में पुस्तक का योगदान स्पष्ट हो सके।

पत्रिका में पुस्तक-समीक्षा के अतिरिक्त गत छमाही में प्रकाशित विदेशी भाषाओं की पत्रिकाओं के कुछ प्रमुख लेखों के सारांश भी रहेंगे।

मेरे लिये, और राजस्थान हिन्दो ग्रंथ अकादमी के लिए यह अत्यधिक हर्ष का विषय है कि दर्शन-समीक्षा समीक्षा-पत्रिकाओं की इस शृंखला में सबसे प्रथम है। निश्चय ही इसका श्रेय अकादमी के निदेशक एवं पत्रिका के सम्पादक को है। अकादमी की दूसरी पत्रिका इतिहास-समीक्षा का प्रकाशन भी निकट भविष्य में आरम्भ हो जायगा।

इन पत्रिकाओं की उपयोगिता स्पष्ट है, अतः उसके सम्बन्ध में मुझे यहां कुछ नहीं कहना है। किन्तु इस उपयोगी कार्य का लाभ तभी है यदि अधिक से अधिक पाठक इसका उपयोग करें। मुझे पूर्ण विश्वास है कि इन विषयों के लेखक तथा पाठक इन पत्रिकाओं को अपना पूरा सहयोग देंगे।

पूनमचन्द बिश्नोई

अध्यक्ष, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी एवं
शिक्षा मन्त्री, राजस्थान सरकार, जयपुर.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संपादकीय

दर्शन–समीक्षा का प्रकाशन हमारे देश में, विशेषतः हिंदी में, दार्शनिक वाङ्मय की अभिवृद्धि में एक महत्वपूर्ण चरण होगा, ऐसा हमारा विश्वास है। इस आयोजन का भी मैं ही निमित्त बन रहा हूँ, कुछ अन्य इसी प्रकार के, और शायद अधिक महत्वपूर्ण, आयोजनों के समान ही, यह एक संयोग ही होना चाहिए, यद्यपि मेरे लिए यह एक अत्यन्त सुभग संयोग है। किन्तु होता की सफलता का श्रेय और लाभ दोनों देवताओं के होते हैं, उसको श्रेय और लाभ निमित्त होने का ही होता है।

शायद दर्शन एकमात्र ऐसा विषय है जिसकी दो उच्च स्तर की पत्रिकायें हिंदी में पहले से प्रकाशित हो रही हैं और इनमें एक पत्रिका, दार्शनिक त्रैमासिक, का प्रकाशन १९५४ से हो रहा है। इसी प्रकार, यही एक विषय है जिसके हिन्दी माध्यम से विकास के लिए १९५४ से एक अखिल भारतीय संस्था है। इसके अतिरिक्त, दर्शन–विषय में हमारे देश की परम्परा अत्यधिक समृद्ध है। इस प्रकार "दर्शन–समीक्षा" के पीछे एक निश्चित परम्परा है जिससे इस पत्रिका की सफलता की संभावना बलवती होती है।

"दर्शन–समीक्षा" का प्रयोजन हिन्दी–पाठकों को हिन्दीतर भाषाओं में प्रकाशित उच्चकोटि के ग्रन्थों के दार्शनिक विचार में योगदान से परिचित कराना है। यह प्रयोजन यद्यपि सबसे अधिक उपयुक्त रूप में अनुवाद से सिद्ध हो सकता है, किन्तु अनुवाद में अनेक कठिनाइयां सम्मुख आई हैं। दुर्लंघ्य औपचारिक कठिनाइयों के अतिरिक्त, एक बड़ी कठिनाई हिन्दी की अनुवाद के लिए अपरिपक्वता है। शब्द प्रयोग से अर्थ ग्रहण करते हैं—पारिभाषिक अथवा अभिधानात्मक शब्दों को छोड़कर। शब्दों के प्रयोगों का स्वाभाविक संदर्भ उस भाषा के प्रयोक्ताओं द्वारा अपने विचार की अभिव्यक्ति के लिए उनका प्रयोग करना होता है। इस प्रकार पुष्ट हुई भाषा "विदेशी" भाषा और विचार का "स्वदेशीकरण" कर लेती है। हमारे देश में यह स्वाभाविक क्रम उलट दिया गया है, इसीलिए हिन्दी में प्रेषणीयता की कमी है, विशेषतः अनुवादों में। इस तथा ऐसी अन्य पत्रिकाओं में लिखे जाने वाले लेख अनुवाद नहीं होंगे, ये अनुवाद और मौलिक के मध्यवर्ती होंगे, इस प्रकार इनमें भाषा लेखक के अनुभव के अधिक निकट संपर्क में होगी—कम से कम हमारा ऐसा लक्ष्य है। जैसाकि प्रायः होता है, हम लक्ष्य के निकट क्रमशः ही हो सकेंगे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पत्रिका की सफलता दो बातों पर निर्भर करेगी—सर्वप्रथम, योग्य लेखकों के सहयोग पर और दूसरी, पाठकों के सहयोग पर। "वक्ता–श्रोता की दुर्लभता" वाली उक्ति ऐसी पत्रिकाओं के संचालकों–संपादकों के सम्मुख अत्यन्त विषम रूप से उपस्थित होती है। हिन्दी भाषी क्षेत्र में पाठकों की कमी बहुत भयानक है। यह तथा अन्य ऐसी पत्रिकाएं विद्यार्थियों और अध्यापकों दोनों को अनिवार्यतः पढ़नी चाहिएं। सामान्यतः इनके लेख विद्यार्थियों के स्तर से, जिस प्रकार के स्तर आज विश्व–विद्यालयों में हैं, थोड़े ऊंचे होंगे, किन्तु इसीलिए उनकी इसमें रुचि और भी अधिक होनी चाहिए। इन लेखों की, इनके हिन्दी में होने के अतिरिक्त, यह भी उपयोगिता है कि ये महत्वपूर्ण पुस्तकों के विचारों को साररूप में प्रस्तुत करते हैं और इस प्रकार जो लोग उन पुस्तकों को मूल में पढ़ सकते हैं किन्तु समयाभाव से तत्काल नहीं पढ़ सकते, वे भी इनसे उनका मूल कथ्य ग्रहण कर सकते हैं। ऐसे लेख मूल को समझने में भी सहायक हो सकते हैं। वास्तव में यह उचित होगा कि स्नातकोत्तर स्तर के विद्यार्थी और दर्शन के सभी अध्यापक दर्शन–समीक्षा को, और कम से कम एक अन्य दार्शनिक पत्रिका को, खरीदें और पढ़ें।

इस अंक में हम केवल तीन समीक्षा–लेख दे रहे हैं, आगामी अंकों से कम से कम चार लेख दिये जायंगे और प्रत्येक अंक की पृष्ठ संख्या १२५ से १५० तक रखी जायगी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फिनोमिनलोजिकीय दर्शन-प्रणाली

यशदेव शल्य

यहां मैंने किसी एक पुस्तक को आधार बनाने के बजाय दो पुस्तकों से लेखों का चयन किया है – (१) फिनोमिनलोजी [1] में से चार लेख लिये हैं और "फिनोमिनलोजी क्या है"[2] में से दो लेख लिये हैं* । प्रथम पुस्तक में से निम्न चार लेखों का संक्षिप्त सार दिया गया है – "फिनोमिनलोजी क्या है" ले. मॉरिस माल्यूं पोंटी, (२) "पूर्वमान्यतारहित दर्शन का आदर्श" ले. मार्विन फार्बर, (३) "अन्तर्विषयिता" ले. क्वेंटन लायूर (४) फिनोमिनलोजी तथा अस्तित्ववादः विषयापेक्षता पर हुस्सर्ल तथा सार्त्र के विचार," ले. मॉरिस नटांसन । दूसरी पुस्तक में से संकलित लेख हैं – (१) "डेकार्ट तथा हुस्सर्ल में मूलगामी आरंभ-बिन्दुओं का अन्तर" और (२) "आन्तरबोध तथा आत्म की चेतना ।" इस प्रकार मैंने एक ओर "फिनोमिनलोजी" के अधिकांश लेख छोड़ दिये हैं और दूसरी ओर एक अन्य पुस्तक से दो लेख लिये हैं । ऐसा दो कारणों से किया गया है—प्रथम, तेवनाज़ के दो संकलित लेख फिनोमिनलोजिकीय दर्शन-प्रणाली में एक भिन्न तथा महत्वपूर्ण दृष्टिकोण को सम्मुख लाते हैं । एक प्रकार से ये सार्त्र तथा माल्यूं पोंटी से विपरीत दिशा में उन्मुख हैं, जबकि

---

१. **Phenomenology, ed. Joseph J. Kockelmans, Anchor Books, 1967.**

२. **What is Phenomenology, by Peirre The'venaz, Quadrangle Books, Chicago, 1962.**

*** संकलित लेख**

(1) What is Phenomenology, Maurice Merleau Ponty.

(2) Ideal of a Presuppositionless Philosophy, Marvin Farber.

(3) Intersubjectivity, Quentin Lauer.

(4) Phenomenology and Existentialism, Maurice Natanson.

(5) The Question of the Redical Point of Departure in Descartes and Husserl.

(6) Reflexion and Consciousness of Self.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुस्सर्ल को मध्य में रखा जा सकता है। "फिनोमिनलोजी" के अधिकांश लेख इस लिये छोड़ दिये गये हैं क्योंकि ये छः लेख इस दर्शन-प्रणाली का एक विहंगम दृश्य प्रस्तुत करने के लिये पर्याप्त हैं।

फिनोमिनलोजिकीय दर्शन-प्रणाली का प्रवर्त्तक जर्मन दार्शनिक हुस्सर्ल को माना जाता है। किन्तु इस प्रणाली के दार्शनिक अपने पूर्वजों के रूप में डेकार्ट, हेगल और बर्गसां को भी देखते हैं। जो भी हो, एक निश्चित विधि—प्रणाली—के रूप में सजगरूप से इसका सूत्रपात और विकास हुस्सर्ल ने ही किया। हमारे देश में यह प्रणाली बहुत कम परिचित है, अधिकांशतः इसके नाममात्र से ही परिचय है। इसका कारण हमारा अंग्रेज़ी-अमरीकी दर्शनों के प्रभाव में होना है। इन दो देशों में प्रत्यक्षवाद-वैज्ञानिकतावाद का प्राधान्य है। इसलिये हमारे लिये भी यही दार्शनिक मत एक मान्य मत रहा है और इसके अनुसार ही हमने फिनोमिनलोजी–दर्शन–प्रणाली को भावनापरक, अस्पष्ट एवं अतार्किक-धारणापरक दर्शन-प्रणाली माना है। इसी कारण हमारे विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में इसकी उपेक्षा हुई है और इसी से हमारे विचारकों ने इस ओर ध्यान नहीं दिया है। जिन्होंने कभी इस पर, अथवा अस्तित्ववाद पर (जिसका नाम हमारे साहित्यिक क्षेत्रों में बहुत आकर्षण का विषय है) कुछ लिखा भी है वह अधिकांशतः या तो सतही है या भ्रामक है, अथवा दोनों है। यहां लिखने के लिये इस विषय को मैंने मुख्यतः इसीलिये चुना। दूसरा कारण इधर के मेरे विचारों की इस दार्शनिक प्रणाली से निकटता है, जिसका पता मुझे केवल एक–डेढ़ वर्ष पूर्व ही चला। यदि मैं "ज्ञान और सत्"तथा "संस्कृतिः मानव–कर्त्तृत्व की व्याख्या" पुस्तकें लिखने से पहले इस दर्शन-प्रणाली से परिचित होता तो इन पुस्तकों का रूप कुछ भिन्न होता। इनकी पदावली वास्तव में अंग्रेज़ी-अमरीकी दर्शन-प्रणाली के ही अधिक निकट है, यद्यपि प्रतिपाद्य उससे बहुत भिन्न है। वह फिनोमिनलोजिकीय-दर्शन-प्रणाली के बहुत अधिक अनुरूप है।

जैसाकि हमने कहा, फिनोमिनलोजी–दर्शन-प्रणाली का प्रवर्त्तन हुस्सर्ल ने किया। उसकी सृजन-वासना इतनी प्रबल थी कि वह चालीस हज़ार से अधिक पृष्ठ लिख कर भी कभी सन्तुष्ट नहीं हुआ और निरन्तर खोजता रहा। इन अनेक कृतियों में इस दार्शनिक का एक ही मूल-बोध अपने अन्वेष्य का निरन्तर सन्धान करता हुआ दिखाई देता है। तेवनाज़ के शब्दों में, हुस्सर्ल की प्रथम चिन्ता तर्कशास्त्र तथा मनोविज्ञान का पृथक्करण थी, किन्तु वह तर्कशास्त्र तथा फिनोमिनलोजी के आधारों की खोज में निरन्तर मनोविज्ञान तथा चैतन्य के विश्लेषण में प्रवृत्त रहा। इसी प्रकार, यद्यपि वह एक वस्तुवादी (रीयलिस्ट)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दार्शनिक था जिसने उन्नीसवीं शताब्दी के नव्यकांटीय विज्ञानवाद (आइडियलिज़्म) के विरोध में "विषय की ओर लौटने" तथा "स्वलक्षण वस्तु की ओर लौटने" का नारा दिया, किन्तु तब भी जिसके दार्शनिक चिन्तन का मुख्य अभिनिवेश द्रष्टा विषयी एवं चैतन्य का विवेचन-विश्लेषण तथा अतिक्रान्त विज्ञानवाद (ट्रांसेंडेंटल आइडियलिज़्म) की स्थापना रहा। आधारों की खोज में वह चैतन्य के विश्लेषण की ओर उन्मुख रहा। किन्तु यह मनोवैज्ञानिक विश्लेषण नहीं हो सकता था, क्योंकि मनोविज्ञान पूर्ण वास्तवता (एब्सोल्यूट ऑब्जेक्टिविटी)[3] और परिणामतः विज्ञान के निरपेक्ष आधार प्रस्तुत करने में असमर्थ है। परिणामतः हुस्सर्ल चैतन्य के एक भिन्न प्रकार के विश्लेषण में प्रवृत्त हुआ, क्योंकि उसका चैतन्य के विश्लेषण का प्रयोजन ज्ञानमीमांसा और तर्कमीमांसा के आधारों की खोज करना था। अतः यह विश्लेषण फिनोमिनलोजिकीय विश्लेषण था। यह विश्लेषण मनोवैज्ञानिक एवं तार्किक विश्लेषण से किस अर्थ में भिन्न है? फिनोमिनलोजिक दार्शनिक तर्कशास्त्री के समान सत्य निर्णयों अथवा प्रतिज्ञप्तियों की कारक अवस्थाओं (कंडीशन्स) का अध्ययन नहीं करता, न मनोवैज्ञानिक के समान यही अध्ययन करता है कि निर्णयों के समय चेतना में क्या घटित होता है। इसके विपरीत वह तात्कालिक रूप से अनुभव को मूक कर देता है, वस्तुगत सत् के प्रश्न को स्थगित कर देता है, जिससे चैतन्याहित (चैतन्य में निहित) सत् के रूप पर दृष्टि केन्द्रित की जा सके और विषयों

---

३. 'ऑब्जेक्टिविटी' के लिये मैंने 'वास्तवता' का प्रयोग इसलिये किया हैं क्योंकि यहां ऑब्जेक्ट (विषय) का विकल्पमूलक (कंस्ट्रक्शनल) पक्ष अभिप्रेत नहीं हैं, बल्कि इससे स्वतंत्र पक्ष अभिप्रेत है। किन्तु 'विषय' शब्द अधिकांशतः प्रथम अर्थ में ही प्रयुक्त होता है। 'वस्तु' शब्द विषय के इस पक्ष का ही वाचक है। इसी कारण ऊपर 'रीयलिज़्म' शब्द के लिए मैंने 'वास्तववाद' शब्द का प्रयोग किया हैं।

मैंने इस लेख में पारिभाषिक शब्दों के हिन्दी पर्याय शब्दों का प्रयोग करने में बहुत सावधानी और स्वतन्त्रता से काम लिया हैं। शब्दावली आयोग द्वारा तैयार किये गये पारिभाषिक शब्द-कोश में इस दर्शन-प्रणाली के शब्दों का आकलन नहीं किया गया हैं। किन्तु मैंने इस अर्थ में भी स्वतंत्रता ली हैं कि प्रसंगानुसार एक ही अंग्रेज़ी शब्द के लिये प्रसंग-भेद के अनुसार भिन्न-भिन्न हिन्दी-पर्याय दिये हैं। मैंन प्रायः सर्वत्र कोष्ठकों में अंग्रेज़ी-पर्याय शब्द दे दिये हैं। किन्तु संभवतः मेरे प्रयुक्त हिन्दी शब्द विषय को समझने में अधिक सहायक होंगे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को चैतन्य की अपेक्षाओं-आक्षेपों (इंटेंशंस्)[4] के रूप में देखा जा सके। इस प्रकार उसका प्रश्न होता है:—हमारा क्या अभिप्राय होता है····जब हम निर्णय करते हैं, स्वप्न देखते हैं, जीते हैं····आदि ! किन्तु इसका अभिप्राय प्रत्ययात्मक (आइडियल) विषय-विधान (ऑब्जेक्टीफिकेशन) नहीं है, जो हमें मनोविज्ञान के स्तर पर रख देता है, न प्रत्ययात्मक सत्तावाद है, जो चैतन्य के प्रदत्तों का ठोस मूर्त्तीकरण करता है, यह फिनोमिना है। यह फिनोमिना क्या है ? इसे समझने के लिये पहले प्रतिभास और सत् के कांट-कृत भेद को भूलना आवश्यक होगा, क्योंकि फिनोमिनलोजी सत् का **स्थगन**[5] (रिडक्शन) करती है, परिणामतः यह उसे फिनोमिना के विपरीत के रूप में स्थापित नहीं कर सकती, क्योंकि स्थगन न सत् का प्रतिषेध है और न किसी रूप में—अनुरूप या प्रतिरूप—स्वीकार है। फिनोमिनलोजी के लिये फिनोमिना वह है जो चेतना में अव्यवहित रूप से व्यक्त होता है, यह ऐसे सहज बोध में ग्रहण होता है जो किसी भी प्रकार के विकल्प (कंस्ट्रक्शन) अथवा निर्णय से प्राक् होता है। यह केवल अपने को प्रकाशित करता है। फिनोमिना वह है जो अपने को प्रस्तुत करता है, इसलिये फिनोमिनलोजिकीय विश्लेषण विषयों और ज्ञान की अन्तर्वस्तुओं (कांटेंट्स) के मूल्य और सत् की ओर ध्यान नहीं देता, जोकि दर्शन की अबतक मुख्य प्रेरणा रही है, बल्कि शुद्ध अपेक्षाओं—अभिप्रायों—के रूप में जिस प्रकार चेतना में प्रकाशित होते हैं उस रूप में उनका तटस्थतः वर्णन करता है। इस प्रकार, विषय एकसाथ एक ओर **प्रस्तुत** के रूप में देखे जाते हैं और दूसरी ओर अभिप्रेत-अपेक्षागत के रूप में। पुनः, ये एकसाथ एक ओर स्वायत्त और दूसरी

---

४. इस शब्द के लिये मैंने अधिकांशतः 'विषयापेक्षा' पर्याय का प्रयोग किया है, क्योंकि हुस्सर्ल के दर्शन में विषय इस अर्थ में चैतन्यमूलक हैं कि "रिडक्शन" के द्वारा उनकी स्वतंत्र स्थिति का निषेध किया जाता है और उन्हें "अर्थों" के रूप में समझा जाता है। दूसरी ओर, उनके अनुसार, चेतना उतनी ही विषयमूलक भी है क्योंकि निर्विषय चैतन्य की संभावना को वे अस्वीकार करते हैं। इसलिये वास्तव में विषय उतना ही अपेक्षा भी है जितना आक्षेप है।

५. 'रिडक्शन' का अन्य दर्शनों में प्रयोग 'अन्तर्भाव' के अर्थ में होता है, किन्तु इस दर्शन-प्रणाली में इसका प्रयोग सर्वथा भिन्न अर्थ में होता है। इस दर्शन-प्रणाली में यह शब्द अत्यन्त आधारभूत अवधारणा को व्यक्त करता है। इस दर्शन में वास्तव में इसका अर्थ "स्थगन" और "प्रतिषेध" अथवा "अपवारण" के बीच का है, किन्तु यदि एक शब्द का ही प्रयोग करना हो तो 'स्थगन' अधिक उपयुक्त है। यहां "स्थगन" शब्द को इस व्यापकतर अर्थ में ही समझना चाहिये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ओर आक्षिप्त–दिये गये सत्त्व वाले—हैं । किन्तु उससे अधिक महत्वपूर्ण यह है कि फिनोमिनलोजिकीय दार्शनिक इनके सत्-असत्, निरपेक्षता-सापेक्षता आदि विषयक प्रश्नों से तटस्थ रहकर चेतना की वृत्तियों का वर्णन करता है । इसका प्रयोजन आगे क्रमशः स्पष्ट होगा ।

ऊपर हमने "इंटेंशन" की व्याख्या देने का प्रयत्न किया । यहां हम बहुत संक्षेप में एक अन्य महत्वपूर्ण पारिभाषिक पद "रिडक्शन" का अर्थ स्पष्ट करेंगे । यह पद इस दर्शन में 'इंटेंशन' के साथ केन्द्रीय महत्व का है । इसका अर्थ है विश्व को फिनोमिना—विषय-विश्व—के रूप में (विश्व में किसी प्रकार के विषय के रूप में नहीं) प्रस्तुत होने की स्वीकृति देना, अथवा कहें, इसके उस विधा में अवगत होने के लिये अपने को उन्मुख करना । 'रिड्यूस करने' का अर्थ निरास करना या सन्देह करना नहीं है, इसका प्रयोजन विश्व तथा चैतन्य के बीच उस मौलिक सम्पर्क को व्यक्त करना है जो सम्पर्क कि प्राकृतिक—लौकिक—अभिवृत्ति में अस्पष्ट रहता है । रिडक्शन में विश्व यथावत् रहता है, किन्तु अब चेतना—दृक्—का इससे इतना सामीप्य नहीं होता कि वह इसका आशय ही नहीं समझ सके । वह अब इसका आशय ग्रहण करने के लिये इससे अपना विच्छेद घटित करती है, वह इससे निर्वतित होती है, और तब इसको इसके स्वरूप में पुनः प्रतिष्ठा देती है । इस प्रकार रिडक्शन वास्तव में लोकसुलभ अभिवृत्ति का स्थगन है, स्वयं विषय के सत्त्व (बींग) का स्थगन या प्रतिषेध नहीं है । विषयगत सत्त्व का स्थगन केवल परोक्षरूप से, तद्विधायक अभिवृत्ति के प्रतिषेध द्वारा, होता है ।

हुस्सर्ल की स्थिति के सम्बन्ध में इस संक्षिप्त प्राक्कथन के पश्चात् हम एक मौलिक फिनोमिनलोजिक चिन्तक माल्यूं पोंटी के लेख "फिनोमिनलोजी क्या है" के माध्यम से इस दर्शन-प्रणाली के सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण दृष्टिकोण प्रस्तुत करेंगे । उनका यह लेख मूलतः उनकी पुस्तक "फिनोमिनलोजी ऑफ पर्सेप्शन"[6] से संकलित किया गया है ।

---

६. फिनोमिनलोजी आफ पर्सेप्शन, रुतलज एंड केगन पॉल, लंडन, अंग्रेज़ी संस्करण १९६२ ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फिनोमिनलोजी क्या है

पोंटी के अनुसार, हुस्सर्ल की प्रथम कृतियों के प्रकाशन के ५० वर्ष बाद (और अब प्रायः बीस वर्ष और बाद) भी इस प्रश्न का प्रासंगिक बने रहना, कि फिनोमिनलोजी क्या है, और इसका कोई एक निश्चित और सम्यक् उत्तर नहीं दिया जा सकना, आश्चर्यजनक हो सकता है। एक ओर फिनोमिनलोजी धर्मों (एस्सेंसिज़) का अध्ययन करती है, अर्थात् यह किसी भी विवेच्य विषय के धर्म को, स्वभाव को, परिभाषित करने का प्रयत्न करती है, किन्तु दूसरी ओर धर्मों का, धर्मसद्भाव का, निषेध कर अस्तित्व की, विशिष्ट की, घटना की, पूर्वता स्थापित करती है। इस प्रकार इसके अनुसार, जगत् एवं मनुष्य को इनकी तथ्यता के द्वारा समझा जा सकता है, धर्म-स्वभाव-के द्वारा नहीं। इसी प्रकार, यह एक ओर एक अतिक्रान्तवादी (ट्रांसेंडेंटलिस्ट) दर्शन है और परिणामतः हमारे सहज प्राकृतिक विश्वासों और निर्णयों (जजमेंट्स) को, उनके सम्यक् अवगमन के लिये, स्थगित अथवा अपवारित करता है, किन्तु दूसरी ओर इस दर्शन के लिये जगत् निरपेक्षतः और "पूर्वतः" विद्यमान है। फिनोमिनलोजी का सम्पूर्ण प्रयत्न इस लोकधारणा के जगत् को नये सिरे से प्रतिष्ठित करना तथा एक दार्शनिक आधार देना है। इस दर्शन का लक्ष्य "सम्यक् विज्ञान" होना है, किन्तु उतना ही यह देश, काल और विश्व का भी, उनके अनुभूत रूप में, जीये गये रूप में, आकलन करना चाहता है। एक ओर यह अनुभव का मनोवैज्ञानिक, अथवा अन्य किसी प्रकार की कारणात्मक व्याख्या से निरपेक्ष, अव्यवहित रूप में वर्णन करना चाहता है और दूसरी ओर हुस्सर्ल ने अपनी अंतिम कृतियों में "जननात्मक फिनोमिनलोजी" (जेनेटिक फिनोमिनलोजी) अथवा "रचनात्मक फिनोमिनलोजी" की बात भी की है। माल्र्यू पोंटी के अनुसार यह विरोधाभास स्वयं हुस्सर्ल में विद्यमान है।[7]

---

७. इसके विपरीत तेवनाज़ हुस्सर्ल की सब दार्शनिक कृतियों में एक मूलभूत ऐक्य देखता है। उसके अनुसार, हुस्सर्ल की विभिन्न कृतियों को न तो पृथक्-पृथक् देखना चाहिये और न इन्हें विभिन्न विषयों में एक ही विधि के क्रमशः प्रयोग के रूप में देखना चाहिये। उसके अनुसार, इन कृतियों को इस रूप में देखना चाहिये कि एक मूल दृष्टि अपने को निरन्तर उद्भिन्न करने का, प्रथमतः अस्पष्ट और अनिश्चित रूप से अवबोधित निज निगूढ़ार्थ को विस्फुट रूप में ग्रहण करने का, निरन्तर प्रयत्न कर रही है। हुस्सर्ल के सम्बन्ध में यह इतना सही है कि उसकी पहले की कृतियों का अभिप्राय ठीक-ठीक समझने के लिये बहुत बार उसकी बाद की कृतियों को देखना अनिवार्य है। "ह्वाट इज़ फिनोमिनलोजी" पृ. ४०.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अब, फिनोमिनलोजी क्या है? पोंटी के अनुसार, फिनोमिनलोजी कोई सिद्धान्त विशेष नहीं है, यह कोई मत भी नहीं है, यह फिनोमिनलोजिकीय विधि है। इस विधि का प्रथम सूत्र है कि दर्शन का कार्य व्याख्या देना अथवा विश्लेषण करना नहीं है बल्कि वर्णन करना, विवरण देना, है। व्याख्या मुझे और विश्व को सिद्धान्त-सापेक्ष बना देती है, किन्तु मैं वास्तव में अपने को मनोविज्ञान, जीवविज्ञान अथवा रसायन विज्ञान आदि की व्याख्याओं से पूर्व जानता हूं, बल्कि व्याख्याएं मेरे लिये जो कुछ अर्थ रखती हैं वह इस अव्यवहित अनुभव से ही उधार लिया गया होता है। इस प्रकार सब विज्ञान मेरे अपने और विश्व के अनुभव की न्यूनतर अभिव्यक्तियां हैं—खंडित और परोक्ष। विज्ञान कभी भी सत्ता (बींग) का वह ठोसपन अधिगत नहीं कर सकता जो प्रत्यक्ष को प्राप्त है, क्योंकि विज्ञान इस प्रत्यक्ष के ही निर्धारण और व्याख्या का प्रयत्न करता है। मेरा अस्तित्व विज्ञान, इतिहास और परिवेश पर निर्भर नहीं करता, बल्कि यह उनकी ओर अभिमुख होता और उनका धारण करता है।

किन्तु विषयी (द्रष्टा) अथवा चैतन्य की इस प्राथमिकता का यह प्रतिपादन न डेकार्टीय है और न काण्टीय, विज्ञानवाद (आइडियलिज़्म) से तो यह कोसों दूर है। वास्तव में फिनोमिनलोजिक दार्शनिक 'प्रत्ययवादी' अभिधा को अपने पर सब से गंभीर आरोप मानेगा।

डेकार्ट और कांट के दर्शनों में चैतन्य और विश्व के बीच पारस्परिकता का सम्बन्ध नहीं है, यदि यह होता तो डेकार्ट के दर्शन में ज्ञान के साथ ही विश्व की प्रामाणिकता भी प्रदत्त होती, न ही काण्ट तब कोपर्निकीय क्रांति की बात करता। डेकार्ट को विश्व की प्रामाणिकता के लिये ईश्वर की सदाशयता का आश्रय लेना पड़ा और कांट को विश्व की रचना विषयी (द्रष्टा) में निहित अनुभव की संभावना (पूर्वापर अनुभव का संश्लेष-विधान कर सकने वाली कल्पना) के द्वारा करनी पड़ी। हुस्सर्ल ने कांट के विषयिमूलक विश्लेषण के विपरीत, जोकि विश्व को विषयी की संश्लेषणात्मक क्रिया पर निर्भर बना देता है, विषयमूलक चैतन्य (नोएमैटिक रीफ्लेक्शन) को स्वीकार किया। यह चैतन्य विषय को विकल्प बुद्धि (अंडरस्टैंडिंग) के द्वारा संवेदों पर आरोपित नहीं करता, बल्कि विषय रूप में अपने को प्रतिफलित करता है।

हुस्सर्ल के अनुसार, जैसाकि पोंटी उसे समझता है, वास्तव (वस्तु-स्वभाव) का **वर्णन** अपेक्षित है, उसकी रचना अथवा व्याख्या नहीं। व्याख्याएं सापेक्ष होती हैं, इनका व्याख्येय पर (और व्याख्येय का व्याख्या पर) आश्रित होना अनिवार्य है। यदि मेरे प्रत्यक्षों की वास्तवता एक आन्तर समंजसता (इनर कोहरेंस) पर आश्रित होती तो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मेरे लिये एक निरन्तर सन्देह की स्थिति अनिवार्य हो जाती, मुझे प्रतिक्षण भ्रमात्मक संश्लेषणों का निरास करते रहना पड़ता और असमंजस प्रत्यक्षों का, जिन्हें मैंने अवास्तव मानकर पहले छोड़ दिया था, वास्तव के साथ समायोजन करने के लिये प्रयत्नशील रहना पड़ता। किन्तु ऐसा कभी होता नहीं है। वास्तव अथवा विश्व हमारी स्वीकृति की प्रतीक्षा नहीं करता, सत्य का निवास अन्तरात्मा में नहीं होता, मनुष्य अपने को पाने से पूर्व अपने को विश्व में पाता है।

इस प्रकार फिनोमिनलोजिकीय वास्तवतावाद का प्रतिपादन करने के पश्चात् पोंटी फिनोमिनलोजिकीय स्थगन (रिडक्षन) की व्याख्या करता है, जोकि इस दर्शन-प्रणाली की एक अत्यंत महत्वपूर्ण तथा केन्द्रीय अवधारणा है। इस प्रश्न पर हुस्सर्ल ने सब से अधिक विचार किया है। पोंटी के अनुसार, स्थगन को हुस्सर्ल ने अतिक्रामी चैतन्य की ओर निवर्त्तन के रूप में प्रस्तुत किया है, जिस चैतन्य के सम्मुख विश्व पूर्ण पारदर्शी होकर वितत है, प्रसारित है। स्थगन साधारण विश्वास के विषयों की वास्तवता का, अथवा कहें, प्राकृतिक विश्व की वास्तवता का, क्षय है, अपवारण है, जिसका अर्थ है कि उसे अपनी प्रतिष्ठा पुनः प्राप्त करने के लिये चैतन्य के अर्थों से मंडित होना होता है।

ऐसा स्थगन उचित रूप से अतिक्रामी विज्ञानवाद (ट्रांसेंडेंटल आइडियलिज़्म) परक है, जो विज्ञानवाद विश्व को मूल्य (पुरुषार्थ) के ऐसे एकत्व के रूप में देखता है जो राम और श्याम द्वारा विभक्त नहीं किया जा सकता। इस विश्व में संवाद (भावों-विचारों का आदान-प्रदान) कोई समस्या नहीं है, क्योंकि राम के अनुभव और प्रत्यक्ष उसके तथ्य नहीं हैं और न श्याम के प्रत्यक्ष उसके निजी हैं। चैतन्य के रूप में मेरा न कोई देश या काल में विशेष स्थल है और न कोई विशेष नाम है। हम सब एक सामान्य में सहभागी हैं।

किन्तु हुस्सर्ल के लिये अन्य व्यक्ति का भी अस्तित्व है और अतएव वह एक समस्या है तथा अन्य आत्म (विषयी) एक विरोधाभास है—यदि अन्य व्यक्ति का अपना निजी, मेरे से निरपेक्ष, अस्तित्व है, यदि हम एक–दूसरे के लिये हैं, तब यह आवश्यक है कि हम एक–दूसरे को दिखाई दें, मेरा अपने को और उसका उसको अवगमन होने के अतिरिक्त हमें परस्पर का भी ग्रहण हो। तब स्वभावतः ये दो परिप्रेक्ष्य एक–दूसरे के सहावस्थित नहीं हो सकते, क्योंकि तब यह "मैं" नहीं होऊंगा जो "उसे" दृष्टिगत होगा और न यह "वह" होगा जो मुझे दृष्टिगत होगा। इसके लिये आवश्यक है कि मैं अपना बाह्याकार होऊं और वह अपना शरीर हो। यह तभी संभव है यदि दर्शन **आत्म में निवर्त्तन में** अपनी पूर्णता नहीं देखे और यदि मैं आत्मचिन्तन में अपने को ही नहीं विदेशी द्रष्टा को भी उपस्थित पाऊं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अबतक चिति (कोजिटो) के द्वारा अन्य व्यक्ति का अवमूल्यन ही हुआ[7] था, क्योंकि इसके द्वारा मैं उस प्रत्यय से परिभाषित होता था जो केवल मुझे प्रदत्त हो सकता है। किन्तु यदि "अन्य व्यक्ति" शब्द को एक निरर्थक ध्वनि नहीं होना है तो मेरे अस्तित्त्व को "मेरे अस्तित्व की चेतना" तक सीमित नहीं होकर अन्य उपस्थिति की चेतना का भी उसमें समावेश करना होगा—यह आवश्यक होगा कि चिति मेरा परिस्थिति में ग्रहण करे। चिति वास्तव में आत्म को एतत् के विपरीत के रूप में नहीं पाती और न यह विश्व को प्रत्यय तथा अर्थ के रूप में पाती है। इसके विपरीत, यह मेरे प्रत्यय को एक नितान्त असन्दिग्ध तथ्य के रूप में तथा आत्म को विश्व–को–प्रस्तुति के रूप में पाती है।

इस प्रकार चिति (कोजिटो) का विश्वोन्मुखता के रूप में निरूपण करने के पश्चात् पोंटी फिनोमिनलोजी के केन्द्रीय सिद्धान्त स्थगन (रिडक्शन) का आशय स्पष्ट करते हैं। उनके अनुसार, विश्व के साथ हमारा सम्बन्ध इतना घनिष्ट तथा सहज है कि इसे देखने का एकमात्र उपाय इसे स्थगित करना है। हुस्सर्ल के एक सहयोगी यूजेन फिंक के शब्दों में, यह स्थगन "विश्व के सम्मुख विस्मय" है, यह विश्व से, उसके सम्यग्दर्शन के लिये, विलग होना है। विश्व का "एतत् अहं न" के रूप में, एक समस्या और अतिक्रान्तता के रूप में, केवल इसी से बोध संभव है। इस प्रकार फिनोमिन–लोजी के अनुसार, चित् (रीफ्लेक्शन) अपने को अचित् पर निर्भर पाता है जोकि इसका आदि, स्थायी तथा अन्तिम अधिष्ठान है। इस प्रकार फिनोमिनलोजिकीय स्थगन, पोंटी के अनुसार, प्रत्ययवादी (आइडियलिस्टिक)[8] दर्शन का सूत्र नहीं होकर अस्तित्ववादी दर्शन का सूत्र है।

किन्तु हुस्सर्ल के दर्शन में धर्मों (एस्सेंसिज़) का प्रत्यय भी सामन रूप से महत्व-पूर्ण है, जो प्रकटतः उसे प्लेटोवाद के निकट ला देता है। किन्तु हुस्सर्ल तथा अन्य फिनोमिनलोजीवादी दार्शनिक प्लेटोवाद के घोर विरोधी हैं। इसकी व्याख्या करते हुए पोंटी कहता है कि धर्मों का प्रत्यय हुस्सर्ल के दर्शन में अतिक्रामी स्थगन (ट्रांसेंडेंटल रिडक्शन) के प्रत्यय से निकटरूप से सम्बन्धित है। उसके अनुसार, स्थगन के लिये अतिक्रामी होना जितना आवश्यक है उतना ही धर्मात्मक–प्रत्ययात्मक (ईडैटिक) होना भी आवश्यक है। **अर्थात् जबतक हम विश्व से अपने वासनात्मक सम्बन्ध का विच्छेद नहीं करते तबतक उसका दार्शनिक विवेचन सम्भव नहीं है।** इस प्रकार तथ्यात्मक अस्तित्व वासनात्मक अस्तित्व है, यह हमें विश्व में आविष्ट रखता है,

---

८. यहां हमने 'आइडियलिज़्म' का हिन्दी पर्याय 'विज्ञानवाद' इसलिये नहीं दिया है क्योंकि यहां लेखक को आइडियलिज्म का केवल रैशनलिस्टिक रूप ही अभिप्रेत प्रतीत होता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसके विपरीत धर्मात्मक अस्तित्व इस आविष्टता की समाप्ति से ही सम्भव होता है। इस प्रकार धर्म विश्व के अभिज्ञान के साधन हैं, क्योंकि विश्व के तथ्यरूप से अधिगमन के लिए यह आवश्यक है कि वह प्रत्यय का माध्यम स्वीकार करे।

किन्तु यहां द्रष्टव्य है कि हुस्सर्ल के ये धर्म केवल सामान्यात्मक नहीं हैं। वियेनीय तार्किक प्रत्यक्षवादियों के विपरीत हुस्सर्ल आत्म अथवा चैतन्य को शब्दार्थ का फलन नहीं मानता, उनके विपरीत वह शब्दार्थ को **मूक (शब्द-प्राक्) अनुभव द्वारा अपने अर्थ की अभिव्यक्ति का व्यापार** मानता है। इस प्रकार हुस्सर्ल के धर्म अनुभव के साथ अपना सजीव सम्बन्ध बनाए रखते हैं। मूल चैतन्य (प्रीमोर्डियल कांश्यसनेस) की मूकता (निश्शब्दता) के अन्तर्गत न केवल शब्दों के अर्थ ही जन्मते हैं बल्कि वस्तुओं के अर्थों का भी उदय होता है। सार्थकता की इस मूल धुरी के चारों ओर ही नामकरण तथा अभिव्यक्ति के व्यापार संगठित होते हैं। इसी प्रकार, चेतना के धर्म को खोजना किसी अवस्तु-विश्व को साधना नहीं है, यह विश्व में अपनी समर्थ विद्यमानता को पुनः प्राप्त करना है। यह शब्दगत प्रत्यय को पाना नहीं है बल्कि यह सब निर्धारणों और व्याख्याओं के पूर्वग सत् को पाना है। इसीलिये यह विश्व को हमारी चेतना के पसारे के रूप में देखना नहीं है, बल्कि उसे उसके निरपेक्षरूप में ग्रहण करना है। क्योंकि विश्व का अन्तर्भाव चैतन्य की अवस्तुओं के रूप में करने में, और सत्य तथा स्वप्न में भेद किसी **कसौटी** के आधार पर करने में विश्व का निरसन हो जाता है।[९] किन्तु यदि "सत्" और "स्वप्नगत" की चर्चा सार्थक है, यदि सत् में सन्देह किया जा सकता है, तो इसका अर्थ है कि मेरे लिये ये भेद मेरे विचार से पूर्व विद्यमान हैं—सत् और मिथ्या का भेद मेरे अनुभव के मूल में स्थित है। प्रत्यक्ष के द्वारा हम विश्व-सत्य के अन्तर में स्थित होते हैं, प्रमाण "सत्य का अनुभव" है।

इस सन्दर्भ में फिनोमिनलोजी-दर्शन की विषयापेक्षा (इंटेंश्नेलिटी) की अवधारणा का विवेचन प्रासंगिक होगा। फिनोमिनलोजी की यह अवधारणा संभवतः सब से अधिक आधारभूत है। 'विषयापेक्षा' का आरंभिक अर्थ है:—"चैतन्य केवल विषय-चैतन्य है।" किन्तु इस रूप में इसमें कुछ भी नावीन्य नहीं है। कांट ने आन्तर प्रत्यक्ष को

---

९. पोंटी का यह प्रतिपादन हुस्सर्ल की अपेक्षा कहीं अधिक विश्वपरक है, जैसा कि हम आगे देखेंगे। यहां यह द्रष्टव्य है कि सांख्य के द्वैतवादी दार्शनिक अभिमत को इसके अनुसार समझना उपयोगी हो सकता है। यद्यपि पोंटी द्वैतवादी नहीं हैं, किन्तु सांख्य द्वारा वेदांत के विरुद्ध प्रधान को पुरुष के समान ही आदिम मानने के पीछे प्रेरणा को पोंटी की इस पदावली में समझना उपयोगी हो सकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बाह्य प्रत्यक्ष पर निर्भर बताया था और बाह्य प्रत्यक्ष के एकत्व को आन्तर एकत्व के अनुभव पर निर्भर कहा था। इसके विपरीत, हुस्सर्ल ने चैतन्य के लक्ष्योन्मुखी (टीलियोलोजीकल) स्वरूप-निरूपण के प्रसंग में निर्णयों के स्वरूप पर विचार किया है। इसका अर्थ यह नहीं है कि मानव-चैतन्य ऐसे पूर्ण प्रत्यय की प्रतिलिपि है जो अपने लक्ष्यों को इस पर आरोपित करता है। हुस्सर्ल चैतन्य को विश्वोन्मुख रूप में देखता है, जिस विश्व को यह चैतन्य आवेष्टित और आत्मसात् नहीं कर सकता। यह विश्व को विषयत्व से प्राक् ऐसे अनुद्भिन्न रूप में देखता है जो ज्ञान को उसका लक्ष्य देता है।

विषयापेक्षा की इस विस्तृततर धारणा के कारण फिनोमिनलोजिकीय "अवधारण" प्रतिष्ठित दर्शन की "तर्कणात्मकता" (रैश्नैलिटी) से मूलतः भिन्न है जो कि "सत्य एवं अपरिवर्त्तनीय" सत्ताओं (नेचर्स) तक सीमित है। "अवगमन" (अंडर्स्टैंड) का अर्थ है, प्रत्येक सत्ता को उसके निजी वैशिष्ट्य में ग्रहण करना—प्रत्यक्षगत वस्तु के गुणों का, ऐतिहासिक तथ्यों की धूल का, किसी सिद्धान्त द्वारा प्रस्तुत विचार का, उनके निजी वैशिष्ट्य में ग्रहण करना। विषयापेक्षा को उसकी समग्रता में ग्रहण करने का अर्थ है किसी अस्तित्व की अद्वितीय विधा का अवग्रहण करना, जो विधा अद्वितीयतः एक कंकड़ के गुणों में, एक क्रांति के सब तथ्यों में, तथा एक दार्शनिक के सब विचारों में व्यक्त होती है।

फिनोमिनलोजी की सब से महत्वपूर्ण देन उसके द्वारा आत्यन्तिक विषयिनिष्ठितावाद तथा आत्यन्तिक विषयनिष्ठतावाद को मिला देना है। यह दर्शन तर्कणा (रैश्नैलिटी) को उन अनुभवों की ठीक समव्यापी देखता है जिनमें यह अपने को व्यक्त करती है। 'तर्कणा है' का अर्थ है कि परिप्रेक्ष्य परस्पर परिव्याप्त होते हैं, प्रत्यक्ष परस्पर का समर्थन और प्रमाणीकरण करते हैं और इस प्रकार अर्थ प्रकट होते हैं। किन्तु इसे पृथक् अस्तित्व देकर निरपेक्ष आत्मतत्त्व, अथवा वास्तववादी (रीयलिस्टिक) अर्थ में विश्व, के रूप में स्थापित नहीं किया जा सकता। फिनोमिनलोजिकीय विश्व शुद्ध सत् नहीं है, बल्कि वह ऐसा अर्थ है जो मेरे अनुभवों के सम्मिलन विन्दु पर उत्पन्न होता है।........दार्शनिक चिन्तन पहली बार आत्मालोचन का वह स्तर प्राप्त कर सका है कि वह अपने निष्कर्षों को विश्वगत सत् अथवा विश्व के आधार सत् का स्तर नहीं दे। इसमें चिंतक पूर्व-प्रदत्त तर्कणा के साथ अपने को एकाकार नहीं देखता, वह अपने को तथा अपनी तर्कणा को सप्रयोजन स्थापित करता है, जिस प्रयोजन के विश्वगत सत् होने का कोई आश्वासन नहीं है किन्तु जिसकी साधारता उसकी प्रभावक शक्ति के द्वारा तथा हमें इतिहास-कर्त्ता बनाने के द्वारा असन्दिग्ध है। सम्यक् दार्शनिकता (जेनुइन फिलॉसफी) विश्व को देखने के लिये नये सिरे से शिक्षा पाना है, और इस दृष्टि से एक कहानी विश्व की सार्थकता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को उतनी ही गहराई से धारण कर सकती है जितनी गहराई से एक दार्शनिक ग्रंथ कर सकता है।

पूर्वमान्यता–रहित दर्शन का आदर्श

पूर्वमान्यताराहित्य, इस शब्द के एक साधारण अर्थ में, सभी दर्शनों का आदर्श रहा है, कम से कम ऐसा सब ने दावा किया है। किंतु इस शब्द का एक पारिभाषिक अर्थ भी है, जिस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग शायद डेकार्ट ने सब से पहले किया था। किन्तु इस पारिभाषिक अर्थ का पूरा महत्व सर्वप्रथम शायद हुस्सर्ल ने समझा और इसे अपने दार्शनिक अन्वेषण का एक मौलिक आदर्श बनाया। इस लेख में फार्बर ने फिनोमिनलोजी-दर्शन की इस महत्वपूर्ण दृष्टि का ही विवेचन किया है। किन्तु इस दृष्टि को व्यापकता तथा गहराई में हम तेवनाज़ के लेखों में देखेंगे जिनका सार हम इस लेख के बाद दे रहे हैं।

फार्बर के अनुसार, हुस्सर्ल ने सब प्रकार के अ–फिनोमिनलोजिकीय प्रयोजनों का प्रतिषेध किया है, वे चाहे प्राकृतिक विश्व से गृहीत हों अथवा अन्य किसी क्षेत्र से। सब प्रकार की पूर्वमान्यताओं (पूर्वाग्रहों) का प्रतिषेध सब प्रकार की तार्किक (आकारीय) एवं तथ्यात्मक मान्यताओं के प्रतिषेध की, स्थगन की, भी अपेक्षा करता है। इससे जिस प्रकार के चैतन्य की अवधारणा उपलब्ध होती है उसे न केवल शारीरिकता से पूर्णतः मुक्त होना चाहिये बल्कि उसे अनुभव एवं विचार के सब वास्तव एवं विकल्पात्मक (आइडियल) निर्धारणों से भी मुक्त होना चाहिये। इससे ऐसा प्रतीत होगा कि सब विचार का आधार अनिवार्यतः अहम्मात्रवाद (सोलिप्सिज़्म) ही हो सकता है। किन्तु यदि विकल्पवृत्ति (अंडर्स्टैंडिंग) के आत्यन्तिक आधार की खोज इस ओर उन्मुख करती है तब अहम्मात्रवाद का भी अतिक्रमण अनिवार्य हो जाता है, क्योंकि तब यह भी एक पूर्वाग्रह ही होगा।

पूर्वाग्रहराहित्य की अवधारणा के इतिहास का संक्षिप्त विवरण देते हुए फार्बर लिखते हैं—हुस्सर्ल ने इस शताब्दी के आरम्भ में ज्ञानमीमांसा के द्वारा तर्क–मीमांसा (लॉजिक) के विवेचन की आवश्यकता पर बल दिया था, जिसके परिणाम-स्वरूप उसे स्वयं ज्ञानमीमांसा के आधार का भी अन्वेषण करना पड़ा। जब हुस्सर्ल ने दार्शनिक चिन्तन आरम्भ किया तब पूर्वाग्रहराहित्य का यह अन्वेषण काफी महत्व प्राप्त कर चुका था। वोकेट (Vokelt) ने ज्ञान के प्रामाण्य के विवेचन के प्रसंग में देखा कि सब विज्ञानों में ज्ञान-प्रामाण्य पूर्वकल्पित रहता है, केवल ज्ञान-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मीमांसा ही इसका अपवाद है। अतः इसे मनोवैज्ञानिक, तार्किक एवं तत्वमीमांसात्मक पूर्वाग्रहों से रहित होना चाहिये। इस प्रकार के पूर्वाग्रह–रहित आधार की खोज में उसने अपने चैतन्य से आरम्भ किया और वह उसी में इस प्रकार अवगुंठित हो गया कि उसके लिए उससे बाहर कुछ भी जानना असम्भव हो गया।

वोकेट नें गणित, तर्क तथा विज्ञान के स्वतन्त्र प्रामाण्य को अस्वीकार किया और इस प्रकार ज्ञान तथा विश्वास के आधार मात्र की मूलगामी आलोचना का आदर्श रखा। कांट तथा अन्य बहुत से दार्शनिकों ने अतिक्रान्तता की पूर्वकल्पना (प्रीसप्पोज़ीशन आफ ट्रांसेंडेंस) कर विज्ञान के "अतिक्रामी" आधारों की खोज की थी, इसके विपरीत वोकेट ने ज्ञानमीमांसा को "ज्ञान की सम्भावना की आलोचना" का विज्ञान प्रतिपादित कर इसे पूर्णतः पूर्वाग्रह-रहित बनाने का प्रयत्न किया। इस प्रसंग में रेंके (Rehmke) तथा शुप्पे (Schuppe) का उल्लेख भी समीचीन होगा। शुप्पे ने पूर्वमान्यताराहित्य को इस प्रकार परिभाषित किया है— "जिसमें केवल ये ही पूर्वकल्पनाएं हैं—चेतन सत्त्व (कांश्यस बींग), ज्ञानमीमांसक का सन्देह, सत्यासत्य की अवधारणा, तथा विचार की वांछित क्रिया। रेंके ने पूर्व–मान्यता तथा पूर्वनिर्णयात्मकता में भेद किया और कहा कि पूर्वमान्यता–रहित विज्ञान असम्भव है। उसके अनुसार, आधारभूत विज्ञान वह है जो "केवल प्रदत्तता" को स्वीकार करता है।

इस प्रकार दर्शन को "आधारभूत विज्ञान" के रूप में विकसित करने के प्रयत्न हुस्सर्ल के पूर्व भी हुए, किन्तु सामान्य लक्ष्य के रूप में इसकी कल्पना तथा इसे प्राप्त करने के लिए एक निश्चित विधि के विकास के बीच बहुत बड़ा अन्तर है, और हुस्सर्ल की विशेषता इसकी निश्चित विधि का विकास करने में ही है।

इसके पश्चात् तर्क-व्यवस्था के आधारों (फाउंडेशंस्) का फिनोमिनलोजिकीय विवेचन करते हुए फार्बर कहते हैं—निगमन का आदर्श समग्र ज्ञान की एक समंजस व्यवस्था का निर्माण करना है, दूसरे शब्दों में, एक आधार की रचना करना है। किन्तु तर्कशास्त्र के आधारभूत सिद्धान्तों का निर्धारण आकारी तर्क (फार्मल रीज़निंग) की चक्रिकता से ही संभव हो सकता है, क्योंकि एक समग्र व्यवस्था में सब पदों को परिभाषित नहीं किया जा सकता—या तो कुछ पदों को स्वतःसिद्ध स्वीकार करना पड़ता है अथवा उन्हें परस्परतः परिभाषित करना पड़ता है। चक्रिकता की इस समस्या का सम्बन्ध मनुष्य की सामर्थ्य की सीमितता से नहीं है, इसका सम्बन्ध तर्कशास्त्र के सिद्धान्तों के आधार सें है। सब तर्कणाएं (रीज़निंग), तर्कशास्त्र सहित, कुछ प्रतिज्ञाओं को पूर्वमान्य कर अग्रसर होती हैं। तर्कशास्त्र के किन्हीं भी सिद्धान्तों का प्रामाण्य प्रदर्शित करने के लिये कुछ पूर्वप्रतिज्ञाओं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को स्वीकार कर चलना अनिवार्य होता है। इस प्रकार तर्कणा का स्वरूप ही सन्दिग्ध हो जाता है।

आकारी तर्क का लक्ष्य विशुद्ध रूप से आकारी संरचनाओं (फार्मल स्ट्रक्चर्स) का ही व्यवहार करना है। किन्तु निगमन में संज्ञान (कोग्नीटिव) वृत्ति का भी समावेश रहता है, कम से कम संभाव्य रूप में, **जैसे मानो** ये क्रियाएं घटित हुई हों। यह क्रमशः स्पष्ट होता जा रहा है कि तर्क (लोजिक) को अर्थ तथा सत् की अवधारणा के विश्लेषण की पूर्वापेक्षा है। विषय का निर्देश ऐसी समस्याएं उत्पन्न करता है जिसके लिये अर्थ एवं प्रतीकों का विश्लेषण आवश्यक हो जाता है। निगमन के सन्दर्भ में पूर्वमान्यता-रहित दर्शन के लिये आधारभूत समस्या यह है कि वह ज्ञान के आधारों एवं प्रक्रियाओं की इस प्रकार परीक्षा करे कि मूलगामी अवधारणाएं एवं सिद्धान्त तर्क-क्रिया के पूर्वगामी के रूप में प्रकाश में आ जांय। संक्षेप में, तर्कशास्त्र की कुछ पूर्वमान्यताएं हैं जो इसके संज्ञानात्मक (कोग्नीटिव) पक्ष से सम्बन्धित हैं, जो इसे अर्थ के तत्त्व एवं कसौटी से मंडित करती हैं और इस प्रकार जो इसकी विषयवस्तु बनती हैं तथा इसे विषय–जगत् से सम्बन्धित करती हैं।

फिनोमिनलोजिकीय विकल्प–वृत्ति (अंडर्स्टेंडिंग) विश्लेषण, और अतएव आकारी तर्कणा (रीज़निंग), के उच्चतर स्तर पर प्रयुक्त सभी प्रत्ययों एवं अवधारणाओं का उद्गम उस अनुभव में खोजती है जो निर्णय-वृत्ति से पूर्वगामी हैं। विवेचन की इस विधि को जननिक (जेनेटिक) विधि की संज्ञा दी गयी है। किन्तु यह संज्ञा किसी तथ्यात्मक, प्रयोगात्मक (एम्पीरिकल) अथवा इतिहासात्मक अर्थ में नहीं दी गयी है बल्कि इस अर्थ में दी गयी है कि सब प्रत्यय (आइडियाज़) अथवा सिद्धान्त अपने "मौलिक" प्रमाणों के प्रति विषयापेक्षात्मक (इंटेंशनल) रूप से अनुयुक्त होते हैं।

हुस्सर्ल के लिये "लोजिक" का अर्थ इसके पारंपरिक अर्थ से बहुत व्यापक है, वह इसे अनुभव के सभी स्तरों पर सक्रिय देखता है। तर्काभिकेन्द्रिक (लोगोसेंट्रिक) दुविधा तर्क की इसी व्यापकता से घटित होती है। इसका निरास केवल ऐसे स्थगन से ही संभव हो सकता है जिसके द्वारा आकारिक संरचनाओं तथा इनकी विषयपरक (अनुभवमूलक) विवेचनाओं के बीच, तथा इन दोनों एवं उन वस्तुस्थितियों के बीच जो प्रतीकों एवं विवेचनाओं को सार्थक एवं प्रामाणिक बनाती हैं, स्पष्ट विच्छेद अनिवार्य हो जाता है। किन्तु आकारीय (फोर्मल) विच्छेद से, जिसमें सब ठोस, संवेद्य अर्थों से निष्क्रमण घटित होता है, ज्ञानमीमांसीय विच्छेद अधिक मूलगामी एवं व्यापक है, क्योंकि यह सब तार्किक, मनोवैज्ञानिक तथा सत्तामीमांसात्मक सिद्धान्तों से निष्क्रमण घटित करता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुस्सर्ल के लिये पूर्वमान्यताराहित्य का अर्थ था ऐसे सब प्रतिपादनों का वर्णन जिनका समर्थन फिनोमिनलोजिकीय रूप से—अर्थात् विशुद्धतः अव्यवहित अनुभव की पदावली में—संभव नहीं हो सकता। यद्यपि विचार-वृत्ति अज्ञेय, अस्तित्व-रहित तथा असंभव विषयों की ओर भी **उचित रूप से** निर्दिष्ट हो सकती है किन्तु ऐसी निर्दिष्टताओं का अर्थ केवल अनुभव के आधार पर ही ग्रहण हो सकता है। ऐसी 'मानस' अथवा 'भौतिक' सत्ताओं की कल्पना जो चेतनातिक्रामी हैं, ज्ञान के सम्यक् सिद्धान्त के लिये उपयुक्त नहीं है। यह सही है कि ज्ञानमीमांसा विचार के विकल्पात्मक (आइडियल) स्वभाव तथा अर्थ की सामान्यात्मक व्याख्या की दृष्टि से ऐसे वास्तव (स्वतन्त्र) विषयों के ज्ञान की संभावना के प्रश्न पर भी विचार करती है जो उन अनुभवों से अतीत हैं जिनके द्वारा वे जाने जाते हैं, किन्तु इसका सम्बन्ध इस तथ्यात्मक प्रश्न से नहीं है कि मनुष्य वास्तव में ऐसा ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ है अथवा नहीं।

हुस्सर्ल के अनुसार, दर्शन का कार्य "मूलगामी विश्लेषण" है। इस पद से उसका अभिप्राय था विज्ञानों तथा लोकसंज्ञानमूलक दर्शनों द्वारा वास्तवता, सत् अथवा अस्तित्व की सहज स्वीकृत धारणाओं का अतिक्रमण करना एवं चैतन्य के उस मूल का विवरण देना जो सब वैषयिकता, सत्ता अथवा अस्तिता का विधायक है। परिणामतः फिनोमिनलोजी वस्तु की सत्ता अथवा अस्तिता का निषेध नहीं करती, उसके लिये यह प्रश्न ही अप्रासंगिक है। यह अभिवृत्ति (रवैया) वस्तु-सत् का आक्षेप किये बिना शुद्ध धर्म-मूलक संज्ञा (इन्ट्यूशन आफ प्योर एस्सेंसिज़) के द्वारा संभव होती है। धर्म उतने ही अव्यवहित रूप से "देखे" जा सकते हैं जितने अव्यवहित रूप से स्वर सुना जा सकता है। हुस्सर्ल ने फिनोमिनलोजी को विशुद्ध धर्मों के विज्ञान के रूप में परिभाषित किया था। क्रियाविधि (मैथोडोलोजी) की आत्यंतिक मूलगामिता के लिये यह आवश्यक है कि किसी प्रकार की "प्रागप्रदत्तता" को स्वीकार नहीं किया जाय; आरम्भ करने के लिये कुछ भी प्रदत्त स्वीकार नहीं किया जाय। यदि दर्शन को वास्तव आरम्भों अथवा मूल स्रोतों के विज्ञान के रूप में परिभाषित करना है तो इसे अपनी क्रियाविधि में सर्वथा मूलगामी होना होगा। संक्षेप में, **दर्शन की विधि अव्यवहित संज्ञान (इंट्यूशन) की विधि है।** धर्मों का फिनोमिनलोजिकीय अधिगमन (ग्रास्पिग) किसी भी प्रकार के परोक्ष प्रतीकों के माध्यम के बिना घटित होता है, न इसे अनुमान एवं प्रमाणों की अपेक्षा ही रहती है।

तब क्या फिनोमिनलोजी की कोई पूर्वमान्यताएं हैं? इस प्रश्न पर विचार के सन्दर्भ में फार्बर लिखते हैं—हुस्सर्ल के अनुसार "अनुभव-प्रवाह अनादि और अनन्त है।" (आइडियाज़, पृ. २३६) यही बात चेतना के लिये भी कही जा सकती है। किंतु व्यक्तियों की चेतनाएं अथवा अनुभव तो सादि और सान्त होते हैं। तब हुस्सर्ल का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभिप्राय किस चेतना अथवा अनुभव से है ? स्पष्टतः यह एक सार्वभौम अनुभव-सन्तान होने चाहिये और इसका फिनोमिनलोजिकीय स्वरूप स्थिर होना चाहिये । हुस्सर्ल के दार्शनिक विधि विषयक विभिन्न परामर्शों को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह पूर्वस्वीकृत तत्वों (एलीमेंट्स) एवं रचनाओं (कंस्ट्रक्शंस्) के उपयोग को स्वीकार नहीं करता । वास्तव में ऐसे तत्वों एवं रचनाओं के लिये उस दर्शन में कोई स्थान हो भी नहीं सकता जिसे चरम आधारभूत विज्ञान के रूप में कल्पित किया जा रहा है । इसके लिये अपेक्षित मूलगामी चिन्तन ज्ञान की ऐसी मूलभूत पूर्वमान्यताओं की व्यवस्थित परीक्षा करता है जिनके आगे जाना संभव नहीं है । अन्तरोन्मुख (रीफ्लेक्सिव) परीक्षा सर्वप्रथम ऐसे "सार्वभौम आत्मसत्व (विषयि-सत्व) एवं जीवन" की ओर संकेत करती है जो सब प्रकार के सिद्धान्तीकरण में विज्ञान के पूर्वग के रूप में कल्पित किया जाता है, और तब यह "अतिक्रामी विषयिता" (ट्रांसेंडेंटल सब्जेक्टिविटी) की ओर उन्मुख होती है, जोकि सब अर्थाधान एवं सत्त्व (बींग) के प्रामाण्य का मूल है ।

इस प्रकार फार्बर के अनुसार दर्शन का आदर्श पूर्णमान्यताराहित्य मानने का यह अर्थ नहीं है कि दर्शन सभी प्रकार की पूर्वमान्यताओं का निषेध करता है । दर्शन अपने लिए जिस निरपेक्ष आधार को प्राप्त करने में सफल होता है उसे हुस्सर्ल ने ऐसी पूर्वमान्यताओं की समग्रता कहा है जिन्हें स्वतःप्रमाण अथवा स्वप्रकाश कहा जा सकता है । (आइडियाज़, पृ. २८) फिनोमिनलोजी पर अपने एक लेख में हुस्सर्ल ने यह अधिक स्पष्ट रूप से कहा है जहां उसने लिखा है कि अतिक्रान्तता की समस्या का सुलझाव अस्तिता के ऐसे स्तर से सम्भव होता है जिसे यह पूर्वकल्पित करता है और जिसे यह अपने अन्वेषण की पहुंच से अतीत रूप में स्थापित करता है । इसे वह चैतन्य मात्र की विशुद्ध विषयिता—द्रष्टृत्व—(प्योर सब्जेक्टिविटी) का आयाम कह कर परिभाषित करता है । उसने सब कुछ का स्रोत इसी अतिक्रामी मूल में देखा और विषयात्मक सत्ता को सापेक्ष सत्ता माना । इससे उसके दर्शन का अध्यात्मवादी झुकाव स्पष्ट है । किन्तु फार्बर के अनुसार हुस्सर्ल विज्ञानवादी नहीं है, क्योंकि वह इस दर्शन की पूर्वमान्यता को, कि "आत्मतत्व की सत्ता है," अथवा "केवल आत्मतत्व की सत्ता है," स्वीकार नहीं करता । न वह भौतिकवादी अथवा वास्तवतावादी (रीयलिस्ट) ही है, क्योंकि वह भौतिक अस्तित्व, अथवा भौतिक-मानसिक अस्तित्व की पूर्वमान्यता को भी स्वीकार नहीं करता है । परिणामतः वह वैज्ञानिक सिद्धान्तों की स्वतन्त्र सत्यता को भी स्वीकार नहीं करता । इसी प्रकार, उसके लिये अपना तथा अन्य का अस्तित्व भी केवल पूर्वाग्रह और अतएव दार्शनिक आलोचना द्वारा खण्डनीय विषय ही हैं । "विश्व" उसके लिये अवश्य ही "पूर्वप्रदत्त" है, किन्तु पूर्व प्रदत्तता का यह क्षेत्र, जिसका स्वीकार उसे विषयिनिष्ठ विज्ञानवाद (सब्जेक्टिव

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

20·02
प २ ५
(२८७६)
66162
113446
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आइडियलिज़्म) से पृथक् करता है, रचनात्मक विधि[10] (कांस्टीट्यूटिव मैथड) के सन्दर्भ में कोई स्थान नहीं पाता। इसका केवल संकेत के रूप में, उस दिशा-निर्देश के रूप में, उपयोग किया जाता है जिसमें चैतन्य अपने स्वरूप को क्रियान्वित करता है। यही बात पारम्परिक तर्क के लिए भी कही जा सकती है। ये (विश्व तथा तर्क) केवल साधनभूत पूर्वमान्यताएं हैं।

इस दर्शन में अनुभव तथा निर्णय (जजमेंट) के स्वरूप पर विचार करते हुए फार्बर कहते हैं—हुस्सर्ल के मत में विश्व का सत्त्व (बींग) निर्णय के माध्यम से ग्रहण नहीं होता, बल्कि निर्णय विश्व को पूर्वापेक्षित करते हैं। इस प्रकार हमें प्रभावित करता हुआ सम्पूर्ण अस्तित्व विश्व में अधिष्ठित है। किन्तु उसके अनुसार यह पूर्वापेक्षा अतिक्रामी फिनोमिनलोजी के मूलगामी विवेचन में एक नया अर्थ ग्रहण करती है। फिनोमिनलोजी इस स्थिर आक्षिप्त (पोज़िटिड) सत्त्व पर भी विच्छेद-क्रिया (इपोखे) घटित करती है और इस प्रकार पूर्वप्रदत्त विश्व अन्ततः अतिक्रामी आत्म द्वारा रचित रूप में देखा जाता है।

डेकार्ट तथा हुस्सर्ल में मूलगामी आरम्भों का लक्ष्य-भेद

इस लेख में तेवनाज़ ने दर्शन के स्वरूप पर विचार किया है और इस संदर्भ में डेकार्ट तथा हुस्सर्ल के दर्शनों की मूल प्रेरणाओं का विशद एवं अत्यधिक सूझपूर्ण विवेचन किया है। तेवनाज़ हुस्सर्ल की विषयोन्मुखता के विपरीत डेकार्ट की अन्तरोन्मुखता का समर्थक है। इस प्रकार, एक अर्थ में, वह फिनोमिनलोजीवादी नहीं है। किन्तु उसकी विधि मूलतः फिनोमिनलोजिकीय है। इसलिए उसे इस दर्शन की मूल अवधारणा का विस्तारक भी कहा जा सकता है। हुस्सर्ल के दर्शन में वास्तव में द्विमुखीनता परिलक्षित होती है—वह विषय से पराङ्मुखता को सम्यक् विषयोन्मुखता के लिए स्वीकार करता है। किन्तु उसमें विषय-पराङ्मुखता की प्रेरणा इतनी बलवती है कि बहुत बार उसे विज्ञानवादी कहा गया है। तेवनाज़ में यह अन्तरोन्मुखीनता और अधिक प्राथमिकता ग्रहण कर लेती है। इसके विपरीत पोंटी में विषयोन्मुखी प्रेरणा की प्राथमिकता दृष्टिगत होती है। किन्तु ये दोनों समानरूप से फिनोमिनलोजीवादी दार्शनिक हैं। (यहां यह अवान्तर टिप्पणी अस्थाने नहीं होगी कि तेवनाज़ ने

---

१०. जो विधि विषय की आन्तर रचना को, उस वृत्ति को जो विषय की रचना करती है, उद्घाटित करती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डेकार्टीय दर्शन की मूल प्रेरणा का जो निरूपण किया है वह अत्यंत उपयुक्त और सूझपूर्ण है, विशेषतः हमारे लिए जिन्होंने डेकार्ट को आंग्ल-अमेरिकी टीकाकारों के माध्यम से देखा है।

तेवनाज़ ने दर्शन के स्वरूप के विवेचन से अपना लेख आरम्भ किया है। उसके अनुसार दर्शन की परिभाषा "प्रथम—आदिम—के अन्वेषण का प्रयत्न" यह की जा सकती है। किन्तु 'आदिम' का दुहरा अर्थ है और यह दुहरापन आरम्भ से ही दर्शन के लिए एक दुहरा परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत करता है। यह आदिम—प्रथम—या तो अकालिक मूलकरण (प्रोटन) होता है जिसकी आदिमता सदात्मक (ओंटोलोजी-कल) अथवा तार्किक होती है अथवा यह कालात्मक मूलकरण होता है जिसकी आदिमता काल-क्रमात्मक (ऐतिहासिक) होती है—यह एक आरम्भ होता है। इस प्रकार दर्शन या तो सिद्धान्तों का विज्ञान है अथवा आरम्भ—अथ—का विज्ञान। प्रथम अर्थ में यह सिद्धान्त दर्शन की मूल में—आधार में—स्थापना है, यह प्रामाण्य (विनिश्चय—सर्टिट्यूड) और समाधान है। इस आदिम का आख्यान दार्शनिक पूर्णता का आख्यान है, इस आख्यान के बाद कुछ शेष नहीं रह जाता, केवल निगमित करने अथवा व्याख्या करने की आवश्यकता शेष रह जाती है।

इस अर्थ में "आदिम" एक खुला प्रश्न रहता है, यह सत्य के मूल में प्रति-ष्ठित होने के लिए आकुल दार्शनिक की विह्वलता का पर्याय होता है, यह प्रवेश-द्वार से च्युत नहीं हो जाने की उत्कण्ठा है। इसका अर्थ है कि हम सत्य के स्तर पर नहीं होते और परिणामतः प्रवेश तथा पथ की समस्या प्रस्तुत होती है। और क्योंकि आरम्भ करना, और सही आरम्भ करना, आवश्यक है इसलिए आरम्भ एक समस्या हो जाता है। इस प्रकार आरम्भ—अथ—का दार्शनिक प्रश्न स्वयं दार्शनिक प्रश्न का ही आरम्भ होता है। किन्तु यदि आरम्भ-बिन्दु ही एक समस्या है तब क्या हमारी नियति ही यह नहीं है कि हम कभी आरम्भ कर ही नहीं सकते ? अथवा, क्या हम यह स्वीकार करने को बाध्य नहीं हैं कि यह प्रश्न करना पहले से ही पथ पर चल रहे होना है और हमारा प्रश्न अर्थहीन है ?—कि इसका निर्णय पहले से ही हो चुका है ? किन्तु तब इसका अर्थ हुआ कि कोई आरम्भ सम्भव ही नहीं है।

किन्तु वास्तव में यह प्रश्न न तिरोहित होता है और न इसका समाधान होता है, दार्शनिक के लिए परिभाषया कोई आरम्भ-बिन्दु नहीं होता—वह या तो आरम्भ ही नहीं कर सकता अथवा वह पहले से ही आरम्भ कर चुका होता है। इस प्रकार आरम्भ एक समस्या—एक असमाधेय अथवा निर्मूल समस्या—नहीं, बल्कि एक मूलगामी दार्शनिक समस्या है। समस्यात्मक आरम्भ की इस स्थिति का बोध दर्शन का अपने आपको एक मूलगामी समस्या के रूप में प्रस्तुत होना है। इसका

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कार्य तब केवल सत् का आदि नियम खोजना नहीं है बल्कि स्वयं अपने प्रयत्न के आधार की खोज करना भी है। यह अनिवार्यतः मूलगामी आंतरबोध (रीफ्लेक्शन) है, अथवा कहें, आत्मोन्मुखता की मूल प्रतिष्ठा पर मनन है।

आरम्भ की समस्या, कालक्रम में प्रथम रहने पर भी, केवल विधि की समस्या नहीं है। वास्तव में आरम्भ की कालक्रमात्मक प्रथमता एवं नियम की सदात्मक (ओंटोलोजीकल) प्रथमता संयुक्त रूप से एक एवं अभिन्न प्रश्न को जन्म देती हैं। यह इतना अधिक सही है कि यह कहना असम्भव होगा कि मूल नियम आन्तरबोध की प्रथम क्रिया को जन्म देता है याकि आन्तरबोध की प्रथम क्रिया नियम की सर्जक होती है--विधि सत्ता की ओर निर्दिष्ट करती है अथवा सत्ता विधि की प्रतिष्ठापक होती है ?

आरम्भ की मूलगामिता केवल इस बात में नहीं है कि जो द्वन्द्वात्मक आरम्भ (डायलेक्टिकल बिगिनिंग) निरपेक्ष को उद्घाटित करता है वही उसका सर्जक भी होता है, अथवा, ऐसा कोई निष्कर्ष नहीं है जो अपने अन्वेषण के प्रयत्न से स्वतन्त्र हो। हमने अपनेआपको निष्कर्ष के स्तर पर ही स्थापित नहीं किया है, बल्कि प्रयत्न के प्रथम चरण पर भी स्थापित किया है, और यही निरपेक्ष सत् तथा स्वतःप्रामाण्य का उद्गमस्थल है। आरम्भ का प्रश्न दर्शन के प्रश्न की मूल प्रतिष्ठा (रैडीकलाइज़ेशन) के द्वारा, और वास्तव में मनुष्य की समस्या की मूल प्रतिष्ठा के द्वारा भी, अभिव्यक्ति पाता है। यह स्पष्ट है कि मूलगामी नवारम्भ-बिन्दु की अवधारणा केवल आन्तरबोधात्मक दर्शन में ही सम्भव है, अर्थात् ऐसे दर्शन में जिसमें स्वयं मनुष्य तथा उसका विषयी (द्रष्टा) होना दर्शन के लिए जिज्ञास्य होते हैं। यदि मनुष्य ही मूलगामी प्रश्न का विषय बना दिया जाता है, यदि वह अपने स्वरूप पर मौलिक रूप से मनन करता है, तब उसके लिए अनिवार्य होगा कि वह अपना अवगमन एक निरपेक्ष एवं प्रथम क्रिया द्वारा, एक क्रिया-नियम (एक्ट-प्रिंसिपल) द्वारा, करे।

सब प्रकार की दार्शनिक मूलगामिता मनुष्य के संकल्प एवं उत्तरदायित्व को निरपेक्ष-सिद्धांत तथा स्वतः-आलोकित प्रामाण्य के मूल में स्थापित कर देती है, क्योंकि संकल्प ही आरम्भ का संकल्प कर सकता है और आन्तरबोध को अनवरत रूप से उसकी अपनी ओर निर्वत्तित कर सकता है। प्रकृति हमें मूलारम्भ से दूर दिशा में ले जाती है और अपने सद्भाव (बींग) में स्थिर रखती है। यह आरम्भ केवल प्रयत्नपूर्वक ही सम्भव है। **जागना सदैव उन्मूलन करना है,** यह परित्याग एवं विच्छेद के लिए प्रयत्नशीलता है। जो दर्शन-व्यापार को मौलिक रूप से सम्पादित करना चाहता है और सच्चा आरम्भकर्त्ता होना चाहता है उसे प्रथम चरण ही के लिए कीमत चुकानी पड़ती है और उसी का उसके लिए महत्व होता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूलगामी दार्शनिक व्यापार के अनेक रूप हो सकते हैं—प्रोटागोरस, सुकरात, सन्देहवादी अथवा डेकार्ट, फिख़्ते अथवा हेगल, कीर्केगार्ट, नीत्शे एवं बर्गसां, अनेकों ने अपने अपने ढंग से मूलगामी रूप से यह किया है। किन्तु यहां हम केवल डेकार्ट एवं हुस्सर्ल के मूलगामितावाद (रैडीकलिज़्म) पर विचार करेंगे। हुस्सर्ल ने ज्ञानपूर्वक अपने को डेकार्ट की परम्परा में रखा और कहा कि फिनोमिनलोजी डेकार्ट के मूल-गामितावाद को ही आगे बढ़ाती है। तेवनाज़ ने इन दो मूलगामितावादो को एक-दूसरे के माध्यम से समझने का प्रयत्न किया है तथा हुस्सर्ल द्वारा डेकार्ट की इस आलोचना की परीक्षा की है कि डेकार्ट ने अपनी ही खोज (अतिक्रामी विषयितावाद) का आशय ठीक से नहीं समझा था।

मूलगामितावाद का आशय स्पष्ट करते हुए तेवनाज़ कहते हैं: डेकार्ट तथा हुस्सर्ल दोनों दर्शन का कार्य सम्यग्विज्ञान (ट्रू साइंस) के मूलगामी एवं असंदिग्ध आधार की खोज करना मानते थे; किन्तु दोनों के प्रयोजन बहुत भिन्न थे। डेकार्ट के समय विज्ञान तथा दर्शन की स्थिति सन्दिग्ध थी और परिणामतः उसने नये सिरे से आरम्भ करना चाहा। वह असन्दिग्ध प्रामाण्य के आधार की खोज करना चाहता था जिस पर भावी विज्ञान की प्रतिष्ठा की जा सकती। उसका मूलगामितावाद पृष्ठोन्मुखी था, उसने **प्रथम** के इस ओर से आरम्भ किया।

इसके विपरीत, हुस्सर्ल के समय विज्ञान की स्थिति सन्दिग्ध नहीं थी; वह पूर्ण तथा सुरक्षित था, उसके निष्कर्ष असन्दिग्ध तथा परिणाम अत्यन्त प्रभावशाली थे। अतः उसके लिये प्रश्न विज्ञान के आधार तथा अर्थ का था। ऐसे विज्ञान के, जिसका अभी आविर्भाव होना है, आधारों की खोज स्वभावतः तत्त्वमीमांसा की ओर प्रेरित करती है; किन्तु पहले से पूर्ण विज्ञान के आधारों की खोज, विशेषतः ऐसे पूर्ण विज्ञान की जिसका विकास तत्त्वमीमांसा के विरोध में हुआ है, सर्वथा दूसरी बात है। ऐसी स्थिति में तर्क एवं ज्ञानमीमांसा के क्षेत्रों में अनुसन्धान के लिये तत्त्वमीमांसा की उपेक्षा स्वाभाविक हो जाती है, यदि विरोधी अभिवृत्ति नहीं भी हो तो। और ऐसी अवस्था में यदि कोई सापेक्षतावाद अथवा ऐन्द्रियानुभववाद की उथली स्थिति स्वीकार नहीं करना चाहता है तो उसके लिये कांट एवं हुस्सर्ल के समान अतिक्रान्ततावाद का आश्रय लेना आवश्यक हो जाता है।

डेकार्ट तथा हुस्सर्ल के मूलगामितावाद (रैडीकलिज़्म) में इस दृष्टि से समानता है कि दोनों स्पष्ट तथा सहज को अस्वीकार करते हैं। इस अस्वीकार को हुस्सर्ल इपोख़े (विच्छेद) की संज्ञा देते हैं। किन्तु इस अस्वीकार का प्रयोजन दोनों में पर्याप्त भिन्न है। डेकार्ट प्राविधिक सन्देह के द्वारा सन्दिग्ध एवं अपरीक्षित का निरास कर देते हैं। विज्ञान की अनिश्चित स्थिति में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह अस्वाभाविक था। किन्तु हुस्सर्ल इसका निरास—प्रतिषेध—नहीं करता, वह इसका स्थगन करता है, क्योंकि विषय का सही स्वरूप समझने के लिये उसका दृष्टि से पार्थक्य घटित करना आवश्यक है। स्थगन यही प्रयोजन सिद्ध करता है। यह स्थगन धर्मों एवं आधारों से साक्षात् देता है। किन्तु ये आधार वास्तव के आधार हैं। **फिनोमिनलोजिकीय स्थगन परिप्रेक्ष्य से साक्षात् तथा विषयापेक्षावृत्ति (इंटेंश्नेलिटी) के परिवर्त्तन की ही दूसरी संज्ञा है, यह प्रदत्त-दृश्य के अर्थ की परिपृच्छा है। इस प्रकार स्थगन आरम्भ से ही अतिक्रामी संरचना को जानने का प्रयत्न है।**

इस प्रकार हुस्सर्ल में भी सहज स्पष्ट से आत्म की ओर, असत्य प्रमाण से ज्ञातृत्त्वाभिमान (इगो) की ओर, संक्रमण की प्रक्रिया दृष्टिगत होती है। किन्तु इस प्रकार अनुरूपता के बावजूद दोनों के मूलानुगामी अनुभवों में आधारभूत अन्तर है। डेकार्ट में दैत्य का पूर्ण रूप से तत्त्वमीमांसीय (मैटाफिज़ीकल) अनुभव है और हुस्सर्ल में अतिक्रामी स्थगन का अनुभव है।

दैत्य के हस्तक्षेप की इस विशुद्ध तत्वमीमांसीय कल्पना ने डेकार्ट के लिये न केवल लोकसाधारण विश्व में सन्देह सम्भव किया बल्कि तार्किक निर्णयों में भी सन्देह संभव किया। लोकसाधारण विश्व में सन्देह के लिये स्वप्न ही पर्याप्त था, किन्तु "२+३=५" की प्रामाणिकता का इस सन्देह से निरास संभव नहीं था। किन्तु दैत्य का हस्तक्षेप इस प्रामाण्य को भी सन्दिग्ध बना सकता है—कौन जानता है कि मेरे से अधिक शक्तिशाली कोई मेरे लिये सदैव २ और ३ के योग को ५ के बराबर घटित कर रहा हो? इस प्रकार डेकार्ट के लिये पूर्ण मूलगामिता संभव हो सकी, इस दैत्य ने डेकार्ट को पूर्णतः सन्देहातीत के समक्ष प्रस्तुत कर दिया—यदि दैत्य मुझे भ्रमित कर रहा है तो मेरा होना सिद्ध है। अन्य प्रामाण्यों के विपरीत यह प्रामाण्य इसलिये मूलगामी है क्योंकि यह "मैं हूं" कहने वाले ज्ञातृत्त्वाभिमान से सब इतरताओं—अन्यत्वों—का निरास कर देता है, क्योंकि यह उस भ्रांति की संभावना को समाप्त कर देता है जो "कल्पना करता हूं" तथा "मैं हूं" में भेद कर मुझे मेरे से पृथक् कर सकती है

हूस्सर्लीय स्थगन एक सर्वथा भिन्न प्रश्न का उत्तर है। यह विश्व में (जिस प्रामाणिकता भ्रमात्मक नहीं है) लोक-विश्वास को निष्प्रभाव करके अतिक्रामी आन्तरबोध-वृत्ति (ट्रांसेडेंटल रीफ्लेक्सिव मोड) में स्थित होना है। यह विश्व से, उसका अर्थ ग्रहण करने के लिये, पृथक् होना है। इस प्रकार यह स्थगन हमें विश्व के साथ एक भिन्न, किन्तु अधिक गम्भीर, विधा में संयुक्त करता है। स्थगन के द्वारा आत्म का विश्व से बाहर ग्रहण हमें विश्व का अधिक विविक्त ज्ञान देता है। इस प्रकार यह संवेद्य के अपवारण द्वारा ज्ञातृत्त्वाभिमान की उपलब्धि नहीं है, यह ज्ञातृत्त्वाभिमान (इगो) का, तथा विश्व के साथ इसके सम्बन्ध का, रूपान्तरण है, यह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषयापेक्षा–वृत्ति (इंटेंश्नेलिटी) का परिवर्त्तन है। अतिक्रामी विषयापेक्षा–वृत्ति (विषय चैतन्य) का अभिप्राय विश्वाभिमुखता है। इस (हुस्सर्लीय) स्थगन के द्वारा चैतन्य अपने को विश्व में खोने से बचाकर विषय के स्रोत के रूप में ग्रहण करता है और इस प्रकार विषय को—विश्व को—पुनः अर्थमय प्रतिष्ठा देता है। **इसके विपरीत, डेकार्ट में विश्वाभिमुखता चैतन्य की अविवेक की स्थिति है** जिसका निरास चैतन्य की अपने में प्रतिष्ठा द्वारा होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि **डेकार्ट के लिए मूलगामी आरम्भ-बिन्दु आत्मस्थ एवं आत्मोन्मुख चैतन्य के केन्द्र में स्थित है जबकि हुस्सर्ल के लिए इसकी स्थिति बहिर्मुख विषय–चैतन्य के अन्तिम निवर्त्तन-बिन्दु पर है।** डेकार्ट के लिए एक प्रत्यक्ष केवल अपने विषय की चेतना ही नहीं है बल्कि साथ ही यह अपनी चेतना भी है। इस आत्मचेतना में ही ज्ञातृत्त्वाभिमान का अपने साथ सहभाव –सहावस्थान– घटित होता है। यद्यपि यह सहावस्थान सदैव विद्यमान रहता है किन्तु विषय पर केन्द्रित होने के लिए यह अवधान (अटेंशन) आत्मभाव की उपेक्षा कर देता है। किन्तु जब अवधान आत्म के उत्तानीकरण (इंटेंसीफिकेशन) के लिए अपनी ओर उन्मुख होता है तब यह अत्यन्त ठोस किन्तु अस्फुट सहावस्थान अत्यन्त स्फुट हो जाता है। अवधानमय चैतन्य के लिए "मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि मैं हूं" "मैं हूँ" हो जाता है, यह स्वतःसिद्ध अनिवार्यता का रूप ले लेता है।

हुस्सर्ल की रुचि ब्रेंटानों की मनोवैज्ञानिक स्तरीय चेतना की दुहरी संरचना (स्ट्रक्चर) में, अर्थात् विषयोन्मुख चेतना की सहगामी अस्फुट आत्मचेतना में नहीं थी। हुस्सर्ल के लिए चेतना पुरी तरह विषयापेक्षी (इंटेंश्नल) है; अथवा कहें, वह आत्म की, चेतना की, अन्य किसी प्रकार से कल्पना ही नहीं कर सकता सिवाय विषया-पेक्षावृत्ति के केन्द्र में परिवर्तन के। उसके लिए अवधानमय (अटेंटिव) चेतना के द्वारा आत्म के अपने साथ सहभाव की बात अचिन्त्य है। उसके लिए मूलगामी उत्स का लक्ष्य केवल विश्व की पुनराप्ति है। इस उत्स को विश्व की निरंतर सघनतर होती समग्र पुनराप्ति के सिवाय किसी और प्रकार से नहीं समझा जा सकता: अर्थात् एक ओर "समग्र विषयोन्मुखता" के रूप में—तटस्थ द्रष्टा के सम्मुख दृश्य के रूप में—और दूसरी ओर ऐसी रचनावृत्तिक (कांस्टीट्यूटिव) "अन्तर्हित लक्ष्योन्मुखता" (इंप्लिसिट डाइरेक्श–नेलिटी) के रूप में, जो विश्व को अर्थ देती है।

रचनात्मक विषयापेक्षावृत्ति के अतिक्रामी परिप्रेक्ष्य में भी चैतन्य के अपने साथ सहभाव की बात की जा सकती है, किंतु इसका इसके अतिरिक्त कुछ अर्थ नहीं है कि अतिक्रामी चैतन्य अपनी समग्र विषयवृत्तिकता के साथ सहभाव को प्राप्त करता है।

यहां यह द्रष्टव्य है कि डेकार्ट और हुस्सर्ल दोनों में मूलगामी आरम्भ (रैडी–कल प्वाइंट आफ डिपार्चर) अपनी स्थिति ग्रहण करने के साथ ही अपना स्वतः–

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रामाण्य खोकर सापेक्षता से रंजित हो जाता है—डेकार्ट का ज्ञातृत्त्वाभिमान ईश्वर के समक्ष अपनी सीमितता के बोध से और हुस्सर्ल का अतिक्रामी ज्ञातृत्वाभिमान आन्तर बोध के पूर्वगामी अस्फुट (प्री-रीफ्लेक्सिव) अनुभव के सम्मुख अपनी गौणता की स्वीकृति से।

किन्तु, तेवनाज़ के अनुसार, डेकार्ट तथा हुस्सर्ल के बीच बहुत बड़ा व्यवधान है। प्रथम ऐसे आरम्भ को खोजता है जो पहले से विद्यमान नहीं है, जबकि दूसरा पहले से विद्यमान के वास्तव आरम्भ को खोजता है। डेकार्ट और हुस्सर्ल की काल की अवधारणा में भी मौलिक अन्तर है। फिनोमिलोजिकीय उद्‌घाटन की क्रिया में "पूर्वत: विद्यमान" का, एक अतीत—एक इतिहास—का उद्‌घाटन अभिप्रेत है और इस पूर्वगामी की आकांक्षा (इन्टेंशन) युगपत् रूप से लक्ष्यकृत भविष्य की भी आंकक्षा है। हुस्सर्ल ऐतिहासिकता, परिस्थिति, अथवा कालबोध में जीता है, क्योंकि उसके लिये एक निहित आशय (रीज़न) है जो स्फुट रूप लेता है। वास्तव में हुस्सर्ल इसी अर्थ में प्लेटोवादी है, इस अर्थ में नहीं कि वह विशुद्ध धर्मों (एस्सेंसिज़) के अव्यवहित संज्ञान (इंट्यूशन) का प्रतिपादन करता है। इसके विपरीत डेकार्ट के लिये सिद्धि सदैव प्रस्तुत है—वह अवधानात्मक चेतना की क्रिया में निहित है, हुस्सर्ल के समान भविष्य में चरितार्थ्य नहीं है।

इस प्रकार हम दो मूलगामिताओं को देखते हैं—आदिम सत्य को स्थापित करने के अभिनिवेश के रूप में अथवा सत्य के आधार की पुनराप्ति के रूप में। इस प्रकार ये दो मूलत: भिन्न भिन्न अभिवृत्तियां हैं—अव्यवहित आत्मस्थिति की और अतिक्रांततावाद की। इस प्रकार, डेकार्ट अतिक्रांततावादी नहीं था, जैसाकि हुस्सर्ल ने समझा और जिसमें असफल रहने का दोषारोपण उसने उस पर किया। डेकार्ट के प्रभाव के कारण ही वास्तव में फ्रांस में कभी अतिक्रांततावाद की जड़ नहीं जमी।

इस प्रकार मूलगामितावाद के लिये अतिक्रांततावाद एकमात्र रास्ता नहीं है। इसके विपरीत, अतिक्रान्ततावाद पूर्णत: मूलगामी हो ही नहीं सकता (अन्य बातों के अतिरिक्त, तत्वमीमांसा में अनास्था के कारण भी।) अतिक्रान्ततावादी के लिये मानव-तर्कणा वास्तव में मूलगामी परीक्षा की विषय नहीं बनती—यह बात हम कांट तथा हुस्सर्ल दोनों में देखते हैं। इसके विपरीत डेकार्ट में मानव-तर्कणा दैत्य के हस्तक्षेप की कल्पना द्वारा अपने मूल से हिला दी गयी है। वास्तव में दार्शनिक मूलगामितावाद इस मूलगामी त्रास का ही समानुपाती है। हुस्सर्ल का अतिक्रान्तता-वाद मूलगामी होने की वास्तव इच्छा के बावजूद मानव-तर्क तथा विश्व के प्रामाण्य के प्रति इस आधारभूत चुनौती को अनुभव नहीं करता। हुस्सर्ल के तर्क तथा विज्ञान में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अबाध विश्वास की ओर प्रायः ही संकेत किया गया है। उसने इस मूल चुनौती के बजाय एक अपेक्षाकृत निर्बल चुनौति को स्वीकार किया है—वह है विज्ञान की अर्थ-हानि की चुनौती। वह "यूरोपीय विज्ञान" के संकट का भय देखता है, तर्क के संकट का भय नहीं।

आन्तर बोध एवं आत्म की चेतना

इस लेख में तेवनाज़ ने आत्म की उपलब्धि के दो मार्गों में भेद किया है—आत्म की विषयरूप में उपलब्धि और आत्म की अपने निजत्व में उपलब्धि में, और तब दूसरे मार्ग की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया है। उसके अनुसार दर्शन आत्म को जानने की ही एक विधा है और इसका यही लक्षण इसे विज्ञान से भिन्न करता है। दूसरे शब्दों में, किसी भी ज्ञान द्वारा अपने आधारों की खोज दर्शन है। यदि सुकरात का सूत्र "आत्मानं विद्धि" दार्शनिक आत्मनिष्ठतावाद की उद्घोषणा है तब साथ ही यह सच्चे अर्थों में मूलगामी विषयनिष्ठतावाद (आब्जेक्टिविटी) के दार्शनिक अन्वेषण का भी द्योतक है।

आत्मोन्मुखता दर्शन की अनिवार्य कार्यविधि भी है, क्योंकि इसके बिना विषयी अपने को नहीं पा सकता। किन्तु विषयित्व की यह खोज हमें एक आधारभूत विकल्प के सम्मुख प्रस्तुत कर देती है। प्रथम विकल्प यह है: कि या तो हम विषयी—आत्म—का उसके स्पष्ट निर्धारणों (डिर्टमिनेशंस्) के साथ ग्रहण करें, जिसका अर्थ होगा विषयी का (द्रष्टत्व का) विषय में (दृश्यत्व में) रूपांतरण करना, अथवा इसको क्रमशः ऐसे उत्स के रूप में उद्घाटित करें जो हमारी चेतना के सीमांतों पर उद्भासित रहता है। तब क्या आत्मोन्मुखता के लिए इसके अतिरिक्त कोई रास्ता नहीं है कि वह या तो आत्म को प्रकृति (विषय) के रूप में ग्रहण करे अथवा इसे अव्यक्त विषयी के रूप में अनवगम्य बनाए ?

दूसरा विकल्प 'आत्मोन्मुखता' (रीफ्लेक्षन) के दुहरे अर्थ पर निर्भर है—या तो इसका अर्थ एक नये स्तर पर अपने को प्रक्षेपित (प्रोजेक्ट) करना है और इस प्रकार यह आत्म का अपने से पृथक् कर ग्रहण करना है, अथवा यह अपने बिखराव को समेटना, अपने को अपने केन्द्र पर संकलित करना, आत्म—केन्द्राभिमुखी होना, है। प्रथम में "एकोहं बहु स्याम" की आकांक्षा द्वारा आत्म का अपने केन्द्र के चारों ओर अनन्त प्रसार है, दूसरे में अपवारण द्वारा, निर्वस्त्रीकरण द्वारा, अपने को अव्यवहितत्व में पाना है। तब क्या यहां भी आत्म परत्त्व के अनन्त आवलयन तथा अव्यवहितत्त्व के ऐसे विकल्प के बीच भटकने को बाध्य है जिसका कोई प्रमाण और कसौटी नहीं है ?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यहां यह देखना महत्वपूर्ण है कि क्या आत्म की अस्फुट चेतना और स्फुट चेतना में अन्तर मात्रात्मक है अथवा आधारभूत है ? फिनोमिनलोजी की यह स्थापना कि चेतना प्रकृत्या विषयापेक्षात्मक है, इस प्रश्न के अर्थ को पूर्ण स्पष्टता के साथ सम्मुख ला देती है। यह स्पष्ट है कि चैतन्य की ऐसी किसी भी अवधारणा में, जिसमें विषयाभिमुखीनता (इंटेश्नेलिटी) का विशिष्ट स्थान है, विषयी द्वारा अपने ज्ञान को विषयापेक्षा वृत्ति की ही एक विशिष्ट विधा के रूप में स्वीकार किया जायगा तथा विषयी के अस्फुट एवं स्फुट अवगमनों (बोधों) के बीच मूलगामी पार्थक्य देखा जायगा। इस बिन्दु पर ब्रेंटानो तथा हुस्सर्ल के प्रतिपादनों के अन्तर पर विचार करना बहुत उपयोगी होगा।

ब्रेंटानो की समस्या मानसिक तथा भौतिक के बीच मौलिक अन्तर दिखाना थी। उसे "मानसिक" के दो विच्छेदक गुण दिखाई दिये : प्रथम, विषयापेक्षा अथवा विषयाभिमुखता, और दूसरा, मानसिक घटनाओं का आंतर बोध। दूसरे शब्दों में, विषय की अपेक्षा—विषयवृत्ति—में प्रदत्तता के साथ विषय की अवगति की अवगति भी रहती है। किन्तु इसका अर्थ होगा कि अवगमन के अवगमन का अवगमन भी होता है, और इस प्रकार अनन्तक्रम (अनवस्था प्रसंग-दोष) होगा। ब्रेंटानो में इसका समाधान यह है कि अपेक्षित (इंटेंडिड) विषय मुख्य होता है और अपेक्षाभिक्रिया गौण विषय होती है। गौण विषय अस्फुट अथवा सीमांतीय मात्र होता है। इसका अवगमन इसके मुख्य विषय में रूपांतरण के बिना नहीं हो सकता। "जब हम अभिक्रिया (एक्ट) में रहते हैं (उदाहरणतः जब हम एक कहानी पढ़ने में निमग्न होते हैं) तब हमें निष्पन्न अभिक्रियाओं के केन्द्र के रूप में इस मैं (आत्म) का कुछ भी दृष्टिगत नहीं होता।" इस प्रकार चेतना का पूर्णतः विषयवृत्तिक (इंटेंश्नल) होना सिद्ध है। इस आत्म की आत्मोपलब्धि का केवल एक ही उपाय है और वह है अन्तरोन्मुखता—आन्तर बोध—"यदि हम अभिक्रिया का निष्पादन करते हैं और उसमें रहते हैं तब स्वभावतः हम उसके विषय की उपेक्षा करते हैं, उसके अर्थ की नहीं........यह अर्थ आन्तर बोध की अभिक्रिया के बिना विषय नहीं हो सकता'।'[12]

अब, तेवनाज़ के अनुसार फिनोमिनलोजिकीय विश्लेषण ठीक इस बिन्दु पर ही आरंभ होता है—जब आत्म (विषयी) अपने को (विषय में) खोना नहीं चाहता और अपने प्राकृतिक स्वभाव का प्रतिरोध करता है। यह आन्तरवृत्ति (रीफ्लेक्षन)ही फिनोमिनलोजिकीय विश्लेषण को मूलतः अन्तःवृत्तिक बनाती है। किन्तु यह अन्तःवृत्तिकता प्राकृतिक विषय को विलुप्त नहीं कर देती। यह विषय गौण

११. हुस्सर्ल-लोजीकल अंडरस्टेंडिंग, पृ० ३९६,
१२. वहीं, पृ० १०३,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रूप से विद्यमान रहता है। उदाहरणतः मैं एक ध्वनि सुन रहा हूँ=मैं सुनी गई ध्वनि हूं, पूर्णतः ध्वनिभूत। तब आन्तरवृत्ति (रीफ्लेक्शन) द्वारा मैं श्रवणाभिक्रिया को विषय बनाता हूं और इस प्रकार मैं ध्वनि-श्रवण के अनुभव के प्रति चेतन होता हूं। किन्तु स्वयं के सुनते होने की चेतना में सदैव श्रुत (ध्वनि) की अन्तर्हित (इम्प्लिसिट) चेतना भी रहती है (कहना चाहिये, श्रुत ध्वनि विषयभूत श्रवणाभिक्रिया के अंग रूप में प्रदत्त होती है:—अवगत है कि, सुन रहा हूं : ध्वनि)। इस अभिक्रिया में, जो प्रकृति-विरुद्ध अभिवृत्ति में उपलब्ध होती है, प्राकृतिक विषय का ह्रास घटित होता है, यह (विषय) गौण हो जाता है—यह ब्रेंटानो से ठीक उलट स्थिति है, जिसमें अभिक्रिया गौण रूप में, परिपार्श्वों पर, रहती है। हुस्सर्ल में अभिक्रिया की गौण, पारिपार्श्विक, प्रस्तुति असम्भव है—अभिक्रिया या तो मुख्य विषय रूप में प्रस्तुत हो सकती है, अन्यथा वह पूर्णतः अप्रस्तुत ही रह सकती है।

किन्तु यह आत्माभिमुखी अभिक्रिया अनन्तक्रमेण निवर्त्तन कर सकती है—यथा, अवगत है कि सुन रहा हूं (ध्वनि), अवगत है कि अवगत है कि (सुन रहा हूं ध्वनि) आदि। किन्तु तब भी, अतिक्रामी आन्तरवृत्तियों (ट्रांसेंडेंटल रीफ्लेक्षंस्) की यह अनन्त श्रृंखला विषयी को विषयी के रूप में उपलब्ध नहीं करती, वल्कि एक भिन्न स्तरीय विषयवृत्ति (इंटेंश्नेलिटी) के रूप में ही प्रस्तुत करती है। इस प्रकार, सार्त्र के शब्दों में, चेतना में एक "अनवगाह्य अपारदर्शिता की गांठ" रहती है, जिसका निरास सार्त्र एक ओर चेतना की शून्यात्मक (नथिंगनेस) अवधारणा से, और दूसरी ओर "आत्म की चेतना" की अवधारणा से, करता है।

हुस्सर्ल के लिये आन्तरवृत्ति की समस्या सदैव विश्वोन्मुखी चैतन्य की समस्या रही है—अतिक्रामी धर्मों (ट्रांसेंडेंटल एस्सेंसिज़) को विषयों के रूप में आक्षिप्त करते हुए चैतन्य की समस्या। इस (विषयवृत्तिक) चैतन्य का कुछ आन्तर नहीं है और फिनोमिनलोजिकीय स्थगन केवल चैतन्य को अधिकाधिक तटस्थ द्रष्टृत्व (विषयित्व—सब्जेक्टिविटी) के रूप में स्थापित करता है। इस प्रकार फिनोमिनलोजी अनन्त आन्तरवृत्तियों का दर्शन है, क्योंकि यह ऐसी आत्मचेतना का विषयाक्षेपन (विषय रूप में आक्षेप) करती है जो एकसाथ आवश्यक और असंभव (आत्म के अविषय रूप में प्रस्तुत नहीं हो सकने से) है।

आत्म के स्फुट अथवा अस्फुट बोध विषयक विकल्प पर उपरोक्त विमर्श हमें स्वभावतः दूसरे विकल्प— अव्यवहितत्व अथवा अनन्त निवर्त्तन के विकल्प—की देहरी पर ला छोड़ता है।

दार्शनिक की अव्यवहितत्त्व में अनास्था स्वाभाविक है, क्योंकि इसका **अगोचरत्व** इसे सर्व प्रमाणातीत, और अतएव अप्रामाणिक, बना देता है। यह एक असाध्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(साधन-असंभव) विषयिमूलक अचेतनता की स्थिति है। किन्तु क्या यह आवश्यक है कि आत्मचेतनता की इस प्रकार चाक्षुष रूपक के अनुसार अवधारणा की जाय और इससे अव्यवहितत्त्व की अवधारणा का निर्धारण किया जाय ? यदि आन्तरवृत्ति को चाक्षुष रूपक के अनुसार नहीं बल्कि क्रिया के रूप में कल्पित किया जाय, तब क्या आन्तरवृत्ति को भी अव्यवहितत्व की एक विधा के रूप में ही नहीं देखा जा सकता ? (ऐसे अव्यवहितत्त्व की विधा के रूप में जिसका स्वरूप अनिवार्यतः मनोवैज्ञानिक नहीं हो) ? दूसरी ओर, हम अभ्यासवश समझते हैं कि एकमात्र मनोवैज्ञानिक आत्मचेतना ही ऐसी है जो दुहरेपन से रहित है। और क्योंकि दर्शन अनिवार्यतः अन्तर्दर्शन है इसलिये दर्शन में चेतना का दुहरापन (द्वित्व) अनिवार्य है। किन्तु क्या दर्शन के लिये अन्तर्दर्शनात्मक चेतना के अव्यवहितत्व की कल्पना संभव नहीं है ? यह अन्तर्दर्शन, जोकि अवलोकन नहीं होकर क्रिया होगा, अव्यवहितत्व की ऊर्ध्व स्तर की ओर एक ऐसी प्रगति घटित कर सकता है जो वास्तव अर्थ में दार्शनिक होगी। फ्रांसीय परम्परा में अन्तरोन्मुखता इसी रूप में अवधारित की गयी है। यह आन्तरवृत्ति, जोकि डेकार्टीय चिति (कोजिटो) अथवा बाइरेनीय संकल्प (वोलो) की ओर ले जाती है, सरल आन्तरवृत्त्यात्मक विश्लेषण नहीं है। इसी प्रकार यह मनोविज्ञान को उत्तीर्ण करता हुआ भी अतिक्रान्तता की ओर उन्मुख नहीं है, फिर चाहे वह कांटीय अतिक्रान्तता हो और चाहे हुस्सर्लीय। यह विश्लेषण के द्वारा किसी अन्तर्हित संरचना के उद्घाटन का प्रयत्न नहीं है, यह आत्म की चेतना का संश्लेषणात्मक एवं अव्यवहित रूप से, अन्तरोन्मुखता की क्रिया के साथ युगपद् रूप से, उद्घाटन है।

उदाहरणतः, डेकार्ट जब प्राविधिक सन्देह द्वारा विश्व का निवारण कर देता है तब वह अपने को भी विषय के रूप में देखने से इन्कार कर देता है। उसका लक्ष्य मन की अभिक्रिया को स्वयं अपने घटित होने में आत्मचेतन करना, और इस प्रकार एक उत्कृष्टतर अव्यवहितत्त्व प्राप्त करना है। चिति (कोजिटो) का यह अव्यवहितत्त्व मनोवैज्ञानिक अव्यवहितत्त्व से इस अर्थ में भिन्न है कि इसमें दार्शनिक ज्ञान के लिये अपेक्षित अनिवार्य प्रामाण्य (नेसेसेरी वैलिडिटी) के सभी लक्षण हैं। उसने सन्देहात्मक स्थगन द्वारा विषय को अन्तर्हित (इंप्लिसिट) बना कर अन्तर्हित चैतन्य को आत्म-चेतना की अभिक्रिया के रूप में परिस्फुट होने दिया।

इसके अतिरिक्त, "जानामि अतः अस्मि" (कोजिटो एर्गो सम) के द्वारा व्यक्त चैतन्य की अभिक्रिया सद्भाव (बींग) की चेतना है। डेकार्ट के अतिक्रान्ततावादी नहीं होने का इससे बड़ा और क्या प्रमाण हो सकता है ? हुस्सर्ल तथा कांट के अतिक्रान्ततावाद का अभिप्राय गोचर अस्तित्व का स्थगन है। इसके विपरीत, अपने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को "ज्ञान-क्रिया" में स्फुट कर अस्फुट चेतना सद्भाव की चेतना हो जाती है—मैं चेतन हो जाता हूं कि विचार-अभिक्रिया अपने अस्तित्व के लिये पूर्णतः आत्मनिर्भर है। डेकार्ट के अनुसार सब्स्टांस का यही अर्थ है।

आन्तरवृत्ति, अथवा कहें आत्मनिवर्तन, के उपरोक्त निरूपण के पश्चात् तेवनाज़ मेने बाइरेन तथा बर्गसां की आन्तरवृत्ति की अवधारणा के माध्यम से अपने उपर्युक्त प्रतिपादन की व्याख्या करता है। उसके अनुसार, उपर्युक्त दो प्रकार की आंतरवृत्तियों में विरोध को संक्षेप में इस प्रकार निरूपित किया जा सकता है: एक, जो फिनोमिनलोजिकीय विश्लेषण को विशेषित करती है और दूसरी, आन्तरवृत्तिक (रीफ्लेक्षिव) विश्लेषण को, अर्थात् (१) विषयापेक्षी आन्तरवृत्ति, तथा (२) अवधान (अटेंशन) अथवा प्रयत्न पर आधारित आन्तरवृत्ति। दोनों ही मतों का लक्ष्य आन्तरवृत्ति द्वारा चेतना को अपना स्वत्व देना है। किन्तु यदि विषयवृत्तिकता चेतना की एकमात्र संरचना है तब चेतना स्वरूपतः बहिरोन्मुखी, और अतएव स्वत्वरहित, होती है। इसलिये इसकी पुनराप्ति (री-कवरी) आवश्यक हो जाती है। "स्थगन" इसी लक्ष्य की सिद्धि करता है। किन्तु क्योंकि चेतना अंतरोन्मुखी प्रक्रिया में भी अविरामतः नवीन विषयापेक्षावृत्तियों में संक्रमित होती है इसलिये इसमें या तो चैतन्य का कोई सत्त्व (बींग) नहीं रहता अथवा इसका सत्त्व शून्यता हो जाता है।

इस प्रकार फिनोमिनलोजी प्राकृतिक अभिवृत्ति के विपरीत दिशा में आन्तरवृत्तिपरक होने पर भी अन्ततः प्रकृतिपरक ही रह जाती है। यह विषयोन्मुखता को प्रचलित धारणा (नाइवेटे) बताकर इसके स्रोत, अभिक्रिया, की ओर निवर्त्तन का समर्थन करती है, किन्तु इस अभिक्रिया के विषयोन्मुखता का ही एक सूक्ष्मतर रूप होने से अतिक्रामी विषयी की ओर संक्रमण पर्याप्त नहीं है। चैतन्य के "आभिजात्यकरण" का एकमात्र ढंग यह ज्ञान है कि इसके लिये विषयों के माध्यम के बिना आत्मोपलब्धि सम्भव है।

किन्तु तेवनाज़ के अनुसार, जबकि आन्तरवृत्तिक विश्लेषण (रीफ्लेक्षिव एनेलेसिस) आन्तरवृत्तिकता की उचित अवधारणा पर प्रतिष्ठित है, इसकी सत्त्व (बींग) की अवधारणा पर्याप्त विकसित नहीं है। इसके विपरीत फिनोमिनलोजी की सत्त्व की अवधारणा जबकि उपयुक्त है, इसकी आन्तरवृत्तिकता की अवधारणा अत्यधिक विषयपरक है। तेवनाज़ के अनुसार, विषयापेक्षा विषय-विश्व की सम्यक् विधातृ है, किन्तु यह भी सत्य है कि आत्मा की अव्यवहित अन्तश्चेतना विषयापेक्षा-वृत्ति से अधिक आदिम एवं अधिक मौलिक, और अतएव स्वयं विषयापेक्षा वृत्ति की विधातृ है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्तर्विषयित्व

अन्तर्विषयित्व (इन्टर्सब्जेक्टिविटी) की समस्या, अन्य सब दार्शनिक समस्याओं के समान, प्रत्येक दर्शन के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रस्तुत होती है। ऐन्द्रियानुभववादी (एंपिरिसिस्ट) दर्शन में यह समस्या इस रूप में प्रस्तुत की गयी है—"मैं केवल अपने अनुभवों को जानता हूं, अतः अन्य किसी अनुभव को परिभाषया जानने में असमर्थ हूं।" एक प्रकार से यह समस्या न होकर समाधान हुआ। किन्तु जब इस समाधान को हम मूल प्रश्न के—"अन्य हैं, किन्तु अनुभववादी दर्शन "अन्य" को किस प्रकार अर्थ देगा ?"—प्रसंग में देखते हैं तब यह समाधान मूल प्रश्न को सन्तुष्ट नहीं कर पाने से समस्यात्मक हो जाता है। किन्तु वास्तव में ऐन्द्रियानुभववाद में स्वयं "मैं" भी एक समस्या है, ठीक कहें तो, वह दर्शन "मैं" का अन्तर्भाव संवेदों में करके उसे समाप्त कर देता है, अतः उसमें अन्य का कोई प्रश्न ही नहीं उठना चाहिए। किन्तु आश्चर्यजनक रूप से, बहुत से अनुभववादियों ने इस पर विचार किया है। इधर इन दार्शनिकों द्वारा अपने दर्शन की वैज्ञानिक अभिप्रेरणा पहिचान लेने के बाद इसका समाधान "मैं" का "ऐन्द्रिय प्रत्यक्षगत अन्य" में अन्तर्भाव करके किया गया है। इस प्रश्न का एक दूसरा समाधान मैंने "मैं" तथा "अन्य" का एक सामान्य में अन्तर्भाव करके प्रस्तुत किया है।[13] किन्तु संभवतः मेरे द्वारा प्रस्तुत समाधान में यह एक मूलभूत कमी कहीं जा सकती है कि यह चेतना का, आत्मत्व का, निरास नहीं करके भी अस्तित्वात्मक अनुभूति का निरास कर देता है जोकि "मैं" का एकमात्र आधार है। फिनोमिनलोजी बहुत दूर तक इस अनुभूति की रक्षा करके इस प्रश्न के समाधान का प्रयत्न करती है। पीछे पोंटी के लेख में हमने इस प्रश्न के फिनोमिनलोजिकीय समाधान का एक प्रयत्न संक्षेप में देखा था। यहां हम इस प्रश्न के उत्तर का एक दूसरा प्रयत्न देखेंगे।

लायुर के अनुसार, फिनोमिनलोजी के लिए अन्तर्विषयित्व की समस्या निम्न रूप में प्रस्तुत होती है : विषयता (ऑब्जेक्टिविटी) की एक निश्चित संरचना (कांस्टीट्यूशन) है जिसका आधान—धारणा—उसकी अभिक्रिया में होता है। इसी प्रकार विषयी की भी एक निश्चित संरचना है जिसका आधान आन्तरवृत्ति (आत्मवृत्ति) में होता है। किन्तु इस रूप में यह विषयी एक भिन्न प्रकार और भिन्न स्तर का विषय मात्र है। विषयी की विषयीरूप में भी एक संरचना कल्पनीय है—कि यह विषयों को, परिदृश्य को, अपने सम्मुख प्रस्तुत देखता है। इन दोनों पक्षों को संयुक्त रूप से कहें तो कहा जायगा कि, **विषयी की संरचना द्रष्टा का आत्मदृश्यत्व है।**

---

१३. द्रष्टव्य–इतिहास–बोध, तत्त्वचिंतन, शरद् १९६९।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस सन्दर्भ में "अन्य विषयी" का क्या अर्थ हो सकता है ? "अन्य विषयी" के लिए एक सर्वथा भिन्न संरचना की आवश्यकता है—मेरे लिए उसका ऐसे स्वतःप्रतिष्ठित द्रष्टा के रूप में प्रस्तुत होना आवश्यक है जिसके दृश्य का वह स्वयं केन्द्र है और उसका दृश्य उसके केन्द्र से निर्धारित रूप में प्रस्तुत होना आवश्यक है । दूसरे शब्दों में, अन्य का द्रष्टृत्व और दृश्यत्व मुझे उसके द्रष्टृत्व और दृश्यत्व के रूप में प्रस्तुत होने आवश्यक हैं । (किन्तु उतना ही आवश्यक यह भी है कि मैं विषय रूप में अन्य को और मेरा यह अन्य के लिए विषयत्व (दृश्यत्व) मुझे, विषय रूप में प्रस्तुत हों ।) हुस्सर्ल के विषयापेक्षात्मक सिद्धान्त की पदावली में इसे कहा जा सकता है कि, विषयी एक ऐसा विषय है जिसकी संरचना एकसाथ विषय और विषयी दोनों रूपों में होती है । वास्तव में, यह समस्या विषयापेक्षात्मक संरचना की अवधारणा के मूल में ही निहित है, विशेषतः तब जब यह ज्ञातृत्वाभिमान (इगो) की संरचना के रूप में देखी जाती है । इस ज्ञातृत्वाभिमान का एकसाथ संरचनावृत्ति (कांस्टीट्यूशन) और संरचित विषय होना आवश्यक है ।

"अन्य के ज्ञान" की समस्या इस बात में है कि विषयी होने का अर्थ अनुभव-कर्त्ता होना है और अतएव विषयी के रूप में विषय होने का अर्थ है अनुभव-कर्त्ता के रूप में अनुभूत होना । इस प्रकार, अन्य विषयी के ज्ञान के लिए आवश्यक है कि किसी प्रकार अन्य के अनुभव मेरे अनुभव हुए बिना मेरी विषयवृत्ति (इंटेंशन) को प्रदत्त हो सकें । इसके लिए हुस्सर्ल परानुभूति (एम्पेथी) की अवधारणा का आश्रय लेता है । एम्पेथी में हुस्सर्ल एक ऐसे संरचित विश्व की कुंजी देखता है जो वास्तव और संभाव्य सब विषयों के लिए उपयुक्त है । इस "एम्पेथी" की उसने अपने विषय-वृत्तिकता के सिद्धान्त में व्याख्या खोज ली हो, ऐसी बात नहीं है, और न उसे ऐसा कोई भ्रम ही था; उसने इसे केवल तात्कालिक रूप से, विस्तृत व्याख्या पाने तक के लिए, स्वीकार किया था । यूजेन फिंक के शब्दों में, हुस्सर्ल को 'एम्पेथी' की व्याख्या करने की कोई उत्सुकता नहीं थी, बल्कि वह इसका उपयोग स्थगन की व्याख्या के लिए करना चाहता था, जिसके द्वारा कि अन्य विषयिओं (अनुभव-कर्त्ताओं) के साथ लोक-स्तर के सम्पर्क को अतिक्रामी-स्तर पर उठाया जा सकता है ।

इसके पश्चात् फिंक विषयित्व की अतिक्रामी स्तर पर संरचना का निरूपण करता है । उसके अनुसार, संरचित विश्व में से अपवारण (एब्स्ट्रेक्शन) के द्वारा एक ऐसा अंश पृथक् किया जा सकता है जो केवल मुझे ही ग्राह्य हो; यह मेरा सप्राण शरीर है । अपने शरीर का अनुभव शेष प्रकृति के अनुभव से मूलतः भिन्न प्रकार का है । शरीर एक आत्मा द्वारा सप्राणीकृत रूप में अव्यवहित रूप से प्रदत्त होता है और परिणामतः आत्मा भी उसी प्रामाण्य में युगपद्रूप से अपने को व्यक्त करता है । इसी अभिक्रिया में अभिमान (अहं) अपने को "शरीरात्मा" के रूप में संरचित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर सकता है। विषय रूप में संरचित होने से यह विषयात्मक विषयी (दृश्यभूत द्रष्टा) होता है। विषयित्व के इस गौण स्तर पर ही, जिस पर कि विषयी का विषय रूप में ग्रहण किया जाता है, यह भेद करना संभव है कि विषयी का क्या निजी है और क्या पर। और इसी स्तर पर पहली बार अन्य के अनुभव का ग्रहण संभव है। विशुद्ध अतिक्रामी आत्म के अन्तर्गत वैयक्तिक (व्यक्ति रूप में) आत्मविषयित्व को उपलब्ध कर लेने पर अन्य वैयक्तिक विषयिओं की संभावना विषयित्व की सामान्य अवधारणा के विशिष्ट उदाहरणों के रूप में देखी जा सकती है। अपना विषयित्व विशुद्ध अतिक्रामी आत्म के द्वारा संरचित होने से वह विषयित्व की सामान्य रचना का एक उदाहरण मात्र होता है। पुनः, विश्व पहले अतिक्रामी "हम" के एक विषयात्मक प्रतिपक्ष के रूप में प्रदत्त होता है, किन्तु इस "हम" के अन्तर्गत विषयिओं का यह प्रथम विभेद "मैं" तथा "अन्य" का प्रापक होता है। इस प्रकार विश्व ऐसे "हम" का प्रतिपक्ष हो जाता है जो "हम" कि "मैं" तथा "अन्य" के विभेद से पूर्वगामी है, और इस प्रकार विषयों की सर्वसाधारणता का स्रोत विषयापेक्षी (इंटेंश्नल) संरचनात्मकता के प्रागनुभविक नियम हो जाते हैं। ये नियम उस विशुद्ध द्रष्टृत्व के स्तर पर संरचित होते हैं जो स्तर कि द्रष्टा-भेद (मैं तथा पर के भेद) से प्राक् है। किन्तु यदि उक्त प्रतिपादन सही है तो यह सन्देह होना स्वाभाविक है कि क्या तब अन्य द्रष्टा वास्तव में प्रदत्त होते हैं याकि केवल द्रष्टृत्व का एक सामान्य प्रत्यय प्रदत्त होता है, जिसके अन्तर्गत अन्य विषयी "कोई-एक विषयी" के रूप में ग्राह्य होते हैं।

हुस्सर्ल का अन्तर्विषयित्व का यह सिद्धान्त हेगल की "फिनोमिनलोजी आफ-स्पिरिट" के विषयिओं (आत्माओं) के समाज के सिद्धान्त के बहुत निकट है। विषयी अपनी संरचना में सर्वप्रथम विशुद्ध अतिक्रामी और विषयत्व मात्र का अपेक्षी है। इसके अनन्तर ही विषयी अवगम्य विषय के रूप में संरचित होता है। अन्य विषयी में यह प्रक्रिया पूर्णतः उलट हो जाती है : उसका ग्रहण पहले विषय के रूप में होता है और तब विषयी के रूप में।

विषय-पक्ष में यह सिद्धान्त एक महत्वपूर्ण भेद का सन्निवेश करता है, जिसकी चर्चा हुस्सर्ल की बाद की कृतियों में हुई है। इसके अनुसार, वैयक्तिक "विषयी" के अतिरिक्त एक उच्चतर स्तर का विषयी—सामाजिक विषयी, सांस्कृतिक व्यक्तित्व—भी होता है और परिणामतः वैयक्तिक विश्व के अतिरिक्त सांस्कृतिक विश्व भी होता है। इस सांस्कृतिक विश्व में यह अन्तर्विषयित्व प्रागनुभविक (अ-प्रायरायी) रूप से संरचित होता है।[14]

---

१४. इस प्रसंग पर मैंने अपनी पुस्तक "संस्कृतिः मानव-कर्तृत्व की व्याख्या" के दूसरे अध्याय में तथा "इतिहास-बोध" एवं "प्रजातंत्रवादः पुनरालोचन की आवश्यकता" (तत्त्वचिंतन-ग्रीष्म १९६८) लेखों में विस्तृत रूप से विचार किया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फिनोमिनलोजी एवं अस्तित्ववाद

नटेंसन के अनुसार, सार्त्र का अस्तित्ववाद अधिकांश में हुस्सर्ल के विषयापेक्षा (इंटेंश्नेलिटी) के सिद्धान्त की एक व्याख्या अथवा रूपान्तरण कहा जा सकता है। किन्तु, उसके अनुसार, सार्त्र ने जहां–जहां हुस्सर्ल से अपना रास्ता बदला है वहां उसकी न्यूनताएं ही प्रकट होती हैं, और यह भेद हुस्सर्ल की उपलब्धियों को और भी स्पष्टता से प्रकट करता है।

हुस्सर्ल के अनुसार, विषयापेक्षता का मुख्य लक्षण निर्दिष्टता (डाइरेक्शनेलिटी) है—चैतन्य स्वरूपतः विषयोन्मुखी (विषयवृत्तिक) है। इसका अनुपूरक स्थगन का सिद्धान्त है जो विषय की स्वायत्तता को अक्षुण्ण रख कर भी उसकी सत्ता को स्थगित कर देता है। परिणामतः सत्य, कल्पनाजन्य, स्वप्नगत आदि विषय अपेक्षा-विषयों के रूप में एक ही स्तर के हो जाते हैं। वही स्थिति आत्म की होती है।

फिनोमिनलोजी के कुछ आलोचकों ने अपेक्षी चैतन्य की इस अवधारणा को विषयिनिष्ठतावाद तथा आत्माद्वितीयतावाद (सोलिप्सिज़्म) के कठोरतम प्रतिपादन के रूप में देखा है, किन्तु इसके विपरीत सार्त्र के लिए हुस्सर्ल के अपेक्षा–सिद्धान्त का मुख्य आकर्षण विषयिनिष्ठतावाद से मुक्ति दिलाने में ही है। उसके अनुसार, हुस्सर्ल के चेतना के सिद्धान्त की विशिष्टता उसके विषयि–विषय–भेद के अतिक्रमण में है—यह दोनों का समानरूप से स्थगन करता है। इस प्रकार इस सिद्धान्त में विषयापेक्षा विषयि-मूलक ध्रुव (सब्जेक्टिव पोल) का फलन नहीं है, बल्कि यह विषय-भाव (ज्ञान–वस्तुः नोएमा) है; चैतन्य हमें वस्तुसत् के सम्मुख प्रस्तुत करता है और उसी के माध्यम से अहं का उद्भव होता है। इस प्रकार अहं विषय का समवर्त्ती है—यदि इसे अनुवर्त्ती नहीं भी कहें तो। अनुभव दोनों का पूर्ववर्त्ती है।[15] सार्त्र हुस्सर्ल की चैतन्य की इस अवधारणा का रूपान्तरण कर अहं के असत्व (नानबींग) को आदिम वृत्ति (डाटम) का पद देता है। हुस्सर्ल का चैतन्य की निरहंता का सिद्धान्त (नान-इगोलोजीकल थीयरी) (नास्तिताः निहिलेशन) के दर्शन में रूपान्तरित हो जा है।

सार्त्र के अनुसार, विषयापेक्षा की अवधारणा का वास्तविक अभिप्राय चैतन्य और विषय की सह-प्रदत्तता का प्रतिपादन करना है। वह ज्ञान की संधारक-रूप अवधारणा को स्वीकार नहीं करता और विषयापेक्षा के सिद्धान्त को इस भ्रम के

---

१५. यहां ह्यूम से इसकी अनुरूपता स्पष्ट है, किन्तु दोनों के दर्शन में इतना मौलिक भेद है कि यह साम्य केवल प्रकट साम्य रह जाता है। यों सांख्य और कुछ दूसरे भारतीय दर्शनों ने भी अहंकार को उत्तरवर्ती माना है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निवारक के रूप में ही देखता है। उसके अनुसार "ज्ञान को संधारण (पोज़ेशन) से उचितरूप से उपमित नहीं किया जा सकता........चैतन्य विशुद्ध है, यह महा वात (ग्रेट विंड) के समान विस्पष्ट है, इसमें कुछ आहित (रखा हुआ) नहीं है सिवाय उस गति के जो इसे अपने में निहित होने से बचाती है, जो इसमें आत्म-निष्क्रमण घटित करती है, अपने से परे ले जाती है। यदि कोई पूर्ण असंभाव्यता के बावजूद चैतन्य के "भीतर" प्रवेश कर भी ले तो वह एक दुर्दान्त वात्याचक्र द्वारा लपेटा जाकर बाहर फेंक दिया जायगा, क्योंकि चेतना का कोई "अन्तःप्रदेश" नहीं है, यह अपने "बाह्य" के अतिरिक्त कुछ नहीं है, और यह एक ऐसा आत्म-निष्क्रमण है, तत्व होने का ऐसा निषेध है जो इसे चैतन्य बनाता है।" (सिचुएशंस्-१, पैरिस, गैल्लिमर्ड, १९४७)। इस प्रकार सार्त्र के लिये चैतन्य का अपेक्षीभाव (इंटेंश्नेलिटी) वास्तव में अस्तित्ववादी सिद्धान्त ही है।

विषयापेक्षा-वृत्ति के इस अस्तित्ववादीकरण के आधार पर सार्त्र अपने विश्व की रचना करता है। मनुष्य के सत्त्व की सभी संरचनाएं, जिनकी वह जांच करता है, जैसे शरीर, अन्य व्यक्तियों के साथ ठोस सम्बन्ध, आवेग, कल्पनाएं सब चैतन्य के विषय-वृत्तिक स्वरूप के द्वारा ही ग्राह्य हो सकते हैं।

हुस्सर्ल तथा सार्त्र प्रकृतिवादी अथवा वैज्ञानिक विश्वदृष्टि को अस्वीकार करने में एकमत हैं। भौतिक विज्ञान तथा गणित को ये बौद्धिक अनुशासनों के निदर्शों के रूप में नहीं देखते। यदि कोई दर्शन तथा सामाजिक शास्त्रों के अद्वितीय एवं ठोस प्रश्नों पर विज्ञान के लोक-धारणामूलक दृष्टिकोण का आरोपण करता है तो वह केवल अनधिकार चेष्टा का अपराध ही करता है। किन्तु विज्ञानवाद के निषेध का अर्थ प्राकृतिक विज्ञान का निषेध नहीं है, यह केवल विश्व का उसकी असंस्कृत प्रदत्तता में ग्रहण करने का आग्रह है।

किन्तु हुस्सर्ल तथा सार्त्र के बीच अनेक सहानुभूतिक सम्बन्ध होने के बावजूद इनमें अनेक मतभेद हैं जो मात्र पारिवारिक कलह से कहीं अधिक गहरे हैं। मतभेद के दो बिन्दु अधिक मूलगामी हैं—ये हैं फिनोमिनलोजिकीय स्थगन एवं अतिक्रान्तता का निषेध। उसके अनुसारः विषय की सत्ता विषयि-मूल में कल्पित करना तथा इसकी विषयता को असद्भाव में प्रतिष्ठित करना उपयुक्त नहीं हो सकता। विषयीभाव का निर्विषयता से एवं भाव का अभाव से आविर्भाव नहीं हो सकता। **हुस्सर्ल चैतन्य को अतिक्रामिता से परिभाषित करता है। यह वास्तव में उसकी महत्वपूर्ण खोज है। किन्तु जैसे ही वह ज्ञान-विषय (नोएमा) को अवास्तविक, ज्ञानाश्रयी, बना देता है—ऐसा, जो संवेद-स्वभाव है, तब वह स्वयं अपने ही सिद्धान्त का अपलाप कर देता है।** सार्त्र के अनुसार, फिनोमिनलोजिकीय स्थगन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषयापेक्षी चैतन्य को अव्यवहित रूप से प्रदत्त विश्व का बाध करके विषयापेक्षा को उसके स्वरूप से ही निरस्त कर देता है। किन्तु, नटेंसन के अनुसार, हुस्सर्ल पर यह आपत्ति सही नहीं है, और न वास्तव में यह सार्त्र की आपत्ति ही है, यह केवल इनके भाष्यकारों की सूझ है। स्थगन के विरुद्ध सार्त्र की आपत्ति वास्तव में उसकी इस धारणा से प्रसूत है कि अवस्तूकृत (ईरियलाइज्ड) ज्ञान–विषय (नोएमा) विषय–तथ्यता के मूल सत्त्व को ही खो बैठता है और इस प्रकार हुस्सर्ल का विषया-पेक्षा के सिद्धान्त का प्रयोजन ही निरस्त हो जाता है। चैतन्य का विषय की दिशा में आत्मातिक्रमण (सेल्फ ट्रांसेंडेंस) होने के बजाय चैतन्य अपनी दिशा में आकुंचित हो जाता है। सार्त्र के अनुसार," हुस्सर्ल द्वारा अवधारित चैतन्य विश्व, भूत अथवा भविष्य की ओर आत्मातिक्रमण नहीं कर सकता। (बींग एण्ड नथिंगनेस, पृ० १०६).

नटांसन के अनुसार, सार्त्र के विषयापेक्षा एवं अतिक्रामी आत्म विषयक उक्त प्रतिपादन में कुछ ऐसी न्यूनताएं हैं जो हुस्सर्ल के सिद्धान्त में नहीं हैं। सार्त्र का सिद्धांत आत्म के एकत्त्व एवं आत्म के पर से भेद की ऐसी समस्याओं को जन्म देता है जिनका सन्तोषजनक समाधान उसके अन्तर्गत नहीं मिलता। सार्त्र के अनुसार "मेरे आत्म का सत्त्व उतना ही जागतिक है जितना पर-आत्म का सत्त्व है, इसीलिये यह पर के अहं से अधिक असंदिग्ध नहीं है। यह केवल अधिक इंटीमेट—निजी—है।" (दि ट्रासेंडेंस आफ दि इगो; न्यूयार्क, नून डे प्रेस, १९५३). इस प्रकार आत्म के एकत्त्व की व्याख्या के लिये इंटीमेसी (निजता) की फिनोमिनलोजी का आश्रय लिया गया है, जबकि आत्म के बोध मात्र के लिये बोध–कर्त्ता की पूर्व-स्वीकृति अनिवार्य है।

ऊपर हमने फिनोमिनलोजिकीय दर्शन–प्रणाली की रूपरेखा देने का प्रयत्न किया। निश्चय ही यह रूपरेखा इस दर्शन का ज्ञान देने के लिये पर्याप्त नहीं हो सकती,, किन्तु यह इस दर्शन के रूप का कुछ अनुमान अवश्य दे सकती है। इस दर्शन के तीन बिन्दु हैं जिनसे इसकी रेखाएं परिसीमित होती हैं और इस प्रकार एक आकार बनाती हैं। ये बिन्दु हैं: (१) चेतना की विषयापेक्षा—विषयवृत्ति, (२) फिनोमिनलोजिकीय स्थगन तथा (३) धर्ममूलक संज्ञान (इण्ट्यूशन आफ एस्सेंसिज़)। ऊपर के लेखों में इनका ही निरूपण हुआ है। किन्तु तेवनाज़ के दो लेखों को छोड़कर शेष चार में मुख्यतः इस संप्रदाय के प्रवर्त्तक हुस्सर्ल के विचारों का ही विमर्श हुआ है। यहां हम संक्षेप में इस संप्रदाय के अन्य तीन मुख्य दार्शनिकों—हाइडेगर, सार्त्र तथा पोंटी के विचारों की रूपरेखा प्रस्तुत करने का प्रयत्न करेंगे।

विषयापेक्षा तथा स्थगन हुस्सर्ल के दर्शन में चैतन्य को अर्थ–विधायक के रूप में, विश्व को चैतन्यान्तर्भूत के रूप में, तथा आत्म को अतिक्रामी आत्मबुद्ध के रूप

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में स्थापित करते हैं। किन्तु "चैतन्यान्तर्भूत विश्व" पारंपरिक दर्शन का प्रातिभासिक विश्व नहीं है, क्योंकि यह 'स्वलक्षण वस्तु' का विपरीतार्थक नहीं है, यह उतना ही विषयभूत चैतन्य है जितना यह चैतन्यभूत विषय है। वास्तव में स्थगन चैतन्य की अभिमुखता का दिशान्तरण घटित करता है, यह विषयभूत चैतन्य विषय की स्थिति उपलब्ध कराता है। किन्तु अभिमुखता का यह दिशांतरण चेतना को निर्विषय नहीं बनाता, चेतना अनिवार्यतः विषयापेक्षात्मक ही है। दिशांतरित आपेक्षिकता अपनी पूर्व अवस्था से केवल इस बात में भिन्न है कि अब इसका विषय अपेक्षी चैतन्य के विषय के रूप में अवगम्य होता है। इसे हमने अन्यत्र[16] "अवगत है कि (अवगत है कि वृक्ष है) के रूप में लिखा है, जहां कोष्ठांतर्गत पद "अवगत है" की अन्तर्भूत वस्तु (कांटेंट) का वाचक है। परिणामतः यहां "यह वृक्ष है" का अपना कोई सत्त्व नहीं है, सिवाय "वृक्ष–की–अवगति" होने के। किन्तु प्रथम 'अवगत है' का सत्त्व दूसरे से भिन्न है, इसका सत्त्व "अवगत है कि (यह वृक्ष है)" की अवगति होना है। यहाँ यह द्रष्टव्य है कि जबकि स्थगन चैतन्य का विश्व से निश्चित निवर्त्तन है, यह विश्व का क्षय नहीं करता, विश्व इसमें चैतन्य के आत्म–अव्यवहितत्व के माध्यम से प्रस्तुत रहता है।

यह निवर्त्तन "निर्वात्तित होने के प्रयत्न" का प्रतिफल है, जोकि मनुष्य (दार्शनिक) अपने संकल्प से घटित करता है। इस प्रकार मानव–प्रयत्न विश्व के सत्त्व को एक नया आयाम देता है। यद्यपि यह आयाम सदैव निहित रूप में विद्यमान था, क्योंकि विश्व का अन्य कोई सत्त्व नहीं है सिवाय चैतन्य की अपेक्षा के, किन्तु मानव–प्रयत्न इसे व्यक्त करता है—एक ओर विश्व को अपने में अन्तर्भूत करके और दूसरी ओर आत्म की अतिक्रामिता को— अर्थ–विधायकता को—व्यक्त करके। इस प्रकार मानव–प्रयत्न चैतन्य तथा विश्व के **सत्त्व** का प्रकाशक बनता है। इसके विपरीत हाइडेगर **सत्त्व** को गहनतर स्तर पर अवधारित करता है। वह **सत्त्व** को अस्फुट तथा गुह्य शक्ति के रूप में कल्पित करता है जो अपने को **व्यक्त करने का संकल्प करती है**, जो अपने को उद्घाटित करने के उपयुक्त स्थल का चयन करती है और अपने को मनुष्य को प्रस्तुत करने के लिए, अपने कूट से बाहर आने के लिए, अपने को व्यक्त करने तथा अपने अर्थ–धारण करने के लिए, स्वीकृति देती है। इस प्रकार हुस्सर्ल के विपरीत और फिनोमिनलोजिकीय दार्शनिक प्रेरणा के विपरीत भी, हाइडेगर में मानवप्रयत्न, सजग फिनोमिनलोजिकीय अन्वेषण, अस्थाने हो जाता है, क्योंकि यदि **सत्त्व** मानव की ओर अभिमुख होता है, अथवा कहें, यदि अपने को उद्घाटित करने के क्रम में यह वहां (दा) को, स्थल को और इस प्रकार स्वयं मानव की संभावना को, जन्म देता है, तब मानव–प्रयत्न के लिए कोई अवकाश नहीं रह

१६. द्रष्टव्य–"ज्ञान और सत्" पुस्तक में 'मानसिक और भौतिक' अध्याय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाता। इस प्रकार हाइडेगर हुस्सर्लीय विषयापेक्षा को, और उसके साथ स्वयं चैतन्य को भी, स्थगित कर देता है। ये विश्व के साथ ही कोष्ठांतर्गत हो जाते हैं।

हाइडेगर के समान ही सार्त्र ने भी हुस्सर्ल की अतिक्रामी आत्म की अवधारणा का निषेध किया, किंतु उसका यह निषेध हाइडेगर से ठीक विपरीत दिशा में उन्मुख था, उसने **सत्त्व** के विपरीत चैतन्य के विषयापेक्षी स्वरूप को प्राधान्य दिया। हुस्सर्ल के दर्शन में स्थगन विश्व के सीमांतों पर अतिक्रामी आत्म को स्थाप्ति करता है, जो विश्व का आक्षेप करता है तथा इसे अर्थ देता है। इस प्रकार यह स्थगन केवल अनुभवगत (मनोवैज्ञानिक) आत्म का ही अन्तर्भाव करता है। किन्तु सार्त्र के अनुसार यदि चेतना का स्वरूप विषयापेक्षात्मक है तब अतिक्रामी आत्म का अध्यारोष अनावश्यक है, अनुभवों के संश्लेषण तथा व्यक्ति-विधान (इंडिविजुअलाइज़ेशन) के लिए इसकी आवश्यकता नहीं है। उसके अनुसार "अतिक्रामी-आत्म चेतना की मृत्यु है।" चेतना को परिस्फुट करने के लिए न केवल विश्व का स्थगन ही आवश्यक है बल्कि अतिक्रामी आत्म का स्थगन भी आवश्यक है, अर्थात् आत्म को भी विश्व पक्ष में स्थापित करना आवश्यक है, क्योंकि "आत्म" भी अन्य विषयों के समान चेतना का एक विषय मात्र है।[17] इस प्रकार सार्त्र चेतना से वस्तु मात्र को निष्कासित कर उसे शून्य बना देता है। चेतना यदि अनिवार्यतः विषय-की-चेतना है तो चेतना का आन्तर कुछ नहीं हो सकता, अतिक्रामी आत्म भी नहीं, सब कुछ इसका बहिर्भूत ही हो सकता है। इस प्रकार सार्त्र आत्म का भी निषेध घटित करता है। परिणामतः सार्त्र के लिए स्थगन का लक्ष्य आन्तर बोध नहीं होकर प्रतिषेध (निहिलेशन) है। यह आन्तर-शून्य (नान-रीफ्लेक्सिव) चैतन्य अपनेआप में शुद्ध मात्र-चेतना है। इस चेतना को सार्त्र "स्थिति-शून्य," "अविभक्त" मात्र-चेतना कहता है। इस प्रकार सार्त्र, हुस्सर्ल के विपरीत, चेतना को पूर्णरूप से विषयापेक्षी मानता है।

इस प्रकार प्रतिषेध के फलस्वरूप पूर्णतः निश्शेषकृत चेतना धर्म-शून्य हो जाती है। इसका कोई स्वभाव—धर्म—नहीं हो सकता, यह विशुद्ध प्रेरणा, विशुद्ध अस्तित्त्व है। यह चेतना पूर्णतः पारदर्शी, मात्र-चेतना है।

१७. मैंने "ज्ञान और सत्" के "मानव प्रतिमा" अध्याय में आत्म (ज्ञातृत्वाभिमान) को इसी प्रकार स्पष्टतः एक विषय कहा है। किन्तु मैं कर्त्तृत्वाभिमान को कल्पना द्वारा और चैतन्य और विषय को अवियोज्य मानने के द्वारा सार्त्र से बहुत भिन्न हो जाता हूं। सार्त्र के विपरीत मैंने स्वतंत्रता की भी विषयापेक्षता के अंतर्गत ही व्याख्या की है। द्रष्टव्य "संस्कृतिः मानव-कर्त्तृत्व की व्याख्या" में "मानव-स्वातंत्र्य" अध्याय।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'अस्तित्व' का आशय यहां इसके प्रचलित अर्थ से भिन्न है : इसका अर्थ सत्त्व का क्रियान्वयन, अथवा मात्र तार्किक संभावना के विपरीत अस्तिता, विद्यमानता, नहीं है। (इसके विपरीत, सार्त्र का "अस्तित्व" शून्यता—नत्व—है।) यह अस्तित्ववादी का जीया गया अस्तित्व भी नहीं है, इसका अर्थ पूर्णतः फिनोमिनलोजिकीय है : यह अस्तित्व स्वतःस्फूर्त चेतना का निषेधात्मक स्थगन है।

इस प्रकार चेतना अपनेआपको सत्त्व और धर्मता से विरहित कर मात्र आयोजनात्मक (प्रोजेक्ट) हो जाती है, यह अपनी अपेक्षा (इंटेंशन) के उत्स पर उत्पन्न होकर अपने को **होने के लिए** अभियोजित करती है। इस प्रकार चेतना की स्वतंत्रता उसकी निस्स्वभावता, धर्म–शून्यता, के कारण है। किंतु यहां पर यह द्रष्टव्य है कि चेतना की यह निस्स्वभावता अनिवार्यतः इसकी विषयापेक्षात्मकता के कारण है—चेतना पूर्णतः आन्तरशून्य, नत्व, केवल इसीलिए है क्योंकि यह विषयापेक्षी—विश्वविधायक–है। इस प्रकार, **चेतना की स्वतंत्रता विश्व के बिना कुछ नहीं है, यह विश्वात्मक है।** स्थगन विश्व का प्रध्वंस नहीं करता, केवल उसका प्रतिषेध करता है, उसे भिन्न रूप में अभियोजित करने के लिए। इस प्रकार चेतना के लिए 'होना' 'कर्म करना' का पर्याय है। कर्म के द्वारा, अभियोजन के द्वारा, चेतना सब कुछ का, अपने सहित, सर्जन करती है। इस प्रकार यह अशेषतः स्वातंत्र्य है। सार्त्र के लिए फिनोमिनलोजिकीय स्थगन मनुष्य के अपनेआपको सब निर्धारणों से—अतीत के निर्धारण से भी—मुक्त करने, विच्छिन्न करने, का तथा भविष्य में प्रक्षेपित करने का, वाचक है, "अपनी चेतना के अवगाहन का, इसके सन्धान का, प्रयत्न करो तो पाओगे कि यह पूर्णतः रिक्त है, वहां तुम केवल भविष्य को पाओगे।"[18] इस प्रकार सार्त्र ने फिनोमिनलोजिकीय स्थगन को चेतना की रिक्तता की दिशा में उन्मुख किया। इसके द्वारा उसने विश्व का निषेध नहीं किया;किंतु उसके अनुसार विश्व की पुनः प्रतिष्ठा केवल चेतना की पूर्ण रिक्तता के आधार पर ही सम्भव है। इसके विपरीत माल्र्यू पोंटी चेतना को विश्व में निमग्न और उससे परिपूर्ण देखता है। उसके अनुसार, "हम कभी भी शून्यता में बंद नहीं रहते। हम सदैव भरित और सत्त्व में स्थित रहते हैं—चेहरे के समान, जोकि प्रसुप्तावस्था में भी, मृतावस्था में भी, कुछ अभिव्यक्त करने को बाध्य है..........अथवा उस मूकता के समान जोकि (निशशब्दता में भी) ध्वनि के विश्व की ही एक विधा है।"[19]

पोंटी विश्व को मूलभूत प्रदत्त (प्राइमरी डाटम) मानता है। उसके लिए स्थगन न तो अतिक्रामी चेतना की ओर संक्रमण है,जिसके सम्मुख कि विश्व अपने को

१८. सिचुएशंस्—१ पृष्ठ ७९.
१९. फिनोमिनलोजी आफ पर्सेप्शन, पृष्ठ ५१६.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूर्ण पारदर्शी रूप में (चेतना के अर्थों से रचित रूप में) प्रस्तुत करता है, और न आंतर उत्स की ओर निवर्तन है, बल्कि यह विषयी को विश्व से अनुबंधित रूप में देखना है। पोंटी के अनुसार, सार्त्र का नत्व विज्ञानवादी आंतरबोध (आइडियलिस्टिक रीफ्लेक्शन) के समान अपने को ऐसी विषयिनिष्ठता में बंद कर देता है जिसका कोई उपचार नहीं है।

पोंटी विश्व को स्वायत्त और अपारदर्शी प्रस्तुति मानता है, और उसके अनुसार फिनोमिनलोजिकीय स्थगन का प्रयोजन विश्व को इसी रूप में दर्शाना है। बोध (रीफ्लेक्शन) केवल तभी बोध है यदि यह अपने को असंज्ञात के संज्ञान के रूप में देखता है।[20] इस प्रकार मार्ल्यू पोंटी के लिए चेतना आदिम मूल नहीं है। उसके लिए वास्तविक अतिक्रामी विश्व है, चेतना नहीं।

× × × × × ×

इस प्रकार हमने चेतना और विश्व के सम्बन्धों विषयक चार दृष्टिकोणों का विहंगावलोकन किया। चेतना की विषयापेक्षात्मक अवधारणा ये चार, और कुछ दूसरे भी, विकल्प उपस्थित करती भी है। (एक मेरी पुस्तक "ज्ञान और सत्" में प्रस्तुत हुआ है) हुस्सर्ल की इस सम्बन्ध की अवधारणा में उसका अन्तर्मुखी झुकाव और, उसके स्पष्ट विरोध के बावजूद, उसकी विज्ञानवादी (आइडियलिस्टिक) अभिवृत्ति स्पष्ट है। वह एक ओर कांट के समान चेतना को विषय के संरचनात्मक नियम के रूप में देखता है और दूसरी ओर डेकार्ट के समान अतिक्रामी आत्म को स्वतःप्रकाश भी मानता है। यद्यपि वह विश्व को सत् के विपरीत प्रतिभास मात्र नहीं मानता, किन्तु वह इसे पोंटी के समान स्वायत्त और स्वप्रतिष्ठित भी नहीं मानता। यद्यपि इससे यह निष्कर्ष निकालना अनुचित है कि इस प्रकार वह विश्व को चेतना के अन्तर्भूत मानता है, ऐसा कहना उसके दर्शन पर पारम्परिक दर्शन की कोटियों का आरोप करना होगा, किन्तु तब भी उसका दर्शन "विषयोन्मुखी दर्शन" नहीं है—पोंटी के दर्शन के समान, अथवा, एक सीमा तक, सार्त्र के दर्शन के समान भी। वास्तव में विषयापेक्षी चैतन्य की कल्पना हुस्सर्ल के समान अन्तर्मुखीन और पोंटी के समान बहिर्मुखीन हुए बिना भी सम्भव है, जैसाकि "ज्ञान और सत्" तथा उसके बाद की मेरी कृतियों में द्रष्टव्य है। किन्तु तब भी, हुस्सर्ल की दार्शनिक अवधारणा हाइडेगर, सार्त्र एवं पोंटी से अधिक व्यापक और गम्भीर है, यह धर्म, रहस्यानुभव तथा मूल्य–बोध का अपने अवधारणा की सीमा में, इनकी अर्थ–हानि के बिना, समावेश कर सकती है। वास्तव में उसकी व्यापकता इससे भी सिद्ध है कि ये तीनों दार्शनिक विकल्प उसके दर्शन के एक–एक पक्ष का अतिरेकीकरण हैं।

२०. वहीं, पृ. ७६.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हाइडेगर का दर्शन हुस्सर्ल की अन्तर्मुखीनता को और गहरे में भीतर ले जाता है और सार्त्र के समान सब कुछ को, और उससे भिन्न स्वयं चेतना को भी, आश्रित रूप में देखता है, जिसका अन्तिम आश्रय चेतना का भी अतिक्रमण करने वाला **शुद्ध सत्त्व** है। किन्तु यह अभिवृत्ति विश्व को उचित स्थान नहीं दे सकती और रहस्यवाद की ओर ले जाती है। हाइडेगर पूर्णतः अवाच्य **सत्त्व** की बात करता है जो उसके अनुसार, अन्तिम मूल है और जिसमें सब कुछ का समाहार होता है। इस सत्त्व का वचन और विचार दोनों सम्भव नहीं हैं, क्योंकि उसका न नाम है और न विचार की कोटियां उस तक पहुंच सकती हैं। "मनुष्य को बोलने से पहले स्वयं **सत्त्व** को अपने प्रति बोलने देना चाहिये, चाहे इसके परिणामस्वरूप इस आह्वान के उत्तर में उसे मूक ही क्यों न होना पड़े। केवल इस प्रकार ही शब्द को उसका मौलिक अर्थ पुनः उपलब्ध हो सकेगा तथा मनुष्य को **सत्त्व** के सत्य में आश्रय का वरदान प्राप्त हो सकेगा।" [21] हमारे कहने का यह अभिप्राय नहीं है कि यह दर्शन अयुक्त है, दर्शन का प्रयोजन मूल्योद्घाटन और जीवन का संयोजन स्वीकार करने पर सम्भवतः यह दर्शन सर्वथा युक्त दर्शन होगा, और इस दृष्टि से सार्त्र का दर्शन, जो मनुष्य को मूल्यों का सर्जक और उसकी अनधिष्ठितता (अधिष्ठान से रहितता) को मूल्यों का एकमात्र आधार मानता है, उतना युक्त नहीं होगा, क्योंकि यह मनुष्य को पूर्ण रिक्तता में धकेल कर छोड़ देता है। यदि मनुष्य असत्त्व (नानबींग), नत्व तथा निस्स्वभाव चेतना है, यदि वह केवल आत्म-बाह्यता (सेल्फ एक्स्टर्नेलिटी) है, तब वह जो कुछ भी करता है वह या तो अनिवार्यतः मूल्य ही होगा अथवा सर्वथा मूल्य नहीं होगा। किन्तु सार्त्र के मनुष्य को निरन्तर सजग रह कर, प्रयत्न से, अपनी निस्स्वभावता प्राप्त करनी होती है। उसके अनुसार, स्वतन्त्र चेतना को निरन्तर स्थिरता-जड़ता-अपने दलदल में लपेटती है जिससे उसे अपने को निकालना होता है। किन्तु इसकी सफलता अन्ततः असफलता में परिणत होती रहती है। "हत्या करके मैंने अपने को एक स्वभाव—धर्म—दे दिया। पहले मैंने अपने अपराध के द्वारा यह सिद्ध करने की कल्पना की कि मैं स्वभावता—धर्मता—का निरास कर रहा हूं, किन्तु पीछे मेरा स्वभाव मेरा अपराध हो गया, इसने मुझे अपने फौलादी पंजों में जकड़ लिया।" [22] किन्तु यह समझना कठिन है कि मनुष्य धर्मता का ग्रहण कैसे करता है, वह अनिवार्यतः निस्स्वभाव क्यों नहीं रहता। सम्भवतः इसका कारण उसका निरन्तर "निजता में सत्त्व" (बींग इन-इट्सेल्फ) से आक्रांत रहना हो, यद्यपि "निजता में सत्त्व" को भी धर्मता कहना उतना उचित नहीं लगता। धर्मता विषयों की, विश्व

---

२१. वहीं, पृ० ७८.

२२. बींग एण्ड नथिंगनेस, पृ० ७८६.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की, घटक होनी चाहिये, किन्तु विषय (विश्व) सार्त्र के दर्शन में उस प्रकंप के परिणामस्वरूप उत्पन्न होते हैं जो "निजता में सत्त्व" के अचल वक्ष में "निज के लिये सत्त्व" (चेतना) का स्फोट होने से होता है। सार्त्र के शब्दों में :

"वैज्ञानिकों के अनुसार, यदि विश्व के घटक परमाणुओं में से एक भी नष्ट हो जाय तो उससे ऐसा प्रलय होगा जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को व्याप्त कर लेगा, और विशेषरूप से यह पृथ्वी तथा सौरमंडल के विलय का कारण होगा। यहाँ यह रूपक हमारे लिये उपयोगी हो सकता है। निजता के लिये सत्त्व एक ऐसे लघु निषेध के समान है जिसका मूल सत्त्व के वक्ष में है, और यह निषेध निजता में सत्त्व में एक व्यापक प्रकंप को घटित करने के लिये पर्याप्त है। यह प्रकंप ही विश्व है।"[23]

इस प्रकार विश्व का सत्त्व केवल रिक्त चैतन्य की भविष्यता के परिणाम-स्वरूप है। तब क्या भविष्यता भी घटित होने पर अतीत, और परिणामतः अ-विश्व, अचित, "निजता में सत्त्व" हो जाती है ?

जो भी हो, यहां महत्त्वपूर्ण यह हैं कि मनुष्य निस्स्वभाव होने से मूल्यों का सर्जक है, विश्व भी उसकी मूल्य-सृष्टि है क्योंकि वह उसकी निषेध-क्रिया से उत्पन्न है। किन्तु तब क्या अपनी निस्स्वभावता को प्रमाणित करने के लिये हत्या करना भी मूल्य-सृष्टि है ? और क्या दया, अहिंसा, जोकि अहिंसक कर्म के संपादन के बाद अनिवार्यतः स्वभाव हो जांयगे, निर्मूल्यता हैं ?

पोंटी के दृष्टिकोण में यह कठिनाई नहीं है। उसके अनुसार, हम विश्व में हैं। विश्व अर्धस्फुट अर्थों की रचना है। प्रत्यक्षीकरण विश्व के साथ हमारे अव्य-वहित सम्बन्ध का माध्यम है। अर्धस्फुट अर्थों का स्फुटीकरण इतिहास है :-"यदि सब कुछ अर्थपूर्ण हो तथा यदि विश्व का विकास एक तर्क-योजना का स्पष्ट क्रियान्वयन मात्र हो, तब इतिहास नहीं होगा.........और न तब ही होगा यदि सब कुछ निरर्थक (एब्सर्ड) हो और यदि घटनाक्रम कुछ स्थूल तथा अपरिवर्तनीय तथ्यों द्वारा निर्धारित हो।" इस प्रकार, उसके अनुसार चेतना पूर्वतः विद्यमान अर्धस्फुट अर्थों के विश्व में उत्पन्न होती है और उसका जीवन इन अर्थों के अवगमन, परिमार्जन तथा नियोजन का इतिहास होता है।

यह स्थापना कुछ तार्किक-तत्त्वमीमांसीय कठिनाइयां उत्पन्न करती है, किन्तु यह दर्शन-प्रणाली, विशेषतः अस्तित्ववादी दर्शन-प्रणाली, इन कठिनाइयों को दार्शनिक विचार के लिये प्रासंगिक नहीं मानती प्रतीत होती। तेवनाज़ के शब्दों में, फिनोमिनलोजी "एक विधि है—विश्व के उत्कट संज्ञान के लिये उसके साथ हमारे

२३. वहीं, पृ० ७८६.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्बन्धों को बदलने की विधि। किन्तु साथ ही, और इसी कारण, यह विश्व के प्रति हमारी अभिवृत्ति है, अथवा कहें, विश्व के साथ हमारे सम्बन्ध के प्रति अभिवृत्ति। किन्तु इसका अर्थ हुआ कि यह दर्शन-प्रणाली चैतन्य, विश्व अथवा मूल्यों के सम्बन्ध में कोई सत्य प्रकट नहीं करती, बल्कि इसके अनुसार ये सब अभिवृत्ति विशेष के व्यापार की संरचना (स्ट्रक्चर) के घटक अवयव मात्र हैं। एक प्रकार से, माल्यूं पोंटी का उपरोक्त उद्धरण इसका समर्थन करता है, वास्तव में सार्त्र भी इससे सहमत होंगे, किन्तु हुस्सर्ल और हाइडेगर इतनी सरलता से इससे सहमत नहीं होंगे। किन्तु तब सार्त्र और पोंटी के विरुद्ध कहा जा सकता है कि यदि दर्शन अभिवृत्ति को ही व्यक्त करता है तब एक दर्शन-सम्प्रदाय अन्य से अधिक उचित होने का दावा कैसे कर सकता है? यहां इस प्रसंग पर चर्चा करना स्थाने नहीं होगा, किन्तु मैंने एक दूसरे प्रसंग में इसका उत्तर देने का प्रयत्न किया है।[24]

इस दर्शन-प्रणाली के सम्बन्ध में सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात इसकी मूल्यों-पुरुषार्थों—के प्रति उत्कट जागरूकता है। इस प्रकार यह दर्शन वैज्ञानिकतावाद के, जोकि ऐन्द्रियानुभववादी तथा तार्किक प्रत्यक्षवादी दर्शन-सम्प्रदायों का मूल है, विपरीत अभिवृत्ति को व्यक्त करता है। किन्तु तेवनाज़ के अनुसार, जैसाकि हमने उसके डेकार्ट एवं हुस्सर्ल विषयक लेख में देखा, हुस्सर्ल पाश्चात्य विज्ञान का संकट ही देखता है, वह स्वयं तर्क-बुद्धि का संकट नहीं देखता। किन्तु संभवतः यह हुस्सर्ल के प्रति पूर्ण न्याय नहीं है। उसके दर्शन में स्थगन की न कोई सीमा है और न शर्त है, और वास्तव में उसका तर्कशास्त्र के आधारों का अन्वेषण तर्कशास्त्र को कोष्ठकांतर्गत किये बिना सम्भव हो ही नहीं सकता था। किन्तु हुस्सर्ल का स्थगन डेकार्ट के समान विश्व (फिनोमिना) के किसी आयाम को अप्रामाणिक नहीं बनाता, वह केवल उसके प्रामाण्य की संरचना का अन्वेषण करता है। इस दृष्टि से वह कांटानुयायी है, केवल इस भेद के साथ कि कांट "विश्व" को विज्ञान में निश्शेषतः अन्तर्भूत देखता है और हुस्सर्ल उसे उसके केवल एक आयाम के रूप में देखता है। हाइडेगर की स्थिति हुस्सर्ल से भिन्न है, वह पूर्णातिक्रामी-अनवगम्य (ट्रांसेंडेंट) **सत्त्व** को **एकमात्र** स्वीकार करता है और उसके अनुसार चेतना, आन्तर बोध, मनुष्य, इस सत्त्व की आत्म-परिपृच्छा हैं। यह **सत्त्व** ईश्वर का भी अतिक्रामी है, ईश्वर केवल अनेकों में एक सत्त्व और इस प्रकार विश्व की एक वस्तु है। इस प्रकार हाइडेगर का सत्त्व प्रायः ब्रह्म है—शांकर ब्रह्म उतना नहीं, औपनिषदिक ब्रह्म अधिक। किन्तु सार्त्र की स्थिति बहुत भिन्न है, उसका सत्त्व जड़प्राय है—अनवलोक्य, अगम्य हिमशिखर जैसा। मनुष्य एक ओर इसका निषेध है और दूसरी ओर इस निषेधजन्य "विश्व" का निषेध

---

२४. द्रष्टव्य-भारतीय संस्कृतिः-जीवित या मृत ? बिन्दु, १९७१.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है, किन्तु वह इन दोनों विपरीत सत्ताओं से निरन्तर और चहुं ओर से घिरा हुआ निरन्तर इनके द्वारा लील लिये जाने से भयाक्रांत है; मृत्यु चेतना के अस्तित्व की पूर्ण समाप्ति—विलय—का त्रास और विषाद उत्पन्न करती है। मनुष्य के, चेतना के, एक अस्तित्वमात्र होने से उसका होना निरुद्देश्य और अहैतुक है, क्योंकि सत्त्व स्वयं अहैतुक है। इस प्रकार सार्त्र का दर्शन उत्कंठा, विह्वलता और व्यग्रता का दर्शन (अस्तित्ववाद) बनता है। सार्त्र के "बींग एण्ड नथिंगनेस" में और उसकी कुछ अन्य दार्शनिक कृतियों में ये अस्तित्ववादी प्रवृत्तियां प्रकट नहीं हैं जैसी उसके उपन्यासों और कुछ अन्य कृतियों में। किन्तु इस दर्शन का किसी न किसी प्रकार के निराशावाद में परिणत होना अनिवार्य था। पोंटी का दृष्टिकोण अनिवार्यतः इस ओर प्रेरित नहीं करता, क्योंकि वह चेतना को रिक्त और एक घटना नहीं मानता, उसकी चेतना "विश्व से आपूर्ण" है, इसलिये उसका दर्शन अनिवार्यतः कर्म का दर्शन है—किन्तु निश्चित रूप से निष्काम कर्म का नहीं।

यहां अन्त में इस दर्शन-प्रणाली को यूरोपीय संस्कृति के सामान्य संदर्भ में देखना प्रासंगिक होगा। हुस्सर्ल का दर्शन यद्यपि विज्ञान का दर्शन नहीं है किन्तु वह विश्व का दर्शन, विश्व के बौद्धिक अर्थ (रेशनल मीनिंग) का दर्शन है। उसकी चेतना यद्यपि वैज्ञानिक चेतना नहीं है, किन्तु वह वैश्व-अर्थपरक चेतना ही है। यद्यपि पोंटी के विपरीत वह केवल विश्वोन्मुखी नहीं है : उसके अतिक्रमण की दिशा आन्तर है, किन्तु उसका अन्तरोन्मुखी अतिक्रमण बाह्याभियोजन के लिये ही है। सार्त्र का दर्शन अवैज्ञानिक दर्शन है—पूर्ण रूप से, और यह उसका एक स्पृहणीय गुण है, किन्तु वह हमें विज्ञान से आगे नहीं ले जाता। वह हमें अहैतुक, निरर्थक और विच्छिन्न बनाता है—विज्ञान के अर्थ-राहित्य और हेतु-राहित्य के विपरीत ? विज्ञान—वैज्ञानिकतावाद—उत्कंठा नहीं देता, क्योंकि उसके लिये उत्कंठा की संभावना ही विद्यमान नहीं है, किन्तु सार्त्र इसी असंभावना से परिव्याप्ति की उत्कंठा देता है। पोंटी इसके विपरीत इस परिव्याप्ति को चेतना की भरितता स्वीकार करता है। इस प्रकार यह दर्शन विज्ञान से परिवेष्टित दर्शन है; मूल्य, इतिहास तथा भविष्यता का दर्शन होने से यह अवैज्ञानिक भी है, और हाइडेगर की दिशा में तो यह रहस्यवादी भी है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तर्कशास्त्र का दर्शन[1]

(कु.) रूपरेखा वर्मा

प्रसिद्ध दार्शनिक क्वाइन की इस पुस्तक का उद्देश्य यद्यपि केवल परिचयात्मक है, फिर भी यह मात्र परिचय से कहीं अधिक है। तर्कशास्त्र की दार्शनिक समस्याओं के परिचय के साथ-साथ इस पुस्तक में क्वाइन की पहले लिखी गई एक दर्जन से भी अधिक पुस्तकों में बिखरे अधिकांश विचारों का सारांश मिल जाता है। क्वाइन मुख्य रूप से तर्कशास्त्र के दार्शनिक रहे हैं और बहुधा उनके विचारों की गहनता उन्हें जटिल बना देती है। दर्शन-शास्त्र के प्रचलित, जीवित विवादों में से अधिकांश पर क्वाइन की मान्यताएं न केवल प्राचीन, पारंपरिक विचारधारा से पृथक् हैं, अपितु आधुनिक विश्लेषणात्मक दार्शनिकों से भी एकदम भिन्न हैं। स्थान-स्थान पर क्वाइन के विचार तार्किक प्रत्यक्षवाद (लाजिकल पाज़िटिविज़्म) तथा अन्य समान विचारधाराओं की सशक्त आलोचनायें प्रस्तुत करते हैं। यह नवीनता तथा मौलिकता क्वाइन की किसी भी रचना को विशेष महत्व देने के लिए पर्याप्त है।

तर्कशास्त्र की दार्शनिक समस्याओं पर और भी अनेक पुस्तकें उपलब्ध हैं। उनमें से कुछ क्वाइन के ही समकक्ष प्रसिद्ध दार्शनिकों द्वारा संपादित अथवा रचित हैं। अतः इस पुस्तक का महत्व उस अर्थ में किसी अभाव की पूर्ति करने में नहीं है। इसका महत्व इसके विचारों की नवीनता तथा मौलिकता में है। इसके अलावा, स्वयं क्वाइन के समस्त दर्शन को समझने के लिए भी यह पुस्तक एक समृद्ध भूमिका के रूप में कार्य कर सकती है।

पुस्तक में सात अध्याय हैं। प्रथम अध्याय 'अर्थ एवं सत्यता' पर है। इस अध्याय में क्वाइन जिस सिद्धांत का खण्डन करना चाहते हैं वह है कि हर वाक्य का अर्थ एक प्रतिज्ञप्ति (प्रोपोज़ीशन) होती है जिसे वह वाक्य अभिव्यक्त करता है (अथवा जिसमें वह प्रतिज्ञप्ति सूत्रबद्ध होती है) और प्रतिज्ञप्तियां वाक्यों से भिन्न प्रकार की वस्तुएं हैं—वाक्यों से परे, स्वतन्त्र, अमूर्त अस्तित्व रखने वाली वस्तुएं। मान लें कि एक जर्मन-भाषी व्यक्ति यह वाक्य कहता है : " Der schnee ist weiss" (क)। इस वाक्य की सत्यता का एक साधारणतः मान्य विवरण यह

---

१. **W. V. O. Quine : Philosophy of Logic, (प्रेंटिस हाल फाउण्डेशंस् आफ फिलासफी सीरीज़; १९७०, प्रेंटिसहाल; ऐंगेलवुड क्लिफ्स, ए० जे०)**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होगा : वाक्य (क) का **अर्थ** है **कि बर्फ सफेद होती है**, और **तथ्य** भी यही है **कि बर्फ सफेद होती है**। अथवा यों कहा जाय कि इन दो वाक्यों का नाम एक ही है। इसलिए जर्मन वाक्य सत्य माना जायगा। ठीक यही विवरण अंग्रेज़ी वाक्य "Snow is white" का होगा। क्वाइन मानते हैं कि इस विवरण का एक निर्लिप्त रूप भी हो सकता है, जिसमें **अर्थ** एवं **तथ्यों** की बात का कोई अन्य निगूढ़ार्थ नहीं हो, यह केवल मूर्त वाक्यों एवं केवल मूर्त घटनाओं या वस्तुओं के विषय में कुछ कहने की एक शैली मात्र हो। इस रूप में इस विवरण में अर्थों की प्रतिज्ञप्तियां मानकर उन्हें वाक्यों से परे एवं स्वतन्त्र अस्तित्व वाला मानने की बात निहित नहीं है। परन्तु वास्तव में तर्कशास्त्र के दर्शन में 'अर्थ' का यह निर्लिप्त प्रयोग सर्वत्र नहीं मिलता। अनेक दार्शनिक 'वाक्यार्थ' का प्रयोग उपर्युक्त विवादास्पद ढंग से करते हैं, अर्थात् वे वाक्यों के अर्थों को वाक्यों से स्वतन्त्र, अमूर्त अस्तित्व वाली प्रतिज्ञप्तियों का रूप दे देते हैं। ये प्रतिज्ञप्तियां ही प्राथमिक रूप से सत्य अथवा असत्य मानी जाती हैं, इन्हीं को विश्वास, अविश्वास, ज्ञान आदि का विषय माना जाता है। और इन प्रतिज्ञप्तियों को ही आपादन (इम्प्ली-केशन) आदि तार्किक सम्बन्धों का प्राथमिक रूप से आधार माना जाता है।

क्वाइन की मुख्य आपत्ति अर्थ व प्रतिज्ञप्तियों के इस तादात्म्यीकरण के ही विरुद्ध है। ऐसे तादात्म्यीकरण के विरुद्ध, और साधारणतः किसी भी प्रकार के अमूर्त अस्तित्व के विरुद्ध, आपत्तियां नई नहीं हैं, अनेक दार्शनिक क्वाइन से पूर्व ही इन्हें उठा चुके हैं। परन्तु क्वाइन की आलोचना का आधार उन दार्शनिकों से नितांत भिन्न है। यह भिन्नता ही क्वाइन की नवीनता है। प्रतिज्ञप्तियों के विरुद्ध क्वाइन की आपत्ति का कारण "दार्शनिक मितव्ययता" नहीं है, और न ही किसी प्रकार का विशेषवाद (पर्टिकुलरिज़्म) है। इस प्रकार, सत्तामीमांसा में प्रतिज्ञप्तियों के प्रवेश को जब क्वाइन अनुचित मानते हैं तो इसका कारण प्रतिज्ञप्तियों की अमूर्तता नहीं है; क्वाइन की अस्वीकृति के पीछे कुछ अधिक ठोस तार्किक कारण हैं जिन्हें वे अधिक गम्भीर तथा अति आवश्यक मानते हैं। (पृ० ३)

संक्षेप में क्वाइन का तर्क यह है : यदि प्रतिज्ञप्तियाँ हैं, तो वाक्यों के बीच समानार्थकता तथा समानता के कुछ सम्बन्ध होने चाहिएं, क्योंकि तब हम यह निश्चित रूप से कह सकेंगे कि जो वाक्य एक ही प्रतिज्ञप्ति अभिव्यक्त करते हैं वे समान होते हैं। परन्तु वाक्यों के स्तर पर इस प्रकार के समानता-सम्बन्ध का कोई अर्थ नहीं होता। इस विचार की पुष्टि एवं स्पष्टीकरण क्वाइन इस प्रकार करते हैं : यद्यपि साधारणतः हम वाक्यों की समानार्थकता अथवा भिन्नार्थकता की बात करते हैं, फिर भी यदि हम दार्शनिक रूप से देखें तो पायेंगे कि यह प्रत्यय अस्पष्ट है। इसका प्रयोग एवं मापदण्ड आवश्यकतानुसार बदलता रहता है। उदाहरणार्थ, कभी-कभी अभि-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वृत्तियों आदि की समानता भी अर्थ की समानता के लिए अनिवार्य मानी जाती है, और कभी केवल विषयगत सूचना। इस समस्या का समाधान कठिन नहीं है। यह माना जा सकता है कि विषयगत सूचना ही अर्थों एवं प्रतिज्ञप्तियों की समानता के लिए अनिवार्य एवं पर्याप्त है। और ऐसा वस्तुतः अनेक दार्शनिकों ने माना है। परन्तु मुख्य कठिनाई यह है कि स्वयं विषयगत सूचना का प्रत्यय पर्याप्त स्पष्ट नहीं है। सूचना का प्रत्यय संदर्भ विशेष की सापेक्षता में तो स्पष्ट है, अर्थात् यदि पहले से निश्चित हो कि चिह्नों के एक समूह (वाक्य अथवा अभिव्यक्ति के अन्य सांकेतिक साधन) द्वारा दी गई सूचना निर्धारित करने में कौन से विकल्प प्रासंगिक हैं और उन विकल्पों, तत्वों की जानकारी एवं गणना कैसे हो, तो सूचना का प्रत्यय स्पष्ट भी होगा और परिणामस्वरूप पर्याप्त निश्चितता के साथ प्रयुक्त भी किया जा सकेगा। स्पष्ट है कि ऐसी स्थिति में सूचना (अर्थ या प्रतिज्ञप्ति) की समानता का प्रत्यय भी पूर्णतः स्पष्ट होगा। परन्तु साधारण भाषा के वाक्यों के संदर्भ में ऐसी स्पष्टता उपलब्ध नहीं होती। वास्तविक जीवन में प्रयुक्त साधारण भाषा के वाक्यों की समानार्थकता निर्धारित करने के लिए कौन से विकल्प प्रासंगिक एवं उपयुक्त हैं और विभिन्न विकल्पों को कैसे निर्धारित और एक–दूसरे से अलग किया जाय, यह स्वयं स्पष्ट नहीं है।

इस समस्या का एक सम्भव उत्तर आधुनिक अनुभववादियों की ओर से मिल सकता है और क्वाइन ने इस उत्तर की आलोचना विस्तार से की है। अर्थ के सत्यापन–सिद्धांत के आधार पर विषयगत सूचना निर्धारित करने के लिए सत्यापित अथवा असत्यापित करने वाले अनुभवों को एकमात्र उपयुक्त तत्व माना जा सकता है। और इनकी समानता या असमानता ही वाक्यों की समानार्थकता–असमानार्थकता (प्रतिज्ञप्ति–समानता अथवा प्रतिज्ञप्ति–भेद) निर्धारित करेगी।

इस प्रस्ताव के विरुद्ध क्वाइन जो कुछ कहते हैं वह साररूप में उनका प्रसिद्ध सिद्धान्त है—कि कोई भी वाक्य (विज्ञान का कोई अंश) शेष वाक्यों से सर्वथा स्वतंत्र तथा पृथक् नहीं होता। जहांतक अनुभवात्मक प्रमाण की बात है, साधारणतः कोई भी विशिष्ट अनुभव किसी एक अकेले वाक्य का विरोधी या समर्थक नहीं होता, अपितु यह एक पूरे तन्त्र को सत्यापित अथवा असत्यापित करता है। और तन्त्र एवं अनुभव के बीच का विरोध केवल यह दिखाता है कि उस तन्त्र को ज्यों का त्यों स्वीकार नहीं किया जा सकता, कि उस तन्त्र में कहीं कुछ परिवर्तन अनिवार्य है, यदि हम उस अनुभव को निरा भ्रम नहीं मानते हैं तो। परन्तु ठीक कहां परिवर्तन करना है, तन्त्र के किस वाक्य को अस्वीकार करना है, यह वह विरोध स्वयं निर्धारित नहीं करता। तन्त्र का अनुभव से समायोजन करने के अनेक विकल्प होते हैं, कौन सा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विकल्प चुना जाय, यह सदैव कुछ व्यावहारिक तत्वों से निश्चित होता है।[2] इस पुस्तक में क्वाइन एक प्रकार के अपवाद स्वीकार करते हैं, और ये अपवाद हैं तथाकथित प्रेक्षणात्मक वाक्य। एक प्रेक्षणात्मक वाक्य अकेला ही एक विशिष्ट अनुभव द्वारा निश्चित रूप से सत्यापित या असत्यापित हो सकता है। क्योंकि एक ऐसा वाक्य दो विरोधी अनुभवों में से किसी एक को बताता है, अतः कोई भी अनुभव उस वाक्य के लिए पूर्ण प्रमाण है जो उसे बताता है और उसके विरुद्ध पूर्ण प्रमाण है जो उसका उल्टा बताता है। ऐसे वाक्यों को, जो अन्य वाक्यों से बिल्कुल पृथक् एवं स्वतंत्र रहकर अलग-अलग सत्यापित या असत्यापित हो सकें, इतने स्पष्ट रूप से क्वाइन ने इसी पुस्तक में स्वीकार किया है। "टू डौग्माज़ आफ एम्पीरिसिज़्म" लेख में तथा अन्य पुस्तकों में क्वाइन ने स्पष्टतः कहा है कि भाषा की इकाई सम्पूर्ण विज्ञान अथवा हमारे विश्वासों का सम्पूर्ण समूह होता है। वहां वे इस सिद्धांत को पूर्णतः सामान्य रूप से रखते हैं कि कोई भी वाक्य दूसरों से पृथक् होकर अकेला सत्यापित या असत्यापित नहीं हो सकता। अपवादों का वहां न तो कोई उल्लेख है और न ही वहां उन्हें कोई स्थान दिया जा सकता है। बाद की अन्य पुस्तकों ("वर्ड एण्ड औब्जेक्ट", आदि) में भी इन अपवादों की स्वीकृति स्पष्ट नहीं है, यद्यपि क्वाइन के अन्य विचारों की उपलक्षणा के रूप में यह वहां पाई जा सकती है। परन्तु तब यह स्पष्ट नहीं होता कि इस प्रकार की परोक्ष स्वीकृति क्वाइन के सामान्य सिद्धांत का अन्तर्विरोध दिखाती है अथवा वह उनके अपने सिद्धांत का ही एक अंग है। दूसरे विकल्प में यह मानना होगा कि क्वाइन विचाराधीन सिद्धांत को सामान्य रूप में स्वीकार करते ही नहीं। प्रस्तुत पुस्तक में क्वाइन ने जिस प्रकार अपने मत को रखा है उसमें वह इन कमज़ोरियों से मुक्त है। इसीलिए बहुत सी आलोचनाएं जो क्वाइन के मत की की गई थीं, यहां लागू नहीं की जा सकतीं। इस पुस्तक में यह स्पष्ट है कि क्वाइन का सिद्धांत यह नहीं है कि भाषा का **कोई भी** वाक्य अलग से सत्यापित अथवा असत्यापित नहीं किया जा सकता। अपितु उनका सिद्धांत है कि हर वाक्य निरीक्षणात्मक वाक्य की भांति दूसरों से पृथक् एवं स्वतन्त्र नहीं है, और यह उस सिद्धांत की अपूर्णता दिखाने के लिए पर्याप्त है जिसकी क्वाइन यहां आलोचना कर रहे हैं: यह सिद्धांत कि हर

२–अपने प्रसिद्ध लेख "टू डौग्माज़् आफ एम्पीरिसिज़्म" में भी क्वाइन ने इसी विचारधारा को प्रस्तुत किया था। वहां वे इस प्रकार के चुनाव का आधार एक उपयोगितावादी सिद्धांत को मानते हैं: 'कम से कम परिवर्तन का सिद्धांत'। अपनी इन्हीं विचारधाराओं के आधार पर क्वाइन स्वयं को जेम्स से भी अधिक कट्टर उपयोगितावादी मानते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाक्य का अर्थ एक प्रतिज्ञप्ति होती है और इस प्रतिज्ञप्ति का निर्धारण (क्वाइन के शब्दों में 'विशिष्टीकरण') अनुभवात्मक प्रमाणों द्वारा होता है।

प्रतिज्ञप्ति–निर्धारण अथवा वाक्य–समानार्थकता के एक और सुपरिचित मापदण्ड की आलोचना क्वाइन ने यहां की है : 'इन्टरचेन्जेबिलिटी सेल्वा वेरिटेट'। क्वाइन की इसकी आलोचना से हम पूर्वपरिचित हैं। मुख्य युक्ति वही है जो क्वाइन व अन्य अनेक दार्शनिक इसके विरुद्ध पहले ही दे चुके हैं। इन आलोचनाओं के आधार पर क्वाइन यह निष्कर्ष निकालते हैं कि 'प्रतिज्ञप्ति' का प्रत्यय अत्यन्त अस्पष्ट और व्यर्थ है। क्वाइन के मतानुसार प्रतिज्ञप्तियों को पृथक् वस्तुएं मानने की कोई दार्शनिक आवश्यकता भी नहीं है। क्योंकि इस प्रत्यय से जो भी प्रयोजन सिद्ध करना अभिप्रेत है वह वाक्य के प्रत्यय से भी सिद्ध हो सकता है।

इस अध्याय के अन्तिम दो खण्डों में क्वाइन सत्यता के विषय में कुछ टिप्पणियां देते हैं। प्रतिज्ञप्तियों को वस्तुएं मानने वालों के साथ क्वाइन इस बात पर सहमत हैं कि सत्यता का आधार या निर्णायक भाषा नहीं अपितु वास्तविकता अथवा सत् होता है। किसी भी वाक्य को याथातथ्यता ही सत्य बनाती है। परन्तु क्वाइन कहते हैं कि इसका अर्थ यह नहीं है कि वाक्यों को सत्य अथवा असत्य नहीं कहा जा सकता। अपितु सत्यता के प्रत्यय की उपयोगिता ही वहीं है जहाँ याथातथ्यता से सम्बन्धित होते हुए भी हमें कुछ कारणों से वाक्यों का उल्लेख करना पड़ता है। क्वाइन कहते हैं कि "यहां सत्यता विधेय वाक्य के माध्यम से याथातथ्यता की ओर संकेत करता है, यह एक प्रकार के स्मारक के रूप में कार्य करता है, कि यद्यपि वाक्यों का उल्लेख हुआ है, फिर भी बात याथातथ्यता के विषय में है।" (पृ० ११) सत्यता के विषय में क्वाइन का यह सिद्धांत सत्यता विधेय से सम्बन्धित इस विवाद के सन्दर्भ में अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि भाषा में इस विधेय की कोई आवश्यकता है या कि यह केवल एक अनावश्यक शैलीगत शब्द है, और यदि आवश्यक है तो इसके प्रयोग से हम क्या नई सूचना देते हैं जो इसके प्रयोग के बिना नहीं दी जा सकती।

क्वाइन का विचार है कि सत्यता–विधेय कुछ सामान्यीकरणों के लिए अपरिहार्य होता है, क्योंकि उन सामान्यीकरणों के अन्तर्गत इतने विविध प्रकार के तथ्य होते हैं कि उन्हें वैज्ञानिक सामान्यीकरणों की भांति सीधे रूप में, वस्तुपरक भाषा में, नहीं रखा जा सकता। उस विविधता का समावेश करने के लिये वाक्यों का उल्लेख करना अनिवार्य होता है। उदाहरणार्थ, 'गोपाल नश्वर है', 'हरि नश्वर है' आदि का सामान्यीकरण आसानी से इस वाक्य द्वारा हो सकता है, 'सभी मनुष्य नश्वर हैं।' (यह माना गया है कि 'गोपाल', 'हरि' आदि मनुष्यों के नाम हैं)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परन्तु 'गोपाल या तो नश्वर है अथवा नहीं', 'वर्फ सफेद है अथवा नहीं' आदि का सामान्यीकरण इस प्रकार सम्भव नहीं है। इनका सामान्यीकरण करने के लिये हमें उच्चतर स्तर की भाषा का प्रयोग करना होगा : 'प अथवा प' प्रकार का हर वाक्य सत्य होता है। क्वाइन के अनुसार, यहां वाक्यों का उल्लेख होते हुए भी हमारी विषय–वस्तु स्वयं वाक्य नहीं, अपितु वस्तुस्थिति ही होती है, यह स्पष्ट करने के लिये सत्यता विधेय का प्रयोग किया जाता है। क्वाइन के शब्दों में, यहां "हमारी बात में अर्थपरक स्वर आ जाता है।" यहां पर एक आपत्ति उठाई जा सकती है : क्वाइन के लिए इस प्रकार के वाक्यों का सामान्यीकरण बिना अर्थपरक स्वर के नहीं हो सकता : "अ क है अथवा अ क नहीं है", "ब ख है अथवा ब ख नहीं है" आदि। यहां पर अ, ब, आदि विभिन्न प्रकार की वस्तुएं होंगी। मेरे विचार से, एक सामान्यीकरण ऐसा सम्भव है जिसमें कोई भी अर्थपरक स्वर न हो, अर्थात् जिसमें वाक्यों का कोई उल्लेख न हो। यह सामान्यीकरण इस प्रकार हो सकता है : "प्रत्येक य के लिए और प्रत्येक गुण फ के लिए, या तो य में गुण फ है अथवा य में गुण फ नहीं है।"

द्वितीय अध्याय व्याकरण पर है। इस अध्याय में क्वाइन व्याकरण के स्वरूप की विवेचना करते हैं और उस विवेचना का प्रयोग प्रतीकात्मक तर्कशास्त्र की कृत्रिम भाषा के विश्लेषण के रूप में करते हैं। प्रथमतः, क्वाइन यह बताते हैं कि व्याकरण तथा तर्कशास्त्र में एक महत्वपूर्ण भेद है, और वह यह कि तर्कशास्त्र के सामान्य सिद्धान्तों में वाक्यों का उल्लेख होते हुए भी उनका सम्बन्ध मात्र भाषा से ही नहीं होता, उनके विशिष्ट उदाहरण अनिवार्यतः भाषा–विषयक नहीं होते। क्वाइन के शब्दों में, उनमें पाई जाने वाली अर्थपरकता का कारण उनका भाषा–विषयक होना नहीं है, अपितु उनके दृष्टान्तों में एक विशेष प्रकार की विविधता का होना है। इस प्रकार तर्कशास्त्र के सिद्धान्त भाषा–विषयक शब्दावली में इसलिए सूत्रबद्ध किये जाते हैं कि अन्य किसी प्रकार से उनकी सामान्यता को अभिव्यक्ति दी ही नहीं जा सकती। इसके विपरीत "व्याकरण का उद्देश्य ही भाषा–विषयक होना है"। (पृ० १५)

क्वाइन का यह विचार भी तर्कशास्त्र के स्वभाव के विषय में प्रचलित विवाद में एक नया आयाम जोड़ देता है। तर्कशास्त्र को मात्र व्याकरण अथवा व्याकरण का विज्ञान मानने वाले विट्गेंस्टाइन के अनुसारी दार्शनिकों और तर्कशास्त्र को सृष्टि की संरचना का विज्ञान मानने वाले कुछ अल्प संख्यक दार्शनिकों के विवाद से हम सभी परिचित हैं। तर्कशास्त्र के विषय में क्वाइन की विचारधारा इन सभी से भिन्न और नवीन है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्वाइन के अनुसार एक व्याकरणविद् का उद्देश्य, संक्षेप में, यह है—ध्वनिग्रामों की शृंखलाओं के उस वर्ग को आकारिक (फारमल) रूप से निश्चित करना जिसमें व्यावहारिक रूप से समस्त (देखे, सुने गए) कथन निहित हों, और जो कथन कभी भी देखे, सुने नहीं जायेंगे वे, व्यावहारिक रूप से जहां तक सम्भव हो, उसमें निहित न हों। (पृ० २२) क्वाइन बताते हैं कि निरपेक्ष रूप से एक व्याकरणविद् का कार्य केवल इस प्रकार ही वताया जा सकता है। व्याकरणता का कोई संतोषजनक निरपेक्ष (ट्रान्सेन्डेंट) प्रत्यय उपलब्ध नहीं होने से व्याकरण के स्वरूप और व्याकरणविद् के लक्ष्य का कोई निरपेक्ष विवरण ठीक तरह से देना सम्भव नहीं है। इसे प्रत्ययों के माध्यम से ही बताया जा सकता है।

इस सन्दर्भ में सापेक्ष अथवा भाषा-अन्तर्भूत और निरपेक्ष अथवा भाषा-बहिर्भूत प्रत्ययों का भेद क्वाइन ने ही प्रथम बार किया है। यह भेद दो प्रकार के भाषा-सम्बन्धी प्रत्ययों का भेद है। प्रथम प्रकार के प्रत्यय भाषा-सापेक्ष हैं। ये किसी विशिष्ट भाषा के लिए परिभाषित होते हैं; और भाषा-निरपेक्ष प्रत्यय वे हैं जो सामान्य रूप से किसी भी भाषा के लिए प्रयुक्त हो सकते हैं। क्वाइन के अनुसार 'वैयाकरण-कोटि' और 'संरचना' के प्रत्यय भाषा-सापेक्ष होते हैं। इसी प्रकार 'शब्द' अथवा 'रूपग्राम' (मौरफीम) का प्रत्यय भी वे भाषा-सापेक्ष ही मानते हैं। क्वाइन का विचार है कि किसी विशिष्ट भाषा का व्याकरण निश्चित करते समय हम उस भाषा में पाए जाने वाले ध्वनिग्रामों (फोनीम्स) की शृंखलाओं के वर्ग को आकारिक रूप से अलग कर लेते हैं, अर्थात् यह बताने का प्रयत्न करते हैं कि उस भाषा के ध्वनिग्रामों की कौन सी शृंखलाएं उस **भाषा** की हैं, अर्थात्, उस भाषा का प्रयोग करने वाले समुदाय में **साधारण भाषा** के रूप में कौन सी शृंखलाएं (कथन) बोली या लिखी जा सकती हैं। यह कार्य ऐसी शृंखलाओं की एक सूची मात्र बना देने से भी हो सकता है। परन्तु चूंकि इनकी संख्या अनन्त है इसलिए व्याकरणविद् को आवर्तन (रिकर्शन) से काम लेना पड़ता है। उसे शब्द-सूची और कुछ व्याकरणीय संरचनाएं इस प्रकार निश्चित करनी होती हैं कि उनके माध्यम से वह अपना उद्देश्य पूर्ण कर सके। इसका अर्थ यह हुआ कि संरचना के द्वारा शब्द-सूची से प्राप्त हुई ध्वनिग्राम-शृंखलाएं सामान्य बोलचाल में शामिल होने योग्य होनी चाहिएं और इसी प्रकार जो भी ध्वनिग्राम-शृंखला सामान्य बातचीत में निहित हो सकती हो वह शब्द-सूची से संरचनाओं द्वारा उपलब्ध होनी चाहिए।

व्याकरणीय **कोटियों** के रूप में शब्द-सूची का विभाजन संरचनाओं के विवरण के लिए अनिवार्य है। संरचनाओं से न केवल कोटियों के जटिल सदस्यों की वृद्धि होती है अपितु नई कोटियों का भी जन्म हो सकता है; उदा० वाक्यों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की कोटि। यहीं पर क्वाइन व्याकरणीय कोटि की एक सामान्य परिभाषा का प्रश्न उठाते हैं। स्कौलैस्टिक दर्शन में प्रयुक्त और पी० टी० गीच द्वारा दुहराये गये प्रत्यय 'इन्टरचेंजेबिलिटी सेल्वा कौन्ग्रुइटेट' द्वारा दी गई परिभाषा को क्वाइन असन्तोषजनक पाते हैं। क्वाइन का अपना विचार है कि व्याकरणीय कोटि की भाषा-निरपेक्ष परिभाषा न केवल अनुपलब्ध है, यह अनावश्यक भी है। किसी भाषा की शब्द-सूची के विभिन्न वर्गों को विभिन्न कोटियां मानने के पीछे केवल व्यावहारिक सुगमता का ही सिद्धान्त है। और दूसरी भाषाओं में भी कुछ शब्द-समूहों को इसी नाम से पुकारने का कारण कोटि का कोई भाषा-निरपेक्ष प्रत्यय नहीं है, अपितु दोनों भाषाओं के शब्द-समूहों में कुछ ऊपरी समानताओं का होना ही है।

रूपग्राम के विषय में क्वाइन यह स्वीकार करते हैं कि यदि रूपग्राम को 'लघुतम सार्थक इकाई' के रूप में ही माना जाय तो यह प्रत्यय निश्चित ही भाषा-निरपेक्ष हो जायगा। परन्तु क्वाइन यह दिखाने के लिए तर्क देते हैं कि यह परिभाषा स्वयं असन्तोषजनक है। और ऐसी किसी अन्य सन्तोषजनक परिभाषा के अभाव में रूपग्राम का प्रत्यय भी भाषा-सापेक्ष ही मानना उचित होगा। स्पष्ट है कि यदि यह प्रत्यय भाषा-सापेक्ष है तो शब्द-सूची का प्रत्यय भी भाषा-निरपेक्ष नहीं हो सकता।

एक स्थान पर (पृ० २१) क्वाइन अपने इस कथन का पुनः परीक्षण करते हैं कि एक व्याकरणविद् का उद्देश्य भाषा-विशेष की उन ध्वनिग्राम-शृंखलाओं को बताना है जो उस भाषा का प्रयोग करने वाले समुदाय की साधारण भाषा में कभी भी बोली जाती हैं अथवा **बोली जा सकती हैं**। इस कथन को दो कारणों से अस्पष्ट एवं असन्तोषजक माना जा सकता है। प्रथमतः इसलिए कि इसमें न केवल वास्तव में बोली जाने वाली शृंखलाओं का संकेत है अपितु उनका भी संकेत है जो उस साधारण भाषा में बोली जा **सकती** हैं। इस प्रकार यहां समुदाय के वास्तविक भाषा-सम्बन्धी व्यवहार के अलावा भाषा-सम्बन्धी अभिवृत्ति का भी उल्लेख है। विज्ञान-दर्शन में प्रवृत्ति विषयक प्रत्ययों, प्रतितथ्यात्मक सोपाधिक वाक्यों आदि पर चलने वाले विवाद से हम परिचित ही हैं, और इसलिए इस विषय में क्वाइन के अपने मत का स्पष्टीकरण उचित जान पड़ता है। पुनः, उस विवाद के सन्दर्भ में क्वाइन का मत महत्वपूर्ण प्रतीत होता है। क्वाइन मानते हैं कि प्रवृत्तियों के विषय में हम सार्थकता से बात कर सकते हैं, और ऐसे कथन वर्तमान सन्दर्भ में, और किसी अन्य विज्ञान में भी, प्रयुक्त होने चाहिएं। उनके अनुसार अभिवृत्ति एक ऐसी परिकल्पित आंतरिक स्थिति है जो व्यवहार का आंशिक कारण होती है और व्यवहार उस अभिवृत्ति का प्रमाण होता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दूसरी अधिक गम्भीर कठिनाई 'साधारण भाषा' पद के कारण है। साधारणता, का प्रत्यय अस्पष्ट है और इसका कोई निश्चित मापदण्ड उपलब्ध नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि स्वयं साधारणता का प्रत्यय व्याकरण के प्रत्यय पर निर्भर करता है। भाषा-विशेष में क्या साधारण भाषा के अन्तर्गत माना जाय और क्या नहीं, यह व्याकरणविद् बहुत अंश तक अपनी सुविधानुसार निश्चित कर लेता है। इस प्रकार 'वाक्य' का प्रत्यय भी भाषा-निरपेक्ष न होकर भाषा-सापेक्ष हो जाता है।

व्याकरण की इस विवेचना के पश्चात् क्वाइन प्रतीकात्मक तर्कशास्त्र की भाषा का व्याकरणीय विश्लेषण करते हैं। इस विश्लेषण की एक-दो बातों को छोड़कर शेष से प्रतीकात्मक तर्कशास्त्र का कोई प्रारम्भिक छात्र भी परिचित होगा। कहीं-कहीं प्रचलित चिह्नों से भिन्न चिह्न अपनाये गये हैं। जैसे, चल प्रतीक x, **y**, z के अलावा यदि अन्य चल प्रतीकों की आवश्यकता हो तो साधारणत: u, v, w का प्रयोग होता है। परन्तु क्वाइन x', y', z' इत्यादि का प्रयोग करते हैं। चल प्रतीक x', **x"** आदि को वे व्याकरण की दृष्टि से जटिल मानते हैं, क्योंकि ये शब्दसूची में पाये जाने वाले x, **y**, z पर 'स्वरांकन' (ऐक्सेन्चुएशन) की रचना प्रयुक्त करने से प्राप्त होते हैं। एकाश्रित, द्विआश्रित आदि विधेयों का सुपरिचित भेद किया गया है। 'स्वरांकन' के अलावा अन्य व्याकरणीय रचनाएं भी मानी गई हैं, जैसे, एकाश्रित विधेय का गुणारोपण, द्वि-आश्रित विधेय का गुणारोपण, निषेध, संयोजन तथा अस्तित्वपरक परिमाणन (एग्ज़िस्टेंशियल क्वांटीफिकेशन) कुछ। अन्य तार्किक प्रतीकों को क्वाइन अनावश्यक मानते हैं, उदा० विकल्प, सोपाधिक चिह्न, सार्वभौमिक परिमाणक (यूनीवर्सल क्वांटीफायर) आदि, क्योंकि इन प्रतीकों द्वारा बनाये गये वाक्यों को दूसरे वाक्यों में परिवर्तित किया जा सकता है। अभिव्यक्ति के लिए ये प्रतीक अपरिहार्य नहीं हैं। नामों की अनावश्यकता के लिए क्वाइन की युक्ति यह है : मान लें कि 'अ' एक नाम है और '$\text{फ}_{\text{अ}}$' एक वाक्य है। '$\text{फ}_{\text{अ}}$' इस वाक्य के समान है :

'$(\exists_{\text{य}})(\text{अ} = \text{य} \cdot \text{फ}_{\text{य}})$'। 'अ' केवल सन्दर्भ 'अ = ...' में ही घटित होता है और 'अ = ...' को सदैव एक सरल **विधेय** 'आ' के रूप में प्रयुक्त किया जा सकता है। अत: '$\text{फ}_{\text{य}}$' का परिवर्तित रूप यह होगा : '$(\exists_{\text{य}})\ (\text{आ}_{\text{य}} \cdot \text{फ})_{\text{य}}$। नाम की अनन्यता सुरक्षित रखने के लिए वाक्य इस प्रकार भी रखा जा सकता है :

$\sim (\exists_{\text{य}})\ (\exists_{\text{व}})\ (\text{आ}_{\text{य}} \cdot \text{आ}_{\text{व}} \cdot \sim (\text{य} = \text{व})\ )$।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यहां यह मानना होगा कि 'अ से तादात्म्य होना', 'ब से तादात्म्य होना' आदि एकाश्रित विधेय हैं। परन्तु ऐसा मानना कहां तक सही है, इसमें सन्देह है। फलन–संकेतों (फंक्टर्स) को भी क्वाइन इसी प्रकार अनावश्यक मानते हैं। यद्यपि वे यह स्वीकार करते हैं कि नाम और **फलन**–संकेत दोनों ही भाषा को सुगमता प्रदान करते हैं।

किसी शब्द के शब्द–सूची में सम्मिलित होने का अर्थ यह नहीं है कि वह नाम है। विधेयों को भी शब्द–सूची में ही शामिल किया जाता है। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि विधेयों को नामों का स्तर देना अनिवार्य है। बल्कि विधेय नाम हो ही नहीं सकते। क्वाइन के अनुसार नाम की विशेषता यह है कि यह किसी चल प्रतीक के स्थान पर संगतिपूर्वक रखा जा सकता है,और यदि सत्य सार्वभौमिक परिमाणकों (यूनीवर्सल क्वांटीफायर्स) के उदाहरण देने के लिए इसे प्रयुक्त किया जाय तो परिणाम सत्य ही होता है। (पृ० २७)

क्वाइन स्पष्ट करते हैं कि विधेयों को नाम न मानने का अर्थ यह नहीं है कि गुण भी नहीं हैं। गुण हैं कि नहीं यह एक भिन्न प्रश्न है। परिमाणन के चल प्रतीकों के मूल्यों में गुणों का भी समावेश करके उन्हें सत्तामीमांसा में स्थान दिया जा सकता है, और यदि हम अपनी भाषा में नामों का समावेश करें तो उन्हें भी नाम दिये जा सकते हैं। परन्तु वे नाम एक–वाचक पद होंगे जो चल प्रतीकों के स्थान पर रखे जा सकेंगे, नकि विधेय। क्वाइन का मुख्य उद्देश्य यहां विधेय तथा गुण के नाम के तार्किक भेद को स्पष्ट करना है।

अन्त में, क्वाइन उल्लिखित तार्किक व्याकरण की पूर्णता का प्रश्न उठाते हैं। इस संदर्भ में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण समस्या तथाकथित प्रतिज्ञप्त्यात्मक अभिरुचियां अभिव्यक्त करने वाले पदों के विषय में उठती है। इन पदों से बने वाक्यों की व्यवस्था करने के लिए क्वाइन मुख्यतः तीन विधियां सुझाते हैं। इन तीनों की कुछ न कुछ कठिनाइयां हैं अतः कोई भी पूर्णरूप से संतोषजनक नहीं है। प्रथम विधि यह हो सकती है कि एक ऐसी नई संरचना मानी जाय जो एक वाक्य से निपात (पार्टिकिल) 'कि' जोड़कर एक नए नाम की रचना करे। इस अवस्था में नामों को भाषा में स्वीकार करना होगा और यह प्रश्न भी उठेगा कि ये नाम किस के हैं। संभवतः इन्हें प्रतिज्ञप्तियों के नाम मानना पड़ेगा। दूसरी विधि है एक ऐसी संरचना मानना जो एक द्वि–आश्रय विधेय और एक वाक्य से, 'कि' निपात का प्रयोग करके, एक एकाश्रय विधेय का निर्माण करे। इस विधि में प्रतिज्ञप्तियों का बहिष्कार नहीं होता, परन्तु प्रतिज्ञप्तियों को नाम देने की कोई आवश्यकता नहीं होती। तृतीय विधि में 'विश्वास करता है', 'विचार करता है' आदि की एक नवीन कोटि स्वीकार करनी होगी। इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कोटि को 'अभिवृत्यात्मक पद' (ऐटीट्यूडिनल्स) यह नाम दिया जा सकता है। इसके अलावा एक ऐसी संरचना भी माननी होगी जिसकी सहायता से एक अभिवृत्यात्मक पद (उदा० 'विश्वास करता है') तथा एक वाक्य (उदा० 'प्लेटो का सिद्धान्त सही है') को जोड़ कर एक एकाश्रित विधेय ('विश्वास करता है कि प्लेटो का सिद्धान्त सही है') की रचना हो सके। इस विधि को अपनाने के बाद हम प्रतिज्ञप्त्यात्मक अभिवृत्तियों के **विषयों की** बात नहीं कर सकते, और फिर हम इस प्रकार के कथन भी सार्थकता से प्रयुक्त नहीं कर सकते कि अमुक व्यक्ति कुछ न कुछ विश्वास करता है। अर्थात् जो विश्वास किया जा रहा है उसको किसी चल प्रतीक के मूल्य–रूप में नहीं मान सकते।

प्रतिज्ञप्त्यात्मक अभिवृत्तियां अभिव्यक्त करने वाले पदों के अलावा कुछ दूसरे समस्यात्मक शब्द भी हैं, यथा निश्चयवाचक (मोडल) पद, उदा० 'अनिवार्यतः', 'संभवतः' आदि। तार्किक रूप से ये भी उसी प्रकार की समस्या प्रस्तुत करते हैं जैसी प्रतिज्ञ–प्त्यात्मक अभिवृत्तियां अभिव्यक्त करने वाले पद। नई संरचनाएं स्वीकार करके इनकी व्यवस्था भी सम्भव है। परन्तु जैसा हम पहली समस्या में देख चुके हैं, इस प्रकार की व्यवस्थाएं पूर्णतः संतोषजनक नहीं हैं।

तृतीय अध्याय का विषय है, 'सत्यता'। सत्यता के विषय में क्वाइन का सिद्धान्त अनुरूपता–सिद्धान्त (कौरेसपौन्डेन्स) का समर्थक है, यद्यपि क्वाइन के दर्शन में इसका रूप इसके प्राचीन पारंपरिक रूप से अत्यन्त भिन्न है। क्वाइन का सत्यता सिद्धान्त शुद्ध तार्किक विचारों पर आधारित है और इसलिए यह इस विषय में की गई अधिकांश विवेचनाओं से कहीं अधिक सारगर्भित प्रतीत होता है। इस विषय की विवेचना करने से पहले क्वाइन इस संदर्भ में तर्कशास्त्र एवं व्याकरण के सम्बन्ध का उल्लेख करते हैं। हम देख चुके हैं कि इन दोनों का भेद क्वाइन के अनुसार क्या है। परन्तु क्वाइन, अधिकांश आधुनिक दार्शनिकों की भांति, इनके बीच घनिष्ठ सम्बन्ध मानते हैं। और यह सम्बन्ध यह है कि तर्कशास्त्र वाक्यों की व्याकरणीय संरचना के आधार पर ही उनकी सत्यता–स्थितियां खोजता एवं निर्धारित करता है। इसीलिए सत्यता के विषय में एक सामान्य दृष्टिकोण अथवा सिद्धान्त का निर्धारण तर्कशास्त्री के लिए अनिवार्य है।

यों तो क्वाइन के सम्पूर्ण तर्क–दर्शन पर टार्स्की का प्रभाव परिलक्षित होता है, फिर भी उनके सत्यता सम्बन्धी विचारों पर यह प्रभाव सबसे अधिक गहरा जान पड़ता है। टार्स्की के प्रसिद्ध कथन " 'बर्फ सफेद है' सत्य है यदि, और केवल यदि, बर्फ सफेद है" को क्वाइन भी मानकर चलते हैं, यद्यपि अन्य अनेक बातों में क्वाइन एवं टार्स्की में पर्याप्त भिन्नताएं हैं। वस्तुतः, विभिन्न प्रकार के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाक्यों की सत्यता के लिए दिये गये क्वाइन के सिद्धान्तों एवं विस्तृत विवेचना के पीछे अन्तिम रूप से एक यही मान्यता है जो ऊपरी रूप से पूर्णतः निर्दोष एवं निर्विवाद प्रतीत होती है।

'सत्यता' की अवधारणा को समझाने के लिए क्वाइन टार्स्की द्वारा प्रयुक्त अवधारणा 'संतुष्टि' का प्रयोग करते हैं और 'संतुष्टि' की "आवर्ती" अथवा "आगमनात्मक" परिभाषा देते हैं। अन्य तर्कशास्त्रियों की भांति क्वाइन भी यह मानते हैं कि खुले वाक्यों (वे वाक्य जिनमें मुक्त चल प्रतीक आते हैं) को 'सत्य' अथवा 'असत्य' नहीं कहा जा सकता, वे तो केवल कुछ वस्तुओं अथवा घटनाओं द्वारा संतुष्ट किये जा सकते हैं। (यह उल्लेखनीय है कि आगे क्वाइन स्वयं 'सत्यता' का एक अर्थ देते हैं जिसमें खुले वाक्य भी सत्य अथवा असत्य कहे जा सकते हैं। (पृ० ३८) परन्तु मेरे विचार से यह क्वाइन के सिद्धान्त में कोई वैचारिक विरोध नहीं लाता, क्योंकि क्वाइन का विचार यह प्रतीत होता है कि **साधारण** अर्थ में, अथवा तर्कशास्त्रियों द्वारा साधारणतः, "सत्य" का प्रत्यय खुले वाक्यों पर लागू नहीं किया जाता, यद्यपि उससे भिन्न एक ऐसा अर्थ भी हो सकता है जिसमें खुले तथा बन्द दोनों प्रकार के वाक्यों को सत्य या असत्य कहा जा सके। वस्तुतः क्वाइन एक ऐसा ही सामान्य अर्थ 'सत्यता' को देने का प्रयत्न करते हैं।) उदा०, "य शासन करता है" एक खुला वाक्य है और इसे प्रत्येक शासक संतुष्ट करता है, जो शासक नहीं है, वह इसे संतुष्ट नहीं करता। "य व का मित्र है" को दो व्यक्तियों का प्रत्येक ऐसा जोड़ा संतुष्ट करता है जिनमें मित्रता है। वस्तुओं के वे समूह जिनके द्वारा खुले वाक्यों की संतुष्टि या असंतुष्टि की बात हम करते हैं, क्रमबद्ध समूह होने चाहिएं। क्वाइन बताते हैं कि क्रमबद्ध जोड़े तथा कुलक (सेट) की अवधारणा उस वस्तुपरक भाषा में शामिल नहीं है जिसका अध्ययन किया जा रहा है अपितु वे उस स्वाभाविक, साधारण अधिभाषा (मैटालैंग्वेज) में है जिसके द्वारा हम वस्तुपरक भाषा की विवेचना कर रहे हैं। यह बात तर्कशास्त्र में आधारभूत स्थान रखती है; विशेषतः सेट आदि से सम्बन्धित विरोधाभासों के कारण यह भेद सर्वमान्य सा हो गया है।

'संतुष्टि' की यह संक्षिप्त भूमिका देने के बाद क्वाइन 'अनुक्रम' (सीक्वेन्स) की अवधारणा का प्रयोग करते हैं। क्वाइन इस शब्द का कुछ असाधारण, पारिभाषिक प्रयोग करते हैं। इस प्रयोग के अनुसार वस्तुओं या घटनाओं का कोई भी समूह अनुक्रम के नाम से पुकारा जा सकता है। चूंकि तार्किक दृष्टिकोण से ऐसे 'समूह' भी माने जा सकते हैं जिनमें केवल एक ही सदस्य हो, अतः एक अकेली वस्तु को भी एक 'अनुक्रम' कहा जायगा। किसी अनुक्रम द्वारा एक वाक्य की संतुष्टि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को इस प्रकार समझाया गया है—मान लें कि एक अनुक्रम क है और वाक्य ख। यदि हम ख के प्रथम चल प्रतीक (य) को क की प्रथम वस्तु का मूल्य दें, द्वितीय चल प्रतीक (व) को क की द्वितीय वस्तु का मूल्य दें और इसी प्रकार क्रमबद्ध रूप से आवश्यकतानुसार मूल्य देते जांय, तो परिणामस्वरूप प्राप्त हुआ वाक्य यदि सत्य है तो हम कहेंगे कि क ख को संतुष्ट करता है, अन्यथा नहीं। यदि क की लम्बाई ख के चल प्रतीकों की संख्या से अधिक है तो भी क द्वारा ख की संतुष्टि की बात की जा सकती है। क की अतिरिक्त वस्तुयें ख के लिए केवल अप्रासंगिक होंगी। इसी प्रकार यदि क में ख के चल प्रतीकों से कम सदस्य हैं तो भी क ख को संतुष्ट कर सकता है। ऐसी स्थिति में निर्णायक सिद्धान्त यह है: यदि अनुक्रम के अन्तिम तत्व को बार बार जोड़ने से बना अनुक्रम वाक्य को संतुष्ट करता है तो प्रथम अनुक्रम भी उस वाक्य को संतुष्ट करेगा। इस प्रकार य ≤ व को अनुक्रम [१] संतुष्ट करता हुआ माना जायेगा।

उल्लिखित विवरण से यह स्पष्ट है कि जबतक हम 'सत्य' व 'असत्य' शब्द को कोई नया प्रयोग न दें तबतक हम साधारणतः खुले वाक्यों के विषय में सत्यता-असत्यता का प्रश्न निरपेक्ष रूप से नहीं उठा सकते। हम यह नहीं पूछ सकते कि '$फ_य$' सत्य है या असत्य; हमें यह पूछना चाहिए कि '$फ_य$' को अमुक वस्तु संतुष्ट करती है या नहीं; दूसरे शब्दों में, '$फ_य$' अमुक वस्तु या तथ्य **के लिए सत्य** है या नहीं। परन्तु एक ऐसा प्रयोग क्वाइन मानते हैं जिसके आधार पर खुले वाक्यों को निरपेक्ष रूप से भी सत्य या असत्य माना जा सकता है। इस प्रयोग के अनुसार एक खुला वाक्य केवल तब सत्य कहा जायगा जब उसे सभी अनुक्रम संतुष्ट करते हों और तब असत्य कहा जायगा जब कोई भी अनुक्रम उसे संतुष्ट नहीं करता हो।

क्वाइन सत्यता की यह परिभाषा न केवल खुले वाक्यों के लिए स्वीकार करते हैं अपितु बन्द वाक्यों के लिए भी प्रयुक्त करते हैं। अतः जैसाकि क्वाइन स्वयं कहते हैं, 'संतुष्टि' के माध्यम से 'सत्यता' को परिभाषित करना अत्यन्त सरल है। इस परिभाषा के अनुसार सत्यता का अर्थ है **समस्त अनुक्रमों द्वारा संतुष्टि** (पृ० ३८)। यदि इसी परिभाषा को अन्तिम रूप से पर्याप्त माना जाय और सत्यता निर्धारित करने के लिए इसे मापदण्ड के रूप में भी माना जाय तो स्पष्टतः यह एक व्यर्थ परिभाषा होगी। क्योंकि जैसाकि हम देख चुके हैं, 'अनुक्रम द्वारा संतुष्टि' की व्याख्या में सत्यता के प्रत्यय का प्रयोग किया गया है। अतः पुनः 'सत्यता' को 'अनुक्रम द्वारा संतुष्टि' से परिभाषित करना चक्रिकता दोष से दूषित होगा। परन्तु यह दोष क्वाइन की व्याख्या में नहीं पाया जाता। क्योंकि, जैसाकि हम देखेंगे, क्वाइन 'अनुक्रम द्वारा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सतुष्टि' की एक और परिभाषा देते हैं जिसे वे "आवर्त्ती" अथवा "आगमनात्मक" कहते हैं। इस परिभाषा में 'सत्यता' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। वस्तुतः अन्तिम रूप से ये दोनों ही प्रत्यय एक-दूसरे से कम अथवा अधिक आधारभूत या सरल नहीं हैं, दोनों एक ही स्तर के प्रतीत होते हैं और दोनों की एक-दूसरे से व्याख्या की जा सकती है। क्वाइन ने जो परिभाषा 'अनुक्रम-संतुष्टि' की दी है वही थोड़े से शाब्दिक परिवर्तनों के बाद 'सत्यता' के लिए भी दी जा सकती है और फिर 'अनुक्रम संतुष्टि' को 'सत्यता' से परिभाषित कर सकते हैं।

हम देख चुके हैं कि जिस प्रकार की तार्किक भाषा का अध्ययन क्वाइन कर रहे हैं उसमें नामों का समावेश नहीं हुआ है। अतः इसमें एकमात्र प्रकार के बंद वाक्य अस्तित्वपरक परिमाणन वाले वाक्य हैं। इन वाक्यों के विषय में क्वाइन कहते हैं कि किसी अनुक्रम की **सभी** वस्तुएं ऐसे वाक्य के लिए अप्रासंगिक हैं जिसमें एक भी मुक्त चल प्रतीक नहीं होता, अर्थात् जिसके सभी चल प्रतीक बद्ध होते हैं। और इस आधार पर क्वाइन यह निष्कर्ष निकालते हैं कि यदि एक बंद वाक्य सत्य है तो इसे सभी अनुक्रम संतुष्ट करते हैं, और यदि असत्य है तो कोई भी अनुक्रम उसे संतुष्ट नहीं करता। इस प्रकार यहां भी सत्यता का अर्थ केवल 'सभी अनुक्रमों द्वारा संतुष्टि' ही हुआ।

'अनुक्रम-संतुष्टि' की आगमनात्मक परिभाषा देने से पूर्व क्वाइन वाक्यों को जटिलता के आधार पर विभाजित करते हैं। गुणारोपण वाले वाक्यों में न्यूनतम जटिलता होती है, अर्थात् वे सरलतम होते हैं। अतः उन्हें शून्य मात्रा की जटिलता वाला माना जा सकता है। निषेधात्मक एवं अस्तित्वपरक परिमाणन वाले वाक्यों में उन वाक्यों से एक मात्रा अधिक जटिलता होगी जिनका निषेध अथवा परिमाणन करके वे बनाये गये हैं। एक बार निषेधात्मक, संयोजक तथा अस्तित्वपरक वाक्यों की संतुष्टि-स्थितियां जान लेने पर (अर्थात् यह जान लेने पर कि कोई अनुक्रम किन दशाओं में इन्हें संतुष्ट करता है) सामान्य रूप से यह जान लेना आसान है कि किसी भी अंश की जटिलता वाले वाक्य की संतुष्टि-स्थितियां क्या हैं। इसी योजना के आधार पर 'अनुक्रम-संतुष्टि' की एक सामान्य आगमनात्मक परिभाषा देना संभव है। यह परिभाषा तार्किक भाषा में कुछ सूत्रों द्वारा दी गयी है। इस परिभाषा में विभिन्न प्रकार के गुणारोपणों वाले वाक्यों के लिए अलग अलग संतुष्टि-स्थितियां बताई जांयगी। नमूने के रूप में केवल एकाश्रित और द्वि-आश्रित विधेय ही लिये गये हैं। इसके पश्चात् निषेधात्मक, संयोजक एवं अस्तित्वपरक वाक्यों के लिए संतुष्टि-स्थितियां बताई गई हैं। इसके कुछ प्रतीक इस प्रकार हैं: वर्णमाला के 'प'वें, 'फ'वें आदि चल प्रतीकों के लिए 'च.प्र. (प)', 'च.प्र. (फ)' आदि का,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और किसी भी अनुक्रम 'य' की 'प'वीं, 'फ'वीं आदि वस्तुओं के लिए '$य_{प}$', '$य_{फ}$' आदि का प्रयोग किया जा सकता है। मान लें कि 'अ' वस्तुपरक भाषा का एक एकाश्रित विधेय है, और 'ब' एक द्वि-आश्रित विधेय है। इसी प्रकार कुछ अन्य प्रतीक अन्य प्रकार के विधेयों के लिये लिए जा सकते हैं। परिभाषा निम्न प्रकार है : (पृ० ४१–४२)

(१) जो भी य तथा प हो : 'अ' और उसके बाद च. प्र. (प) जोड़ने से बने वाक्य को य तब और केवल तब सन्तुष्ट करता है जब $अ_{य_{प}}$

शब्द–सूची में उपलब्ध प्रत्येक एकाश्रित विधेय के लिए एक ऐसा सूत्र दिया जायगा :

(२) जो भी प, फ, तथा य हो : 'ब' और उसके बाद च. प्र. (प) तथा च. प्र. (फ) को जोड़ने से बने वाक्य को य तब और केवल तब सन्तुष्ट करता है जब $ब_{य_{प}\ य_{फ}}$

यहां भी हर द्वि-आश्रित विधेय के लिए एक ऐसा सूत्र दिया जायेगा।

(३) जो भी अनुक्रम य तथा वाक्य व हो : य ⌐ व को तब और केवल तब सन्तुष्ट करता है जब य व को सन्तुष्ट न करता हो।

(४) जो भी अनुक्रम य तथा वाक्य व एवं व' हों : य व तथा व' का संयोजन तब और केवल तब सन्तुष्ट करता है जब य व को सन्तुष्ट करता हो तथा य व' को सन्तुष्ट नहीं करता हो।

(५) जो भी अनुक्रम य, खुले वाक्य व तथा च. प्र. प हो : व के च. प्र. (प) के लिए किये गये अस्तित्वपरक परिमाणन को य तब और केवल तब सन्तुष्ट करता है जब व को एक ऐसा अनुक्रम य' सन्तुष्ट करता हो कि $य_{फ}$ = '$य_{फ}$' जहां कि फ≠य।

अन्तिम सूत्र अस्तित्वपरक परिमाणन वाले वाक्य के लिए दिया गया है। इसका अर्थ अधिक सरल भाषा में इस प्रकार दिया गया है। एक अस्तित्वपरक परिमाणन में एक वाक्य (मौलिक रूप से खुला वाक्य) होता है जिसके पहले अस्तित्वपरक परिमाणक जुड़ा होता है जिसका चल प्रतीक, मान लें वर्णमाला का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'प' वाँ अक्षर है। यह वाक्य किसी भी अनुक्रम के लिए केवल तब सत्य माना जायगा यदि इसका घटक वाक्य किसी ऐसे अनुक्रम के लिए सत्य हो जो प्रथम अनुक्रम से इसके 'प' वें अंश के अलावा सभी प्रकार से समानता रखता हो। स्पष्ट है कि यदि वाक्य में एक भी मुक्त चल प्रतीक नहीं है तो अस्तित्वपरक वाक्य के घटक वाक्य का एक अनुक्रम द्वारा भी सन्तुष्ट होना यह अनुमानित करने के लिए पर्याप्त होगा कि **सभी** अनुक्रम अस्तित्वपरक वाक्य को सन्तुष्ट करेंगे। एक बंद वाक्य की सन्तुष्टि–स्थितियों के ऐसे नियम के प्रकाश में क्वाइन का वह उलझन पैदा करने वाला कथन समझ में आ जाता है जिसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं, अर्थात् यह कथन कि चूंकि एक स्वतन्त्र चल प्रतीकों से रहित वाक्य के लिए किसी भी अनुक्रम की सभी वस्तुएं अप्रासंगिक हैं इसलिए यदि वह वाक्य सत्य है तो सभी अनुक्रम उसे सन्तुष्ट करेंगे, और असत्य है तो कोई भी उसे सन्तुष्ट नहीं करेगा।

परन्तु फिर भी, 'अप्रासंगिकता', 'सत्यता' और 'असन्तुष्टि' के प्रत्ययों का प्रयोग यहां विचित्र एवं असाधारण प्रतीत होता है। इसीलिए नियम (५) बहुत कुछ निरंकुश सा प्रतीत होता है। यह ठीक है कि एक अस्तित्वपरक वाक्य के घटक वाक्य का एक भी अनुक्रम से सन्तुष्ट किया जाना पूरे वाक्य को सत्य मानने के लिए पर्याप्त होगा, ऐसा मानना सामान्य धारणा के अनुरूप भी है। परन्तु जो अनुक्रम अप्रासंगिक हैं उनके लिए भी वाक्य को सत्य मानना विचित्र जान पड़ता है। सम्बद्ध प्रत्ययों के इस प्रयोग की असाधारणता इस बात से और भी बढ़ जाती है कि उल्लिखित अर्थ में चाहे वाक्य की सत्यता के लिए पर्याप्त प्रमाण मिले, चाहे असत्यता के लिए मिले, दोनों ही स्थितियों में सभी अनुक्रम अप्रासंगिक माने जायगे, और अप्रासंगिक होते हुए भी प्रथम स्थिति में उन्हें वाक्य को सन्तुष्ट करने वाला माना जायगा और द्वितीय में वाक्य को असन्तुष्ट करने वाला। यह आलोचना शब्दों के प्रयोग से ही सम्बन्धित है क्वाइन अथवा टार्स्की के सिद्धान्त से नहीं, क्योंकि शब्दों का प्रयोग प्रयोग-कर्त्ता की इच्छा पर निर्भर हो सकता है।

'सन्तुष्टि' की इस प्रकार परिभाषा देने के बाद क्वाइन इसका स्वरूप समझाते हैं। परिभाषाएं दो स्तरों की बताई गई हैं। प्रथम, वे परिभाषाएं जिनके माध्यम से परिभाषित पद का भाषा में बहिष्कार किया जा सके। क्वाइन इन्हें सीधी (डाइरेक्ट) परिभाषाएं कहते हैं और इन्हें उस भाषा से एक अधिक ऊंचे स्तर की भाषा मानते हैं जिसका पद परिभाषित किया जा रहा हो। निम्नतर स्तर की परिभाषाएं परिभाषित पदों का बहिष्कार करने में समर्थ नहीं होतीं, यद्यपि यह उन पदों का प्रयोग पूर्णतः निश्चित कर देती हैं। क्वाइन की परिभाषा इसी प्रकार की है। परन्तु इस परिभाषा को प्रथम प्रकार का रूप दिया जा सकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्वाइन सेट सिद्धान्त की सहायता से 'य व को सन्तुष्ट करता है' की यह सीधी परिभाषा देते है :—

$$(६)\ (\exists_{ल})\ (स\ र_{ल} \cdot \angle य, व \angle \in ल)$$

"[य, व] ∈ ल" का अर्थ है कि य का व से ल सम्बन्ध है। अब यदि उल्लिखित आगमनात्मक परिभाषा के पाँचों सूत्रों में "सन्तुष्ट करती है" के स्थान पर सर्वत्र "सम्बन्ध ल रखती है" रखा जाय तो स्पष्ट है कि ये पांचों सूत्र मिलकर 'ल' सम्बन्ध का इस प्रकार निश्चित निर्धारण करेंगे कि यह सम्बन्ध 'सन्तुष्टि सम्बन्ध' ही होगा। उपरोक्त सीधी परिभाषा के पद '$स\ र_{ल}$' को आगमनात्मक परिभाषा के परिवर्तित पांचों सूत्रों के लघु रूप में प्रयुक्त किया गया है। इस प्रकार सूत्र (६) सन्तुष्टि सम्बन्ध की सीधी परिभाषा देता है।

यहां पर क्वाइन एक और प्रश्न उठाते हैं कि क्या परिभाषा (६) को पुनः वस्तुपरक भाषा में रखा जा सकता है? और यदि रखा जा सकता है, तो इस पुनर्परिवर्तन में कोई तार्किक कठिनाइयां तो नहीं उत्पन्न होती हैं? प्रतीकात्मक तर्कशास्त्र की सुपरिचित विधियों से क्वाइन यह दिखाने में सफल होते हैं कि यदि सेट सिद्धान्त के चिह्न "∈" को वस्तुपरक भाषा में शामिल कर लें तो सूत्र (६) को रचना इस प्रकार की जा सकती है कि उसमें '$स\ र_{ल}$' '∈', चल प्रतीकों, सत्यता–फलनों तथा परिमाणनों के अलावा अन्य कोई चिह्न प्रयुक्त नहीं होता। '$स\ र_{ल}$' को पुनः कुछ और कठिन विधियों से इस प्रकार रखा जा सकता है कि उसमें भी वस्तुपरक भाषा में स्वीकृत चिह्न ही आयें। इस प्रकार (६) का वस्तुपरक भाषा में पुनर्गठन सम्भव है। परन्तु यहां ग्रेलिंग के विषम–तर्कमूलक विरोधाभास (हेटरोलाजिकल पैराडौक्स) जैसा विरोधाभास हमारे समक्ष आता है। यह विरोधाभास संक्षेप में यह है : खुला वाक्य "य कुछ वाक्यों को सन्तुष्ट करता है" स्वयं कुछ वाक्यों को सन्तुष्ट करता है, और इस प्रकार स्वयं को भी सन्तुष्ट करता है। बहुत से खुले वाक्य स्वयं को सन्तुष्ट नहीं करते। विरोधाभास खुले वाक्य "य स्वयं को सन्तुष्ट नहीं करता" के सन्दर्भ में उठता है। यदि यह स्वयं को संतुष्ट नहीं करता तो यह स्वयं को सन्तुष्ट करता है, और यदि करता है तो स्वयं को सन्तुष्ट नहीं करता। यह विरोधाभास दिखाता है कि यह खुला वाक्य वस्तुपरक भाषा के वाक्य में परिवर्तनीय नहीं होना चाहिए। परन्तु यदि 'य व को सन्तुष्ट करता है" इस प्रकार के वाक्य वस्तुपरक भाषा में परिवर्तित हो सकते हैं तो "य व को सन्तुष्ट

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं करता" को भी परिवर्तनीय होना चाहिए। अतः यह विरोध वस्तुपरक भाषा के लिए अपरिहार्य जान पड़ता है।

इस विरोधाभास का निराकरण भी क्वाइन सेट सिद्धान्त के आधार पर ही करते हैं। ग्रेलिंग और रसेल के विरोधाभासों की शिक्षाओं के आधार पर क्वाइन यह बताते हैं कि वर्तमान विरोधाभास का मुख्य कारण सेट 'ल' को वास्तविक मान लेना है। यदि सेट 'ल' वास्तविक है तब तो सूत्र (६) 'य व को सन्तुष्ट करता है' की एक सन्तोषजनक परिभाषा माना जा सकता है, अन्यथा यह केवल असत्य है। सेट 'ल' अवास्तविक मानना होगा। अतः सूत्र (६) उपयुक्त परिभाषा नहीं माना जा सकता। क्वाइन यह स्वीकार करते हैं कि यदि 'य व को सन्तुष्ट करता है' को हम अधिभाषा में मानें तो सूत्र (६) सन्तोषजनक परिभाषा के रूप में कार्य कर सकता है। परन्तु तब भी (६) स्वयं अधिभाषा में ही समाहित किया जायगा।

चौथे अध्याय में तार्किक सत्य तथा उससे सम्बन्धित अन्य तार्किक प्रत्ययों के स्वरूप का विवेचन किया गया है। क्वाइन तार्किक सत्य की विभिन्न परिभाषाओं को समझाते और उनका परीक्षण करते हैं, इन परिभाषाओं से तर्कशास्त्र के अधिकांश विद्यार्थी सुपरिचित होंगे। व्याकरण की शब्दावली के माध्यम से एक अपेक्षाकृत नई परिभाषा भी दी गई है। वाक्यों के पारस्परिक सम्बन्धों को क्वाइन भी तर्कशास्त्र के अध्ययन का ही विषय मानते हैं। इस प्रकार का एक सम्बन्ध है तार्किक आपादन (लोजीकल इम्प्लीकेशन)। वह सम्बन्ध वाक्यों की तार्किक संरचना पर पूर्णतः निर्भर करता है (पृ० ४८)। 'तार्किक संरचना' से क्वाइन का अर्थ है कि सत्यता–फलन, परिमाणन तथा चल प्रतीक किस प्रकार संगठित हैं। खुले वाक्यों के बीच भी यह सम्बन्ध सम्भव है। एक खुला वाक्य दूसरे खुले वाक्य को आपादित करता है, यदि दोनों को बिल्कुल एक ही अनुक्रम सन्तुष्ट करे और यह कि, दोनों एक ही अनुक्रम से सन्तुष्ट किये जाते हैं, यह वाक्यों की तार्किक संरचना पर ही पूर्णतः निर्भर होना चाहिए।

क्वाइन बताते हैं कि तार्किक–ज्ञानमीमांसात्मक प्रत्ययों का एक ऐसा समूह है जिसके सभी सदस्य परस्पर परिभाषित किये जा सकते हैं।[3]

---

३. **क्वाइन की यह सर्वविदित मान्यता रही है कि 'अनिवार्यता', 'विश्लेषणात्मकता', 'प्रागनुभविकता' आदि कुछ प्रत्ययों की संतोषजनक परिभाषा नहीं दी जा सकती है। अतः ये शब्द अस्पष्ट एवं व्यर्थ हैं। इस विचार का उनके समान अन्य नव्य उपयोगितावादी भी मानते हैं। व्हाइट ने, क्वाइन के**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तार्किक विरोध, तार्किक सत्यता, तार्किक असत्यता आदि ऐसा ही समूह बनाते हैं। तार्किक आपादन भी इसी समूह का प्रत्यय है। क्वाइन का प्रस्ताव है कि इस समूह में हम तार्किक सत्यता का प्रत्यय प्रधान या केन्द्रीय मानें और अन्यों को इसके द्वारा परिभाषित करें।

एक परिभाषा के अनुसार तार्किक रूप से सत्य वाक्य वह है जिसकी सत्यता इसकी तार्किक संरचना द्वारा ही पूर्णरूप से निश्चित हो जाती है। इसी बात को क्वाइन और भी स्पष्टरूप से इस प्रकार रखना अधिक उचित समझते हैं: एक वाक्य तार्किकरूप से सत्य है यदि वे सभी वाक्य सत्य हैं जिनकी तार्किक संरचना इसकी तार्किक संरचना के ही समान है। तार्किकरूप से असत्य वाक्य वह होगा जिसकी असत्यता इस प्रकार निश्चित हो जाती हो; दूसरे शब्दों में, यह वह वाक्य है जिसका निषेध तार्किकरूप से सत्य हो। वे वाक्य परस्पर तार्किक रूप से विरोधी होंगे जिनका संयोजन तार्किक रूप से असत्य हो। एक वाक्य दूसरे को तार्किकरूप से आपादित करता है यदि प्रथम वाक्य तथा द्वितीय वाक्य का निषेध परस्पर विरोधी हों। 'तार्किक समानता' को 'तार्किक आपादन' द्वारा परिभाषित किया गया है: वे वाक्य तार्किकरूप से समान होते हैं जो एक-दूसरे को आपादित करते हैं।

तार्किक सत्य की एक और परिभाषा इस प्रकार है: एक वाक्य तार्किक रूप से सत्य है यदि इसके विधेयों के सभी प्रकार के परिवर्तनों में वह सत्य ही रहे। जैसाकि कुछ अन्य तर्कशास्त्री भी कर चुके हैं, क्वाइन इस परिभाषा की कुछ कठिनाइयों के कारण इसके स्थान पर यह परिभाषा स्वीकार करते हैं: एक तार्किक वाक्य एक ऐसा वाक्य है जिसके सरल वाक्यों के स्थान पर अन्य कोई भी वाक्य रखने पर सत्य वाक्य ही प्राप्त होते हैं। (पृ० ५०) इस परिभाषा के आशय को एक दूसरे रूप में भी रखा जा सकता है।

वैध तार्किक संयोजना (स्कीमा) की पहले परिभाषा देकर इस परिभाषा को इस प्रकार रखा गया है: यदि एक संयोजना की सरल-वाक्य संयोजनाओं के स्थान पर वाक्य रखने से सत्य वाक्य ही प्राप्त हो तो वह संयोजना वैध मानी जायगी। और एक तार्किक सत्य वह सत्य है जो एक वैध तार्किक संयोजना से

समान ही, यह तर्क दिया है कि जिन प्रत्ययों से इनकी परिभाषा दी जाती है वे स्वयं उसी समूह के हैं जिनके ये परिभाषित किये जाने वाले प्रत्यय। अत: इन सभी के सम्बन्ध में एक सी ही कठिनाइयाँ उठती हैं और इसलिए इनमें से एक को दूसरे से परिभाषित करना व्यर्थ होगा। (मौर्टन व्हाइट: टुवर्ड री-यूनियन इन फिलॉसफी पृ० १४९).

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रकार प्राप्त हो सके। परिभाषा का चाहे जो भी रूप अपनाया जाय, वाक्यों या संयोजनाओं का स्थानान्तरण एक-सा ही होना चाहिए; अर्थात्, सर्वत्र एक सरल वाक्य या समाकृति के लिए एक ही वाक्य रखना चाहिए। वैध समाकृति की परिभाषा एक दूसरे प्रकार से भी दी जा सकती है। सेट सिद्धांत का प्रयोग करके हमें प्रतिमान (मोडेल) का प्रत्यय मिलता है। 'प्रतिमान' का अर्थ है, सेटों का एक अनुक्रम जिसमें संयोजना के हर विधेय पद के स्थान पर सेटों और व्यक्तिक चल प्रतीकों के मूल्य-क्षेत्र के लिए एक और सेट का समावेश होता है। पहले वाली परिभाषा में संयोजना की सरल–वाक्य संयोजनाओं का वाक्यों से स्थानान्तरण किया जाता है और नई परिभाषा में प्रतिमानों द्वारा संयोजनाओं की सन्तुष्टि की बात की जाती है। यदि एक संयोजना को इसके सभी प्रतिमान सन्तुष्ट करते हैं तो वह वैध मानी जायगी। तार्किक सत्य की परिभाषा पहले जैसी ही रहेगी।

इन दोनों परिभाषाओं के एक महत्वपूर्ण भेद की ओर क्वाइन संकेत करते हैं। यह भेद यह है कि कुछ ऐसे खुले वाक्य हैं जो कोई भी सेट निर्धारित नहीं करते, और कुछ ऐसे सेट हैं जिनका निर्धारण कोई भी वाक्य नहीं करता। रसेल का विरोधाभास प्रथम बात दर्शाता है और ग्रेलिंग का दूसरी। यदि ऐसा न होता तो इन परिभाषाओं में कोई ऊपरी विषमता भी न होती। परन्तु क्वाइन दिखाते हैं कि फिर भी इन परिभाषाओं में कोई विषमता नहीं आती; अर्थात्, जिन वाक्यों को एक परिभाषा के आधार पर तार्किक सत्य माना जायगा उन्हीं को दूसरी के आधार पर भी ऐसा माना जायगा। क्योंकि वस्तुतः, जो समाकृतियाँ वाक्यों को उपरोक्त समस्त स्थानान्तरणों में सत्य परिणाम ही देती हैं उन्हें सभी प्रतिमान भी संतुष्ट करते हैं। क्वाइन संक्षेप में यह दिखाते हैं कि यह किस प्रकार तार्किक रूप से सिद्ध किया जा सकता है। क्वाइन वैध संयोजना की प्रथम परिभाषा को अधिक पसंद करते हैं क्योंकि इसके आधार पर वैधता तथा तार्किक सत्य के प्रत्यय सेट सिद्धान्त के अधिकांश से स्वतंत्र हो जाते हैं, जबकि दूसरी परिभाषा को मानने पर इन प्रत्ययों को सेट सिद्धान्त पर अधिकाधिक निर्भर मानना पड़ेगा।

उपरोक्त सभी परिभाषाओं में 'सत्यता' का प्रत्यय प्रयुक्त किया गया है। क्वाइन एक और परिभाषा की चर्चा करते हैं जिसमें 'सत्यता' को प्रयुक्त नहीं किया जाता, अपितु 'प्रमाण–विधियों' का प्रयोग किया जाता है। इस परिभाषा के लिए पहले कुछ पूर्ण प्रमाण–विधियों का वर्णन किया जाता है और फिर वैध संयोजना को इस तरह परिभाषित किया जाता है कि यह वह संयोजना है जिसे ऐसी किसी प्रमाण-विधि से सिद्ध किया जा सके। तार्किक सत्य, पुनः, पूर्ववत् परिभाषित किया जायगा। चूंकि कुछ प्रमाण–विधियाँ ऐसी हैं जिनमें संयोजनाओं की आवश्यकता नहीं होती, अपितु सीधे वाक्यों पर ही प्रयुक्त की जा सकती हैं, ऐसी किसी विधि का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चुनाव करने से तार्किक सत्य की सीधी, सरल परिभाषा इस प्रकार हो सकती है : एक तार्किक सत्य ऐसा वाक्य है जिसे इस प्रकार की किसी प्रमाण-विधि से बनाया या प्राप्त किया जा सके। इस सम्बन्ध में क्वाइन एक सिद्धांत (पूर्णता-उपपत्ति) का उल्लेख करते हैं : यदि कोई संयोजना सभी प्रतिमानों द्वारा संतुष्ट की जाती है तो इसे सिद्ध किया जा सकता है।

अंत में क्वाइन यह तर्क देते हैं कि चूंकि उपरोक्त सभी परिभाषाएं, अन्य विभिन्नताओं के होते हुए भी, तीन वैयाकरणिक संरचनाओं—निषेध, संयोजन, परिमाणन—पर निर्भर करती हैं, तार्किक सत्य को वैयाकरणिक संरचना के माध्यम से भी परिभाषित किया जा सकता है। यह परिभाषा इस प्रकार है : एक तार्किक सत्य वह वाक्य है जो शब्द-सूची के शब्दों में परिवर्तन करने पर सदैव सत्य ही रहता है। विभिन्न वस्तुपरक भाषाओं की वैयाकरणिक संरचनाएं भिन्न हो सकती हैं, और इस प्रकार उनमें विभिन्न वाक्य तार्किक सत्य हो सकते हैं।

क्वाइन के विचार से, वस्तुपरक भाषा के लिए उपरोक्त सभी परिभाषाएं संतोषजनक हैं। अन्य भाषाओं के लिए इस अंतिम परिभाषा का महत्व है। यह परिभाषा भी भाषा-निरपेक्ष नहीं है। इसमें 'वैयाकरणिक संरचना' का प्रयोग किया गया है। और हम देख चुके हैं कि क्वाइन के मतानुसार यह प्रत्यय भाषा-सापेक्ष ही है। एक सामान्य निष्कर्ष इस पूरे विवेचन से यह निकाला गया है कि तार्किक सत्यों के निर्धारण में दो तत्व प्रमुख हैं : व्याकरण और सत्यता।

पांचवा अध्याय 'तर्कशास्त्र के क्षेत्र' पर है। इस अध्याय में क्वाइन मुख्यतः पिछले अध्याय में दी गई परिभाषाओं के संदर्भ में तादात्म्य (आइडेंटिटी) सिद्धान्त एवं सेट सिद्धान्त का स्थान निश्चित करते हैं। तादात्म्य-सिद्धान्त के लिए यह समस्या उठती है कि यदि तादात्म्य-चिह्न को हम अतार्किक विधेय मानें तो पूरा तादात्म्य-सिद्धान्त तर्कशास्त्र से बहिष्कृत हो जायगा। क्योंकि तब तादात्म्य-सिद्धान्त के सत्य तार्किक सत्य नहीं माने जा सकते। और यदि तादात्म्य-चिह्न को तार्किक चिह्न ही मानें तो हमें यह भी मानना होगा कि कुछ तार्किक सामान्य सिद्धान्तों को वस्तुपरक भाषा में परिमाणन के सीधे प्रयोग से प्राप्त किया जा सकता है, जैसेकि '(य) (य=य)'। परन्तु तब हमें यह भी अस्वीकार करना होगा कि अर्थपरक स्वर अथवा वाक्य का उल्लेख तार्किक सिद्धान्तों की विशेषता है। इसके अलावा पूर्ण प्रमाण-विधियों की प्राप्यता आदि के कारण तादात्म्य-सिद्धान्त तर्कशास्त्र के अत्यंत निकट भी प्रतीत होता है। अतः क्वाइन के विचार से तर्कशास्त्र में इसका समावेश करना ही अधिक उपयुक्त है।

समस्या का समाधान क्वाइन उन वाक्यों को, जिनमें तादात्म्य-चिह्न प्रयुक्त हुआ हो, दूसरे ऐसे वाक्यों में परिवर्तित करके प्रस्तुत करते हैं जिनमें वह चिह्न नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो, अपितु दूसरे स्वीकृत तार्किक चिह्न हों, उदा०, यदि किसी भाषा में एक एकाश्रित विधेय 'अ' है, दो द्वि–आश्रित विधेय 'व' और 'स' हैं और एक त्रयाश्रित विधेय 'द' है, तो वाक्य 'य=ब' को इस रूप में रखा जा सकेगा :—

$$\text{अ}_{\text{य}} \equiv \text{अ}_{\text{व}} \cdot (\text{र})\ ({}^{\text{ब}}{}_{\text{र य}} \equiv {}^{\text{ब}}{}_{\text{र व}} \cdot {}^{\text{ब}}{}_{\text{य र}} \equiv {}^{\text{ब्र}}\ \text{वर}.\quad \text{रय} \equiv {}^{\text{स}}{}_{\text{र व}}.$$

$${}^{\text{स}}{}_{\text{य र}} \equiv {}^{\text{स}}{}_{\text{व र}}.\ (\text{र}')\ ({}^{\text{द}}{}_{\text{र र}'\text{ य}} \equiv {}^{\text{द}}{}_{\text{र र}'\text{ व}}.\ {}^{\text{द}}{}_{\text{र य र}'} \equiv$$

$${}^{\text{द}}{}_{\text{र व र}'}.\ {}^{\text{द}}{}_{\text{य र र}'} \equiv {}^{\text{द}}{}_{\text{व र र}'}))$$

इस प्रकार के रूपान्तरण के आधार पर तादात्म्य सम्बन्धी सभी सिद्धान्त परि–माणन सम्बन्धी तर्कशास्त्र के सिद्धान्त हो जांयगे ।

सेट सिद्धान्त को तर्कशास्त्र के रूप में मानने के पीछे 'सदस्यता' तथा 'गुणा–रोपण' को समान मानने की भूल है । ऐसा मान लिया गया है कि इन दोनों में एक तारतम्य है, और इस तारतम्य का आभास देने वाला एक प्रत्यय है "गुणों के गुणा-रोपण" का । त्रुटि का आधार क्वाइन यही मानते हैं । जैसाकि द्वितीय अध्याय में भी क्वाइन ने बताया था, **विधेयों** का परिमाणन गलत है । विधेय चिह्न वास्तव में **मूल्य प्राप्त करने वाला** चल प्रतीक होता ही नहीं, वह तो केवल एक ऐसा संयोजना-परक (स्कीमैटिक) चिह्न होता है जो विधेय के लिए, उसके स्थान पर, रख दिया जाता है । अर्थात् उसको विधेय की स्थिति दर्शाने के लिए उसके प्रतिरूप-सा प्रयुक्त किया जाता है । विधेयों का परिमाणन तभी उचित होता है जब वाक्य में उनकी स्थिति विधेयों की न होकर **नाम** की होती हो, और यह असम्भव है । यदि हम विधेय-चिह्न, उदाहरणार्थ फ, को गुणों के लिए एक चल प्रतीक के रूप में मानें तो अवश्य ही फ को परिमाणन के बद्ध चल प्रतीक के रूप में प्रयुक्त करना ठीक होगा । परन्तु तब इस प्रकार के वाक्यों—'(य) (फ) $\text{फ}_{\text{य}}$ ' अथवा (∃य) (∃फ) $\text{फ}_{\text{य}}$ के स्थान पर स्पष्टतः इस प्रकार के वाक्यों—'(य) (फ) य में फ है' अथवा '(∃य)(∃फ) फ य में है '—का प्रयोग करना चाहिए जिससे कि यह स्पष्ट हो कि दूसरा परिमाणन **गुणों** का किया गया है और गुणवाचक चिह्नों को नाम का स्थान दिया गया है ।

ठीक इसी प्रकार यदि हम सेटों को परिमाणन-योग्य चल प्रतीकों के मूल्यों के रूप में मानना चाहते हैं तो स्पष्टतः 'य ∈ व' प्रकार के वाक्य इस्तेमाल करने चाहिएं । विधेय चिह्न को परिमाणन योग्य चल प्रतीक के रूप में प्रयुक्त कर लेने पर हम अपने तर्क-सिद्धान्त में आधारभूत रूप से एक नई बात जोड़ लेते हैं, एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बुनियादी परिवर्तन कर लेते हैं, जिसे दार्शनिक रूप से अधिक निर्दोष, प्राथमिक तर्कशास्त्र से नहीं निकाला जा सकता। यही बात सेटों के परिमाणन के लिए भी लागू होती है। अतः क्वाइन के मतानुसार यह मानना भ्रामक है कि रसेल सेट सिद्धान्त, और उसके साथ ही गणित को, प्राथमिक तर्कशास्त्र से ही निकालने में सफल हुए।

क्वाइन यह मानते हैं कि सेटों की प्रसंगाधीन परिभाषा (कान्टेक्स्चुअल परिभाषा) देकर सेटों की अस्तित्वमीमांसात्मक स्वीकृति से बचा जा सकता है। इस प्रकार की परिभाषाएं क्वाइन विस्तार से देते हैं। इसमें मुख्य परिभाषा वह है जो सदस्यता तथा अमूर्तीकरण या अपाकर्षण (एब्स्ट्रेक्शन) दोनों के ही प्रत्ययों को एकसाथ परिभाषित करती है। इसके अनुसार 'व $\in$ (य : $फ_य$) के स्थान पर केवल '$फ_य$' लिखा जायगा। इसी प्रकार चिन्हों '{र}', '{र, र'}', '∧' तथा 'v' के स्थान पर क्रमशः निम्नलिखित चिन्ह रखे जायंगे:—

{य : (य=र)}
{य : य=र अथवा य=र'}
{य : ⌐ (य=य)}
{य : य=य}

इसके पश्चात् क्वाइन सेटों के बूलियन बीजगणित में प्रयुक्त चिह्नों को भी प्राथमिक तर्कशास्त्र के चिह्नों में परिवर्तित करने की विधि बताते हैं। इन सभी परिवर्तनों (अथवा परिभाषाओं) में अमूर्त्तितों (एब्स्ट्रेक्ट्स) —'{य :$फ_य$}' प्रकार के पदों—के स्थान पर कुछ संयोजनापरक चिह्न प्रयुक्त किये गये हैं जो परिमाणन-योग्य नहीं होते।

क्वाइन बताते हैं कि चूंकि उपरोक्त परिभाषाओं में अमूर्त्तित पद '{य : $फ_य$}' के लिये चिन्ह '$\in$' की बाईं ओर कोई स्थान नहीं दिया जाता इसीलिए इनमें केवल उन्हीं वर्गों के प्रतिरूप उपलब्ध हो सकते हैं जो **अन्तिम** नहीं हैं, अर्थात् जो स्वयं किसी न किसी वर्ग के सदस्य हैं। इसीसे वह इन परिभाषाओं से प्राप्त तार्किक सिद्धांत को वर्गों का यथार्थ सिद्धांत (वर्चुअल थ्योरी) अथवा यथार्थ वर्गों (वर्चुअल क्लासेस) का सिद्धांत कहते हैं।

यह सिद्धांत **वास्तविक** सेट-सिद्धांत से भिन्न है, क्योंकि उपरोक्त परिभाषा अथवा रूपान्तरणीयता की भी सेट सिद्धांत में सीमा है, अर्थात् अन्त में सेट-सिद्धान्त का एक अंश ऐसा बच रहता है जिसे इस प्रकार रूपान्तरित नहीं किया जा सकता। दूसरे शब्दों में, यथार्थ सिद्धान्त सम्पूर्ण सेट सिद्धान्त का प्रतिरूप प्रस्तुत नहीं कर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाता। इसके अलावा, यथार्थ सिद्धान्त में न तो चिह्न $\in$, जो सेट-सिद्धान्त का विशेष चिन्ह है, एक वास्तविक विधेय माना जायगा और न ही उसमें परिमाणन-योग्य चल प्रतीकों के मूल्यों के रूप में वर्गों को माना जायगा। परन्तु वास्तविक सेट-सिद्धान्त में '$\in$' एक वास्तविक विधेय है और वर्गों का परिमाणन किया जाता है। क्वाइन स्वीकार करते हैं कि बहुत सी ऐसी बातें हैं जो वास्तविक सेट सिद्धान्त से अनुमानित होती हैं परन्तु यथार्थ सिद्धान्त से नहीं। अतः उनका निष्कर्ष है कि वास्तविक सेट-सिद्धान्त तर्कशास्त्र का अंग नहीं है, यद्यपि यथार्थ सिद्धान्त को शुद्ध तर्कशास्त्र माना जा सकता है।

क्वाइन का यह मत ऐतिहासिक रूप से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। फ्रेगे से पूर्व बहुमत यह था कि गणित और तर्कशास्त्र स्वतन्त्र हैं। फ्रेगे, व्हाइटहैड और रसेल के बाद यह मत अधिक प्रचलित हो गया कि गणित को तर्कशास्त्र से निकाला जा सकता है। परन्तु चूँकि क्वाइन के अनुसार सेट-सिद्धान्त शुद्ध तर्कशास्त्र नहीं है और गणित को तर्कशास्त्र से निकालने के लिए सेट-सिद्धान्त अनिवार्य है, इसलिए क़्वाइन का यह मत रसेल, और व्हाइटहैड की एक सशक्त आलोचना प्रस्तुत करता है।

छठा अध्याय अपारंपरिक तर्कशास्त्र पर है। पारंपरिक तर्क-सिद्धान्तों की अपरिहार्यता आधुनिक काल में सन्दिग्ध रही है। एक ओर वैकल्पिक तर्क-व्यवस्थाओं की रचना करने के प्रयत्न हुए हैं, दूसरी ओर विकल्प रूप में इन व्यवस्थाओं की कड़ी आलोचनाएं की गई हैं। विवाद अभी भी पर्याप्त जीवन्त है। निश्चय ही, प्रश्न तर्कशास्त्र के दर्शन के लिए अत्यन्त आधारभूत है। इस विषय में क्वाइन का एक मत यह है कि पारंपरिक तर्क-सिद्धान्तों का उस रूप में खण्डन असम्भव है जिसमें आधारभूत चिन्हों —निषेध, संयोजन आदि का प्रयोग ठीक उसी अर्थ में हो जिसमें पारम्परिक सिद्धान्त करते हैं और फिर भी उनको अस्वीकार किया जाय। क्योंकि क्वाइन के मतानुसार इन चिह्नों का प्रयोग करने में जो नियम हम प्रयुक्त करते हैं उनके अलावा इन चिन्हों के अर्थ अथवा सार में कुछ भी अवशेष नहीं होता। अतः इन चिन्हों का उन्हीं अर्थों में प्रयोग करते हुए भी इन नियमों को अस्वीकार करना असम्भव होगा। अतः यदि 'विकल्प' को इस प्रकार के खण्डन के रूप में समझा जाय तो पूरा विवाद ही अर्थहीन हो जाता है। क्वाइन के शब्दों में, 'अपारंपरिक तर्क-शास्त्री की दुविधा यही है : जब वह सिद्धांत अस्वीकार करने का प्रयत्न करता है तो वह विषय ही परिवर्तित कर देता है।' (पृ० ८१) क्वाइन के अनुसार, तार्किक नियमों को हम **स्पष्टतः** सत्य मानकर चलते हैं। और यहां स्पष्टता से उनका तात्पर्य किसी प्रकार की अनिवार्यता से नहीं, अपितु केवल व्यावहारिक तथा मनोवैज्ञानिक स्पष्टता से है। तार्किक सिद्धान्तों को हम बिना किसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सन्देह के सत्य मानना उसी प्रकार स्वाभाविक समझते हैं जैसेकि वर्षा में "पानी बरस रहा है" वाक्य को सत्य मानना। यदि किसी पूर्णतः अपरिचित भाषा का अपनी भाषा में हमें अनुवाद करना हो तो किसी भी ऐसे वाक्य को हम अपनी भाषा के वाक्य "पानी बरस रहा है" से अनुवादित नहीं करेंगे जिसे वर्षा में भी उस भाषा को बोलने वाले स्वीकार न करते हों। ठीक इसी प्रकार हम उस प्रकार के अनुवाद गलत मानेंगे जो हमारे तार्किक सिद्धान्तों के विरुद्ध हों। इस तरह क्वाइन के मतानुसार, हम तर्कशास्त्र का अनुवाद में निर्माण करते जाते हैं—सर्वाधिक आधारभूत मान्यताओं के रूप में, क्योंकि उन्हें हम सर्वाधिक स्पष्ट रूप से सत्य मानकर चलते हैं। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि तार्किक नियमों में उस प्रकार की अनिवार्यता है जैसीकि साधारणतः मानी जाती है।

इस अध्याय में क्वाइन मध्याभाव नियम (लॉ आफ एक्स्क्लूडिड मिडल) का परित्याग कर किसी विकल्प को मानने के लिए दी गई कुछ युक्तियों की परीक्षा करते हैं। इन युक्तियों के विरुद्ध दी गई लगभग सभी आपत्तियाँ सुविदित हैं तथा लगभग सही प्रतीत होती हैं। मध्याभाव नियम का विकल्प मानने का अर्थ है उस 'निषेध' प्रत्यय का परित्याग करना जिसे यह नियम प्रस्तुत अथवा परिभाषित करता है। इस निषेध प्रत्यय का परित्याग कभी-कभी अनिवार्य मानने के पीछे इन दो बातों के बीच घपला रहा है: (अ) यह ज्ञान कि कोई वाक्य सत्य अथवा असत्य है और (ब) यह ज्ञान कि कोई वाक्य सत्य है, अथवा यह ज्ञान कि वह असत्य है। मध्याभाव नियम हर वाक्य के लिए (अ) का प्रतिपादन करता है, (ब) का नहीं। अतः (ब) का अभाव इस नियम के विरुद्ध कोई दृष्टांत उपस्थित नहीं करता।

सेट-सिद्धान्त के विरोधाभासों के संदर्भ में मध्याभाव नियम की उपयुक्तता पर संदेह करना क्वाइन इतना स्पष्ट रूप से ग़लत नहीं मानते। परन्तु वहां भी वे सेट सिद्धान्त में ही कुछ सुधार करना मध्याभाव नियम का परित्याग करने से कहीं अधिक उचित मानते हैं। मध्याभाव नियम के परित्याग की आवश्यकता हाइसेनबर्ग के अनिश्चितता सिद्धान्त के कारण क्वान्टम भौतिकी में भी मानी गई है। इस स्थिति को क्वाइन उपरोक्त स्थिति से भी अधिक गंभीर मानते हैं। क्योंकि उनके अनुसार गणित की प्रामाणिकता वहीं तक है जहां तक वह प्रकृति का एक सुसंगठित विज्ञान बनाने में सहायक हो। परन्तु चूंकि क्वाइन प्रेक्षण–वाक्यों को छोड़कर अन्य किसी भी वाक्य की स्वीकृति अथवा अस्वीकृति के लिए 'कम से कम परिवर्तन' तथा 'सरल तथा अधिक परिचित मान्यताओं का संरक्षण' के सिद्धान्तों को मानते हैं, यहां भी मध्याभाव नियम का परित्याग वह युक्तियुक्त नहीं मानते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मध्याभाव नियम के विरुद्ध सबसे अधिक गंभीर आपत्ति सहजबोधवादियों (इन्ट्यूशनिस्टों) की ओर से उठाई गई है । सहजबोधवाद, जैसाकि क्वाइन बताते हैं, गोयडेल के प्रमाण के पहले से ही है । परन्तु गोयडेल का प्रमाण सहजबोधवाद को अतिरिक्त बल देता है । सहजबोधवाद संरचनावाद (कन्स्ट्रक्टिविज्म) का ही एक सम्प्रदाय है । गणितीय संरचनावाद उन विधियों को स्वीकार नहीं करता जिनके आधार पर हमें किसी प्रकार की वस्तुओं का अस्तित्व मानना पड़ता है, यद्यपि उन वस्तुओं को पहचाना या ढूंढा कैसे जाय, यह नहीं बताते । क्वाइन संरचनावाद की इस मान्यता को सराहनीय मानते हुए भी सहजबोधवादी तर्कशास्त्र को उचित नहीं मानते । क्योंकि उनके अनुसार संरचनावाद के लिए पारंपरिक तर्कशास्त्र, और इसलिए मध्याभाव नियम, का परित्याग करना अनिवार्य नहीं है । सहजबोधवादी तर्कशास्त्र को क्वाइन पारंपरिक तर्कशास्त्र से कहीं कम सुविधाजनक मानते हैं । उनका विचार है कि पारंपरिक तर्कशास्त्र को मानते हुए भी हम संरचनावाद को स्वीकार कर सकते हैं ।

सहजबोधवादी तर्कशास्त्र और पारंपरिक तर्कशास्त्र की विषमता केवल प्रतिज्ञप्त्यात्मक तर्कशास्त्र तक ही सीमित नहीं है । परिमाणन सम्बन्धी विषमताएं भी हैं, और ये विषमताएं अधिक रोचक हैं क्योंकि यह क्वाइन का प्रसिद्ध सिद्धान्त है कि किसी भी सिद्धान्त की अस्तित्वमीमांसा इससे सुनिश्चित हो जाती है कि उस सिद्धान्त में परिमाणन के चल प्रतीकों के मूल्य–रूप में कौनसी वस्तुएं स्वीकार की गई हैं । क्वाइन के अनुसार, सहजबोधवादी तर्कशास्त्र का अपारंपरिक परिमाणन 'अस्तित्व' का एक अपारंपरिक प्रत्यय देता है ।

क्वाइन के अन्य मौलिक विचारों की भांति ये विचार भी अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं । आधुनिक अनुभववाद की यह मान्यता कि तर्कशास्त्र तथा अस्तित्वमीमांसा में किसी भी प्रकार का कोई सम्बन्ध नहीं है, आधुनिक काल में प्रायः सर्वमान्य सी हो गई है । क्वाइन का मत, निश्चित रूप से, बिल्कुल नवीन है और इसलिए विवादास्पद भी ।

इस अध्याय के अन्त में क्वाइन कुछ अपारंपरिक परिमाणन विधियों की चर्चा करते हैं । जैसे, मान लें, फलन $फ_{य व र ल}$ के लिए हम य, व, र, तथा ल का परिमाणन इस प्रकार करना चाहते हैं कि य तथा र को सार्वभौमिक रूप से परिमाणित करें और व तथा ल को अस्तित्वपरक रूप से, और यह प्रदर्शित करना चाहें कि व का चुनाव य पर तथा ल का र पर ही निर्भर करता है । इसके लिए निम्नलिखित दोनों ही प्रतीकीकरण ग़लत होंगे:—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१) $(य)\ (\exists_{व})\ (र)\ (\exists_{ल})\ फ_{यवरल}$

(२) $(र)\ (\exists_{ल})\ (य)\ (\exists_{व})\ फ_{यवरल}$

क्योंकि प्रथम में ल का चुनाव य पर भी निर्भर हो जाता है और द्वितीय में व का र पर। परिमाणन की एक नवीन विधि इस प्रकार प्रस्तुत की गई है:—

$(य)\ (\exists_{व})$

$(र)\ (\exists_{ल})\ फ_{यवरल}$

परिमाणन को एक ही पंक्ति में उस स्थिति में रखा जा सकता है जब हम फलनों को भी परिमाणित करें :—

$(\exists_{त})\ (\exists_{थ})\ (य)(र)\ फ_{यव}(त_{य})\ (थ_{व})$

परन्तु इस अन्तिम प्रकार के प्रतीकीकरण में हम एक प्रकार के अमूर्त्तों (एब्स्ट्रेक्ट्स)–फलनों—का अस्तित्व मान लेते हैं। और क्वाइन के अनुसार ऐसा करने से हम शुद्ध तर्कशास्त्र की सीमा से बाहर सेट–सिद्धांत में चले जाते हैं।

अन्तिम अध्याय का विषय है, तार्किक सत्य का आधार। इस पुस्तक का सर्वाधिक महत्वपूर्ण अध्याय यही है। इसमें क्वाइन ने अपना नव्यव्यावहारिकतावाद संक्षेप में प्रतिपादित किया है और तार्किक नियमों सम्बन्धी भाषात्मक सिद्धांत (लिंग्विस्टिक थ्योरी), जिसका प्रतिपादन तार्किक प्रत्यक्षवादियों ने किया है, की आलोचना मुख्य रूप से की है। जैसाकि हम देख चुके हैं, स्वयं क्वाइन के अनुसार तार्किक सत्य दो तत्वों पर निर्भर करता है : व्याकरण तथा सत्य। व्याकरण पूर्णतः भाषापरक वस्तु है परन्तु सत्य वास्तविकता से सम्बन्धित है। क्वाइन बताते हैं कि तार्किक सत्य की उनके द्वारा दी गई परिभाषा (कोई वाक्य तब तार्किक रूप से सत्य है जब उसके जैसी वैयाकरणिक संरचना के अन्य सभी वाक्य भी सत्य हों) को इस प्रकार नहीं रखा जा सकता : कोई वाक्य तार्किक रूप से सत्य होता है यदि वह वैयाकरणिक संरचना के कारण सत्य हो। क्वाइन इस प्रकार की परिभाषा के विरुद्ध इसलिए हैं कि यह भाषात्मक सिद्धान्त प्रतिपादित करता सा प्रतीत होता है, और भाषात्मक सिद्धान्त को क्वाइन स्वीकार नहीं करते। क्वाइन इस विश्वास का विरोध करते हैं कि कभी कभी एक ही वैयाकरणिक संरचना वाले सभी वाक्य इसलिए सत्य होते हैं क्योंकि वैयाकरणिक संरचना अथवा भाषा ही उनको सत्य बनाती है। प्रथम आपत्ति तो क्वाइन यह उठाते हैं कि भाषात्मक सिद्धान्त मानने वाले दार्शनिकों का यह विचार निराधार है कि यदि किसी वाक्य के सत्यता-मूल्य के निर्धारण में केवल वैयाकरणिक संरचना ही निर्णायक हो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तो वह वाक्य वास्तविकता से, तथ्यों से, पूर्णतः असंबद्ध होगा। यदि सभी शब्द-सम्बन्धी परिवर्तनों के बाद भी कोई वाक्य सत्य रहता है तो यह कहना तो ठीक है कि उस वाक्य की सत्यता संसार की उन विशेषताओं पर निर्भर नहीं करती जो शाब्दिक भेदों में लक्षित होती है, परन्तु क्वाइन के अनुसार जिस प्रकार शब्दों का प्रयोग संसार के विषय में बात करने के लिए किया जाता है उसी प्रकार वैयाकरणिक संरचना का भी प्रयोग किया जाता है। और फिर क्या यह नहीं कहा जा सकता कि तार्किक सत्य संसार की उन विशेषताओं पर निर्भर करते हैं जिन्हें किसी भाषा की वैयाकरणिक संरचनाएं प्रदर्शित करती हैं ?

भाषात्मक सिद्धान्त के लिए यह प्रश्न प्रस्तुत करने के बाद क्वाइन यह प्रतिपादित करते हैं कि, तार्किक नियम भाषा के ही कारण सत्य हैं या नहीं, प्रश्न अर्थहीन है। इसके लिए क्वाइन की युक्ति यह है कि किसी भी वाक्य को किसी परिस्थिति 'अ' **के ही कारण** सत्य मानने का एक ही अर्थ समझ में आता है कि उस वाक्य को 'अ' का वर्णन करने वाले वाक्य आपादित करते हैं। परन्तु चूंकि तार्किक सत्य हर वाक्य द्वारा **आपादित** होते हैं, अतः उन्हें हर परिस्थिति—भाषा, संसार आदि-के कारण सत्य मानना होगा। क्वाइन यह भी स्पष्ट करते हैं कि अनुवाद तथा तर्कशास्त्र की अपार्थक्यता, जिसे क्वाइन मानते हैं, भाषात्मक सिद्धान्त के पथ में किसी भी प्रकार नहीं आती। इस अपार्थक्यता के पीछे अधिक से अधिक इस सिद्धान्त का समर्थन है कि स्पष्टतः सत्य वाक्यों का अधिकाधिक संरक्षण तथा कम से कम परिवर्तन होना चाहिये नकि किसी प्रकार की अनिवार्यता (अथवा विश्लेषणात्मकता) जिसे भाषात्मक सिद्धान्त तार्किक सत्यों में मानता है।

इसी सन्दर्भ में क्वाइन अपना यह प्रसिद्ध सिद्धान्त भी प्रतिपादित करते हैं कि 'अनिवार्य' तथा 'आपातिक' अथवा 'विश्लेषणात्मक' तथा 'संश्लेषणात्मक' वाक्यों का भेद निराधार तथा अर्थहीन है। कोईभी ऐसा वाक्य नहीं होता जो आनुभविक प्रमाणों से पूर्णतः तटस्थ हो। तर्कशास्त्र तथा गणित के सिद्धान्त भी, सिद्धान्ततः, आनुभविक प्रमाणों के आधार पर खण्डित किये जा सकते हैं। संक्षेप में, क्वाइन का सिद्धान्त यह है कि निरीक्षणात्मक वाक्यों को छोड़ कर अन्य कोई भी वाक्य अन्य वाक्यों से अलग होकर अकेले ही आनुभविक प्रमाणों से सत्यापित अथवा खण्डित नहीं किये जाते। अनुभव हमारे विश्वासों के पूर्ण समूह को समग्रता में प्रभावित करते हैं। कोई 'विरोधी' अनुभव केवल यह दर्शाता है कि **कहीं कोई** परिवर्तन करना है। कौन-सा परिवर्तन करना है, यह अनुभव स्वयं निर्धारित नहीं करता। परिवर्तन के, अर्थात् विरोधी अनुभव के सामंजस्य के, अनेक विकल्प संभव होते हैं। एक विकल्प यह भी हो सकता है कि हम अपने किसी गणितीय या तार्किक विश्वास का परि-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्याग करें। परन्तु चूँकि यह विश्वास हमारे विज्ञान में, हमारे विश्वास-समूह में, अत्यन्त केन्द्रीय स्थान रखते हैं इसलिए इनका परित्याग करने से हमें उस समूह में और भी अनेक परिवर्तन करने पड़ेंगे। तात्पर्य यह है कि इन विश्वासों के परिवर्तन अथवा परित्याग के साथ जो दूसरे परिवर्तन आवश्यक हैं वे अन्य विकल्पों के परिवर्तनों से कहीं अधिक होते हैं। इसलिए व्यावहारिक सुविधा के लिए हम यह नियम बना लेते हैं कि कम परिवर्तन वाले विकल्प से ही विरोधी अनुभव का समायोजन किया जाय। परन्तु सिद्धान्त रूप में तार्किक सत्य भी उसी प्रकार विसत्यापित किये जा सकते हैं जैसे विज्ञान के सैद्धान्तिक नियम।[6]

—लखनऊ विश्वविद्यालय

लेख में प्रयुक्त कुछ पारिभाषिक शब्दों के अंग्रेज़ी पर्याय

अचल प्रतीक	=	constant
अधिभाषा	=	metalanguage
अमूर्त्तीकरण	=	abstraction
अर्थपरक स्वर	=	semantic accent
अस्तित्वपरक	=	existential
आपातिक	=	contingent
कोटि	=	category
खुला वाक्य	=	open sentence
चल प्रतीक	=	variable
तंत्र	=	system
ध्वनिग्राम	=	phoneme
निपात	=	particle (grammatical
प्रेक्षणात्मक वाक्य	=	observation sentence
परिमाणन्	=	quantification
पूर्णता उपपत्ति	=	completeness theorem

६. क्वाइन के इस सिद्धान्त की आलोचना के लिये देखिये मेरा लेख:—"नव्यव्यावहारिकतावाद और अनिवार्यतः सत्य", तत्त्वचिन्तन, शरद्, १९६९, अंक २, पृ० २७–३०।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतितथ्यात्मक सोपाधिक	=	counterfactual conditional
प्रतिमान	=	model
प्रतिज्ञप्ति	=	proposition
प्रतिज्ञप्त्यात्मक अभिवृत्ति	=	propositional attitude
प्रवृत्ति प्रत्यय	=	disposition concept
प्रसंगाधीन परिभाषा	=	contextual definition
फलन संकेत	=	functor
बन्द वाक्य	=	closed sentence
मध्याभाव नियम	=	law of excluded middle
रूपग्राम	=	morpheme
विधेय	=	predicate
विधेयन	=	predication
एकाश्रित विधेय	=	one-place predicate
द्विआश्रित विधेय	=	two–place predicate
व्यक्तीकरण	=	individuation
स्वर	=	accent
समायोजना (संस्थान)	=	schema
समानार्थकता	=	synonymy
समुच्चय	=	set
सत्यापन	=	verification
संवादिता सिद्धान्त	=	correspondence theory

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न्याय का स्वरूप[1]

चांदमल शर्मा

प्रोफेसर ओटो बर्ड की पुस्तक 'दी आइडिया आफ जस्टिस' इन्स्टीट्यूट फॉर फिलोसोफीकल रिसर्च द्वारा आधारभूत पाश्चात्य अवधारणाओं के अध्ययन के कार्यक्रम के अन्तर्गत तैयार की गई है। यह पुस्तक डा० बर्ड द्वारा निर्देशित सामूहिक अनुसंधान–योजना का परिणाम है। अनुसंधान–योजना में प्रयुक्त पद्धति का निर्धारण डा० बर्ड और उनके नेतृत्व में काम करने वाले साथियों द्वारा नहीं किया गया था। बल्कि इन्स्टीट्यूट के समग्र अनुसंधान-कर्त्ताओं के सामूहिक निर्णय से किया गया था। इन्स्टीट्यूट की अनुसंधान-योजनाओं का उद्देश्य उपलब्ध लिखित सामग्री का विवेचन करना है, जिससे उसमें उठाये गये मूलभूत प्रश्नों के उत्तर ढूंढने में बौद्धिक प्रयास आगे बढ़ सके। अनुसंधान में द्वन्द्वात्मक पद्धति का प्रयोग किया गया है। पाश्चात्य दर्शन में न्याय विषयक जो वाद-विवाद हुआ है प्रस्तुत पुस्तक में उसका प्रस्तुतीकरण द्वन्द्वात्मक निदर्श के अनुसार किया गया है। प्राक्कथन के लेखक एड्लर के अनुसार, विषय की तार्किक व्याख्या के लिए यह आवश्यक है कि वाद-विषय का स्वरूप सुस्पष्ट हो, उस पर उपलब्ध साहित्य के आधार पर ऐसे बुनियादी प्रश्न उठाये जांय जिनके उत्तर प्रमुख प्रतिनिधि विचारकों की कृतियों से दिये जा सकें और प्राप्य सामग्री से उन मतों की संरचना की जाय जो मूलभूत प्रश्नों के उत्तर देने में अपनी विशिष्ट दृष्टि की स्थापना करते हैं।

न्याय के विविध एवं विभिन्न अर्थ होने से इस विषय का अत्यन्त विवादास्पद होना आश्चर्य की बात नहीं है। प्रस्तुत पुस्तक का उद्देश्य सम्पूर्ण लिखित विवाद का समग्र दृष्टि से सरल और स्पष्ट विवेचन करना है। यहां प्रयुक्त विवेचन की विधि का ऐतिहासिक एवं दार्शनिक पद्धति से विभेद करने के लिए इसे द्वन्द्वात्मक प्रणाली कहा गया है। न्याय के बारे में किसी नए मत की स्थापना करना पुस्तक का ध्येय नहीं है। अनुसंधान का विषय न्याय नहीं न्याय-सम्बन्धी विभिन्न मत हैं। कार्ल पॉपर एवं सी० एल० स्टीवेंसन के अनुसार, न्याय की सर्वमान्य परिभाषा करना असम्भव है। किन्तु यह धारणा ठीक नहीं है। न्याय की परिभाषा

---

१. ओटो ए० बर्ड : दी आइडिया आफ जस्टिस (फ्रेडरिक ए० प्रेगर, न्यूयार्क) १९६७.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को लेकर जितनी सहमति विद्यमान है पॉपर तथा स्टीवेंसन उसे उतना नहीं आंकते । न्याय के बारे में हुए ऐतिहासिक विवाद का सर्वसामान्य विषय ठीक-ठीक क्या है इस का निर्णय करने में प्लेटो की रिपब्लिक में प्राप्य चार परिभाषाएं बहुत उपयोगी हैं । रिपब्लिक में निम्नलिखित परिभाषायें मिलती हैं—

१–सच बोलना, एवं जो हमें प्राप्त है उसे अदा करना ।

२–हर व्यक्ति को उसका प्राप्य देना ।

३–कानून में अभिव्यक्त शासक वर्ग के हितों के अनुसार आचरण करना ।

४–अन्य व्यक्तियों के साथ आपसी सम्बन्धों एवं आत्मा के आन्तरिक नियमन में अपना निर्धारित कर्त्तव्य करते रहना ।

इन परिभाषाओं का विश्लेषण करने पर हमें इनमें तीन सामान्य तत्त्व मिलते हैं । एक यह कि न्याय सामाजिक प्रतिमान है । दूसरे, न्याय अनुमोदनमूलक है । तीसरे, न्याय आदेशात्मक है । इन परिभाषाओं में न्याय को मार्गदर्शक के रूप में माना गया है । न्याय मनुष्य के पारस्परिक आचरण का नियामक है । न्याय मनुष्य के अपने प्रति कर्त्तव्य का मानक नहीं होकर उसके अन्य व्यक्तियों के प्रति कर्त्तव्यों का मानदण्ड है । इस प्रतिपादन के विरुद्ध यह कहा जा सकता है कि जो उपरोक्त चतुर्थ परिभाषा रिपब्लिक में सुकरात द्वारा दी गई है उसमें आत्मनियमन को न्याय का घटक बताने के कारण सामाजिकता अनुषंगी रह जाती है । किन्तु सुकरात के इस कथन से कि, अन्याय करना अन्याय भोगने से अधिक हेय है, यह संदेह दूर हो जाना चाहिये, क्योंकि "अन्याय भोगने" में "समाज" पूर्वापेक्षित है । न्याय को आत्मनियमनमूलक बताने में सुकरात का प्रयोजन न्याय का मूल स्रोत आत्मा में ढूंढना था नकि न्याय की सामाजिकता को अस्वीकारना ।

इस बात में सभी दार्शनिक सहमत हैं कि न्यायानुभूति में मनुष्य के संवेगों का भी सहयोग रहता है । 'अ न्याय्य है' यह वाक्य अ के प्रति अनुमोदन का द्योतक है । किन्तु यह प्रश्न कि न्याय के अनुमोदनमूलक तत्त्व का कोई निरपेक्ष आधार भी है, याकि यह केवल विषयीगत संवेगों को ही प्रकट करता है, विवादास्पद है । अनुमोदन–मूलक होने के साथ ही न्याय आबंधक एवं आदेशात्मक भी है । इस दृष्टि से यह शिष्टाचार एवं व्याकरण के मानकों से बहुत भिन्न है । शिष्टाचार एवं व्याकरण के मानक आबंधकता उत्पन्न नहीं करते । किन्तु जो न्याय्य है वह करणीय भी है । उसे नहीं करना अन्यायपूर्ण है । उपर्युक्त तीन सूत्रों के आधार पर हम न्याय, उदारता, कानून एवं नैतिकता में अंतर बता सकते हैं । अनुमोदनात्मकता न्याय को कानून से पृथक् कर देती है । यद्यपि न्याय की भांति कानून सामाजिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानक है किन्तु कानून के अनुशासन से बद्ध सभी लोगों का अनुमोदन कानून को प्राप्त नहीं होता। उदारता निस्सन्देह सामाजिक गुण है किन्तु इसमें लगभग सभी दार्शनिक सहमत हैं कि उदार होना श्रेष्ठ है पर उदारतापूर्ण कार्य करना मनुष्य का कर्त्तव्य नहीं हो सकता। यद्यपि कुछ दार्शनिक इस बात से असहमत हैं कि "नैतिकता समाज को पूर्वापेक्षित करती है, किन्तु कुछ नैतिक गुण, जैसे साहस एवं संयमशीलता, नैतिक सद्गुण हैं और वे समाज-मूलक नहीं हैं, व्यक्ति-सापेक्ष ही हैं।

न्याय–सम्बन्धी विभिन्न मतों के विश्लेषण एवं वर्गीकरण के लिए छः सारभूत प्रश्न हैं जिनका उल्लेख करना यहां उपयुक्त होगा—

(१) क्या न्याय एवं वैधता एक ही है ?

(२) क्या न्याय कानून की कसौटी है ?

(३) क्या न्याय नैसर्गिक अधिकारों पर आधारित है ?

(४) क्या न्याय वैधता के अतिरिक्त अन्य किसी भी अर्थ में मानव-आचरण का निरपेक्ष मानदंड है ?

(५) क्या कानूनी एवं सामाजिक आदेशों के द्वारा स्थापित आबद्धता के अतिरिक्त न्याय की अपने आप में कोई आबद्धता है ?

(६) क्या न्याय विशिष्ट सद्गुण है ?

ये मूलभूत प्रश्न न्याय विषयक विभिन्न मतों का विश्लेषण करने के उपकरण हैं जिससे उनके मतैक्य एवं मतान्तर ठीक से स्थापित किए जा सकते हैं। इन प्रश्नों के आधार पर न्याय के बारे में तीन मौलिक मतों का निर्धारण एवं उनमें भेद किया जा सकता है। इस तरह ये प्रश्न न्याय के स्वरूप के बारे में बुनियादी मतभेद उद्घाटित करते हैं। किन्तु यहां यह कहना प्रासंगिक होगा कि उपर्युक्त मौलिक प्रश्न ही मतान्तरों के एकमात्र स्रोत नहीं हैं।

बुनियादी प्रश्नों पर तीन पृथक् दृष्टिकोण हैं—(१) "वस्तुपरक कानून" (पोज़िटिव लॉ) मत, जो न्याय और कानून–पालन को अभिन्न मानता है। यह मत प्रथम प्रश्न का उत्तर स्वीकारात्मक और अन्य सभी प्रश्नों का उत्तर नकारात्मक देता है। अन्य दो मत न्याय का कानून-पालन से तादात्म्य नहीं मानते। दोनों मत न्याय को कानून का मानदण्ड मानते हैं। किन्तु न्याय की नैसर्गिकता के बारे में इनमें मतान्तर है। "नैसर्गिक अधिकार" (नेचुरल राइट)–मत के अनुसार न्याय नैसर्गिक अधिकारों पर आश्रित है। 'समाज–हित' (सोशल गुड) – मत नैसर्गिक अधिकारों की बात अस्वीकार करता है। यह न्याय की व्याख्या समाज–हित की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पदावली में करता है। जिस कार्य से समाज-हित में वृद्धि होती है वही न्याय्य है। कानून एवं नैसर्गिक अधिकार के प्रश्न तीनों मतों को किस प्रकार पृथक् करते हैं, यह द्रष्टव्य है। वैधता के बारे में निम्नोक्त कथन लीजिये :—

(१) राज्य द्वारा बनाये कानून ही ग्राचरण के नियामक हैं, जो समाज में मनुष्यों के लिए न्याय का मानदंड स्थापित करते हैं।

यह प्रतिपादन वस्तु-परक कानून मत की प्रमुख विशेषता है। अन्य दोनों मत उपर्युक्त प्रतिपादन को अस्वीकार करते हैं।

नैसर्गिक अधिकार के प्रश्न के बारे में निम्नलिखित कथन निर्णायात्मक है—

"मानव-अधिकार और उन पर आश्रित न्याय-सिद्धान्त समाज की देन है। वह समुचित सामाजिक जीवन उपलब्ध करने के लिए मानव द्वारा किए गये प्रयासों की निष्पत्ति है।" इस कथन की स्वीकृति में, जिसमें नैसर्गिक अधिकार-मत का निराकरण भी निहित है, वस्तु-परक-कानून-मत एवं सामाजिक हितमत सहमत हैं। नैसर्गिक अधिकार मत इस कथन को अस्वीकार करता है।

वस्तुगत कानून मत के अनुसार न्याय वैधता को छोड़कर आत्मगत अनुमादन की अभिव्यक्ति मात्र रह जाता है। सामाजिक हित मत न्याय को समाज-हित-वृद्धि में प्रतिष्ठित मानता है। नैसर्गिक अधिकार मत न्याय का वस्तुपरक अर्थ नैसर्गिक अधिकार में देखता है। यदि यह पूछा जाय कि 'अ न्याय्य है' में अनुमोदन का आशय कैसे निहित है, तो नैसर्गिक अधिकार मत का उत्तर होगा कि जो नैसर्गिक अधिकार पर आधारित है उसको पसन्द करना मनुष्य के लिए स्वाभाविक है। इसी प्रकार सामाजिक हित मत का उत्तर होगा, जिससे सामाजिक हित की वृद्धि होती है—आदि। वस्तुपरक कानून मत अनुमोदन को विषयीनिष्ठ मानता है। विषयीनिष्ठ होने से वह व्यक्ति-सापेक्ष है। न्याय की आबद्धता के बारे में भी तीनों मत भिन्न व्याख्यायें प्रस्तुत करते हैं। नैसर्गिक अधिकार मत के अनुसार न्याय की कर्त्तव्यता अपनेआप में निरुपाधिक एवं नैतिक आबद्धता है। इस विषय पर वस्तुपरक कानून मत की प्रस्थापना दोहरी है। विषयनिष्ठ अर्थ में न्याय कानून-पालन ही है। अतः न्याय्य आचरण का औचित्य और कानून-पालन का औचित्य अभिन्न हैं। दण्ड-निवारण-हेतु हम कानून के अनुसार आचरण करते हैं। ठीक वही हेतु हमारे न्याय-संगत कार्यों का होता है। यदि न्याय का प्रयोग विषयीनिष्ठ अर्थ में किया जाय तो न्याप्य के औचित्य का आधार अनुमोदनमूलक संवेग है। हम न्यायसंगत काम पसन्द करते हैं। अतः हम न्यायसंगत कार्यों को करणीय कहते हैं। सामाजिक हित मत न्याय को साधन और समाजहित को साध्य मानता है। अतः इसका दृष्टिकोण प्रयोजनवादी है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समाज–हित को बढ़ावा देने के लिए हमें न्यायसंगत काम करने चाहिएं। पर समाज–हित मत के लिए आधारभूत प्रश्न तो यह है कि समाज–हित की अभिवृद्धि करना व्यक्ति का कर्त्तव्य क्यों है ? इसके दो वैकल्पिक उत्तर दिये जा सकते हैं जो दोनों ही समानरूप से समाजहित मत के लिए घातक हैं। एक तो यह कि समाज–हित को बढ़ावा देने से हम अपने आपको समाज की अनुशास्तियों "सैंक्शन्स्" से बचाते हैं। यह उत्तर इस मत को वस्तुपरक कानून मत के समीप ले आता है। यदि यह कहें कि समाज–हित की अभिवृद्धि करना अपनेआप में हमारा नैतिक कर्त्तव्य है तो यह उत्तर इस मत को नैसर्गिक अधिकार मत के पास ला देता है जिससे यह विषयनिष्ठ कानून मत का विरोधी हो जाता है।

न्याय को सद्गुण मानने के सम्बन्ध में वस्तुपरक कानून मत का विचार सुविदित है। यह कानून–पालन में ही न्याय के सद्गुण को निहित मानता है। अन्य दो मत न्याय को विशिष्ट सद्गुण समझते हैं। किन्तु समाजहित मत की प्रवृत्ति न्याय और उदारता को एक–दूसरे में समाविष्ट करने की है। नैसर्गिक अधिकार मत के कुछ प्रतिपादक तो न्याय और सम्पूर्ण सदाचार को एक ही मानते हैं, जैसाकि प्लेटो की रिपब्लिक में देखा जा सकता है, किन्तु कुछ अन्य न्याय को मुख्य सद्गुणों में एक सद्गुण स्वीकार करते हैं।

(२)

पहले कहा जा चुका है कि न्यायविषयक मूलभूत प्रश्नों के आधार पर तीन मौलिक मतों को पृथक् किया जा सकता है। अब इन मौलिक मतों का विस्तारपूर्वक विश्लेषण किया जायगा। इस विश्लेषण के दो मुख्य लक्ष्य हैं। एक तो यह कि इनके मतैक्य और मतान्तर ठीक प्रकार से विदित हो जांय जिससे इन मतों की युक्तता एवं अयुक्तता के बारे में पाठक स्वयं अपना निर्णय कर सकें। दूसरे यह बताना कि ये मत वास्तव में प्रतिपादित हुए हैं। इन लक्ष्यों की पूर्त्ति के लिए प्रत्येक मत का एक प्रतिमान तैयार किया गया है। यह प्रतिमान एक द्वन्द्वात्मक संरचना है। मत विशेष को मानने वाले किसी भी दार्शनिक का प्रतिपादन संरचित प्रतिमान के साथ एकाकार नहीं है, किन्तु कुछ दार्शनिकों के प्रतिपादन प्रतिमान के अधिक निकट हैं। जिन दार्शनिकों के मत प्रतिमान के अधिक निकट हैं उन्हें उस मत का निदर्श लेखक माना गया है। बुनियादी मतों की द्वन्द्वात्मक संरचना में निदर्श–मत–लेखकों की कृतियों को ही आधार बनाया गया है। तीनों मतों के द्वन्द्वात्मक प्रतिमानों के आधार पर दार्शनिकों के न्याय सम्बन्धी विविध मतों का स्थान निर्धारित किया जा सकता है। निदर्श–मत–लेखकों की कृतियों का उपयोग करने के दो उद्देश्य हैं। एक तो यह दिखाना कि न्याय पर हुए वाद–विवाद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर वास्तव में तीन मौलिक मत हैं। दूसरे यह सिद्ध करना कि निदर्श-मत-लेखक ने मत के द्वन्द्वात्मक प्रतिमान के अनुरूप विचार प्रकट किए हैं।

(३)

विषयनिष्ठ कानून मत के अनुसार न्याय के स्वरूप की संक्षिप्त व्याख्या निम्न छः कथनों द्वारा की जा सकती है :

(१) न्याय और अन्याय विषयनिष्ठ कानून पर आश्रित हैं।

(२) कानून न्याय से स्वतन्त्र है।

(३) न्याय कानून-पालन में निहित है।

(४) वैधता के अतिरिक्त न्याय विषयीनिष्ठ मानक मात्र है।

(५) अन्ततः न्याय वैधिक एवं राजनीतिक अनुशास्तियों के कारण ही है।

(६) सद्गुण के रूप में न्याय एवं कानून-पालन में तादात्म्य है।

वस्तुपरक कानून मत के दो प्रमुख भाग हैं। एक, न्याय का वस्तुपरक कानून की पदावली में विवेचन। दूसरा, अर्थ-सम्बन्धी सिद्धान्त जो 'न्याय' शब्द के अन्य निदर्शभूत प्रयोगों को अस्पष्ट और विषयीनिष्ठ बताता है।

किसी भी लेखक की कृतियों में उपर्युक्त छहों प्रस्थापनायें स्पष्ट रूप में नहीं मिलतीं। अन्य लेखकों की तुलना में हॉब्स प्रतिमान के सबसे अधिक समीप है। किन्तु हॉब्स के ग्रन्थ में भी चौथी प्रस्थापना के बारे में कोई विचार नहीं मिलता। जब लोग कानून को न्यायपूर्ण या अन्यायपूर्ण बताते हैं तो इससे उनका क्या अभिप्राय होता है, इस पर हॉब्स ने ध्यान ही नहीं दिया। यद्यपि किसी निदर्श लेखक में छहों प्रस्थापनायें नहीं मिलती हैं, किन्तु उनमें से किसी ने भी एक या दो से अधिक बुनियादी प्रश्नों की अवहेलना नहीं की है, और इन लेखकों ने चार या पांच प्रस्थापनाओं के बारे में जो कुछ कहा है उससे स्पष्ट संकेत मिल जाता है कि जिन प्रश्नों के बारे में वे चुप हैं उन पर उनका क्या मत हो सकता था। विषयनिष्ठ कानून मत के तीन निदर्श लेखक हैं—हॉब्स, ऑस्टिन और केल्सन। इनमें हॉब्स प्रमुख है। वस्तुपरक कानून मत का मूल तत्त्व इस दावे को लेकर है कि वह न्याय शब्द के सभी महत्वपूर्ण प्रयोगों की सन्तोषजनक व्याख्या कर सकता है। इस दावे की पुष्टि तीन तरह से की गयी है। प्रथम, यह दिखा कर कि न्याय कानून पर निर्भर करता है। कानून के अभाव में न्याय और अन्याय का प्रश्न ही नहीं उठ सकता। दूसरे, कानून न्याय का पूर्वगामी है, अतः न्याय कानून का मानदंड नहीं हो सकता—कानून के न्याय-संगत या अन्याय-संगत होने की बात कहना असंगत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। तीसरे, कानून न्याय का पूर्ण मानदंड है। कोई कार्य न्यायसंगत है या नहीं, यह निर्णय करने के लिए यह निश्चय करना पर्याप्त हैं कि वह कानून के अनुरूप है या नहीं।

हॉब्स मानव की कानून-विहीन अवस्था का वर्णन करता है। उसके अनुसार, उस अवस्था में कोई सर्वमान्य शक्ति-केन्द्र नहीं होता जो आदेश दे सके और आदेशों का बलपूर्वक पालन करवा सके। न्याय और अन्याय की बात तभी की जा सकती है यदि कोई ऐसी शक्ति हो जो सब लोगों को समानरूप से अपने वायदे पूरे करने के लिए विवश कर सके। दंड-समर्थ उत्कृष्टतम शक्ति के अभाव में न तो वैयक्तिक संविदा का कोई आधार होता है और न सम्पत्ति का। राजदंड के अभाव में संविदायें शब्दमात्र हैं, उनमें दायित्व उत्पन्न करने की शक्ति नहीं होती, अतः वे अप्रामाणिक होती हैं। प्राकृतिक अवस्था में प्रत्येक मनुष्य का प्रत्येक वस्तु पर अधिकार होता है, जो किसी भी ममुष्य का किसी भी वस्तु पर कोई भी अधिकार नहीं होने के समान है। जहां किसी भी मनुष्य का किसी भी वस्तु पर अधिकार नहीं होता, अर्थात् जहां सम्पत्ति नहीं होती, वहां न्याय-अन्याय की बात ही नहीं की जा सकती। इस अवस्था में अपनी जीवन-रक्षा के लिए मनुष्य कुछ भी करे तो उसके कार्य को अन्यायपूर्ण नहीं कहा जा सकता।

रोमी कानून में न्याय की जो परिभाषा की गई है वह हॉब्स को मान्य है। रोमी कानून के अनुसार जो जिसका है वह उसे देना ही न्याय है। पर हॉब्स इस परिभाषा को इस शर्त पर मानता है कि जो जिसका प्राप्य है वह कानून द्वारा ही निर्धारित किया जा सकता है। अतः न्याय और अन्याय कानून पर आश्रित हैं। वे सिविल सोसाइटी की उपज हैं।

केल्सन के अनुसार भी समाज के आधार-भूत मानक न्याय और अन्याय निर्धारित करते हैं। हर समाज की दृष्टि में उसकी व्यवस्था न्यायोचित एवं उसके अनुसार आचरण न्यायसंगत है। अतः न्यायान्याय समाज-सापेक्ष हैं। वस्तु-परक कानून मत के लिए न्याय कानून का आदर्श नहीं है। कानून को न्यायसंगत या अन्यायसंगत कहना भ्रान्तिजनक है। हाब्स ने कहा है कि कानून अन्यायसंगत नहीं हो सकता। हॉब्स की तरह ऑस्टिन भी कहता है कि 'वस्तुपरक कानून' वैधिक न्याय और अन्याय का मापदंड या कसौटी है और परिणामतः यदि वस्तुपरक कानून वैधिक दृष्टि से अन्यायपूर्ण हो सकता है तो वस्तुपरक कानून अपनी ही कसौटी से (मापा जाकर या जांचा जाकर) अन्यायसंगत है।' यही बात केल्सन ने भी कही है। न्याय का अर्थ वैधता है। इसलिए इस प्रश्न का, कि कोई कानून अन्याय-संगत है, अर्थ है कि अमुक कानून कानून है या नहीं है, जोकि एक हास्यास्पद प्रश्न है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसमें कोई सन्देह नहीं कि कानून का मूल्यांकन हो सकता है। पर मूल्यांकन की कसौटी न्याय नहीं है। कानून सप्रयोजन होते हैं। उनका अच्छा और बुरा होना इस बात पर निर्भर करता है कि वे कहां तक अपने प्रयोजन को पूरा करने में सफल होते हैं। पर कानून का मूल प्रयोजन क्या है, इस प्रश्न का उत्तर वस्तुपरक न्याय मत के सभी समर्थकों ने एक ही नहीं दिया है। हॉब्स शांति एवं सुरक्षा स्थापित करना कानून का परम उद्देश्य मानता है। ऑस्टिन के लिए कानून का चरम लक्ष्य सामान्य उपयोगिता में वृद्धि करना है। केल्सन के अनुसार कानून का प्रमुख लक्ष्य सामाजिक सुख को उन्नत करना है। पर इस बात में सभी एकमत हैं कि कानून से परे कानून का प्रयोजन सन्दिग्ध, निष्फल एवं विषयीगत ही हो सकता है। कानून ही मनुष्य के आचरण का मूल्यांकन करने का असन्दिग्ध एवं निरपेक्ष मापदंड होने में सक्षम है। वही न्याय एवं अन्याय का संतोषजनक मानक है।

हां, कानून की कार्यान्विति और विनियोग में न्याय मानदंड स्थापित करता है। इस प्रसंग में न्यायपूर्ण विनियोग से तात्पर्य कानून के निष्पक्षपातपूर्ण प्रयोग से ही है। पर कानून की उद्घोषणा में न्याय मार्ग-दर्शक नहीं हो सकता। इस विषय पर केल्सन और एल्फ रॉस के मत एक से ही हैं। दोनों समानरूप से कानून के तत्त्व का मूल्यांकन करने के लिए न्याय को अक्षम मानते हैं परन्तु इस बात को स्वीकार करते हैं कि कानून का विनियोग न्यायसंगत या अन्यायसंगत हो सकता है। एल्फ रॉस ने तो स्पष्टतः कहा है कि "न्यायसंगत" और 'अन्यायसंगत' शब्दों का अर्थपूर्ण प्रयोग न्यायाधीश के निर्णयों का मूल्यांकन करने के लिए किया जा सकता है। न्यायाधीश का निर्णय वर्तमान कानून के अनुसार है तो वह न्यायसंगत है, अन्यथा निर्णय अन्यायपूर्ण है। किन्तु विधायक के लिए न्यायसंगत और अन्यायसंगत शब्दों का प्रयोग नहीं किया जा सकता। न्यायाधीश एवं विधायक में महत्वपूर्ण अन्तर यह है कि न्यायाधीश कानून के अधीन है, विधायक कानून से परे है। इसलिए न्याय के परम्परागत सिद्धान्तों को वस्तुपरक कानून मत न्यायालयों तक ही सीमित कर देता है। यह बात समानता के सिद्धान्त के लिए विशेषरूप से लागू होती है।

केल्सन समानता के सिद्धांत का विशुद्ध आकारिक सिद्धान्त में अन्तर्भाव कर देता है। उसका कहना है कि वैधिक समानता का सिद्धान्त वस्तुपरक कानून के सामान्य मानक को विशिष्ट पर लागू करने के सन्दर्भ में निहित अंतर्विरोध का तार्किक नियम ही है। न्याय राज्य की नीति का मानदण्ड नहीं हो सकता। कानून-निर्माता होने से राज्य न्याय का मूल स्रोत है।

वस्तुपरक कानून मत के सभी समर्थक कानून को न्याय की कसौटी मानने में सहमत हैं। हॉब्स का कहना हैं कि "जो कानून के विरुद्ध नहीं है वह अन्यायसंगत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नही हो सकता। जो अपने देश के कानूनों का पालन करता है वही न्यायसंगत है।" यही बात अन्य शब्दों में ऑस्टिन ने कही है। उसके अनुसार "कानून ही न्याय का मापक है।" केल्सन यह दावा करता है कि न्याय का कानून में अंतर्भाव करके उसने इसका द्वैत समाप्त कर दिया हैं। न्याय की इस परिभाषा को, कि 'जो जिसका प्राप्य है वह उसे प्रदान करना न्याय है' वस्तुपरक कानून मत संतोषजनक नहीं मानता। यह पहले ही कहा जा चुका है कि हॉब्स के मत में इस परिभाषा में कानून व्यवस्था का होना पूर्वापेक्षित है क्योंकि किसका क्या दातव्य है यह कानून द्वारा ही और कानून व्यवस्था की बदौलत ही निश्चय किया जा सकता है। इस परिभाषा की ओर निर्देश करके केल्सन कहता है कि यह एक निरर्थक सूत्र है, क्योंकि यह इस बात के बारे में कि, किसका क्या नियत है, मार्ग-दर्शन नहीं करता। किसका क्या देय है इसका अनुदेश वस्तुपरक कानून ही दे सकता है।

कानून को न्यायान्याय की कसौटी मानने से वस्तुपरक कानून मत द्वारा नैसर्गिक अधिकार के सिद्धान्त का परित्याग अपेक्षित ही है। केल्सन तो नैसर्गिक अधिकार का निराकरण स्पष्ट रूप से करता है। उसके अनुसार, नैसर्गिक कानून मत वस्तुपरक कानून के समान नैसर्गिक अधिकार का निरपेक्ष मानक स्थापित नहीं कर सकता।

ऑस्टिन के अनुसार "नैसर्गिक कानून" भ्रान्तिजनक पद है जिसका विधिशास्त्र एवं नीति-शास्त्र से बहिष्कार कर देना चाहिये। दैवी नियम एवं नैतिक सिद्धान्त अस्पष्ट, अनिश्चित एवं सापेक्ष होते हैं अतः वे नैसर्गिक अधिकारों के आधार नहीं हो सकते। हॉब्स भी नैसर्गिक अधिकारों को न्याय का आधार नहीं मानता। जब हॉब्स कहता है कि नैसर्गिक कानून या अधिकार न्याय के स्रोत हैं तब उसका अभिप्राय यह है कि नैसर्गिक कानून की स्थिति मानव की वह पूर्वावस्था है जो कानून-व्यवस्था में परिणत होती है। उस अवस्था में न्यायान्याय का प्रश्न ही नहीं उठता। "नैसर्गिक कानून" से वह उन हेतुओं की ओर भी निर्देश करता है जिनसे प्रेरित होकर मानव "प्राकृतिक अवस्था" का परित्याग कर कानून के शासन की ओर अग्रसर होता है।

हॉब्स, ऑस्टिन, केल्सन और रॉस सभी समान रूप से अनुमोदन को विषयीनिष्ठ मानते हैं। जब 'न्याय' वैधिक का वाचक नहीं होता तब वह विषयीनिष्ठ संवेग की अभिव्यक्ति के अतिरिक्त कुछ नहीं होता। ऑस्टिन ने यह विचार स्पष्टता से प्रकट किया है। उसने एक स्थल पर कहा है कि वैधिक के अतिरिक्त किसी भी अन्य अर्थ में अन्याय की बात कहना केवल नापसन्दगी का द्योतक है, जोकि घुरघुराहट से या कराह से ज्यादा ठीक व्यक्त की जा सकती है। रॉस और केल्सन के विचार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस विषय पर ऑस्टिन के सदृश ही हैं। उनके अनुसार 'न्याय्य है' उन कथनों में से है जो विषयों के बारे में कुछ कथन करने का आभास देते हैं, किन्तु जो वास्तव में विषयों के बारे में कुछ भी कथन नहीं करते। न्याय के बारे में हॉब्स, केल्सन आदि के ये विचार एक व्यापकतर दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति हैं जिसके अनुसार तथ्य एवं तर्कपरक जगत् का मूल्य-जगत् से मौलिक भेद है। इस विचारधारा में आदर्श-मूलक कथनों का न तो तथ्यों द्वारा सत्यापन हो सकता है और न ही वे विवेक द्वारा प्रमाणित किए जा सकते हैं। यह विचारधारा इन वाक्यों को संवेगमूलक अथवा आदेशात्मक कह कर इन्हें तथ्य-जगत् एवं विवेक-जगत् से पृथक् कर देती है। अतः ये वाक्य सत्य या असत्य नहीं कहे जा सकते।

न्याय में किस प्रकार की कर्त्तव्यता सन्निहित है? वस्तुपरक कानून मत से कर्त्तव्यता में दो भिन्न प्रकार के तत्व हैं :-

(१) एक, दंड-मूलक, जो कानून की भौतिक अनुशास्ति पर आश्रित है।

(२) दूसरा, अनुमोदनमूलक, जो विषयीनिष्ठ संवेग से व्युत्पन्न होता है। कर्त्तव्यता के दोनों तत्त्व हॉब्स के ग्रन्थ में मिलते हैं। हॉब्स का आग्रह है कि न्यायान्याय की बात तभी की जा सकती है जब एक सर्वमान्य बल-प्रवाही शक्ति प्रसंविदा तोड़ने से संभावित लाभ से गुरुतर दण्डत्रास द्वारा सबको समान रूप से अपने प्रसंविदा का सम्पादन करने को बाध्य कर सके। किन्तु हॉब्स अनुबद्धता को केवल शक्ति पर आश्रित नहीं मानता। अन्तिम विश्लेषण में अनुबद्धता सदैव अपने ही कृत की अनुगामी है। राज्य, जोकि कानून एवं तज्जनित न्याय का अक्षत स्रोत है, सामान्य समझौते के परिणामस्वरूप स्थापित होता है। अतः राजाज्ञा का पालन अपने आप ही के आदेश का पालन है। एतदनुसार कानून एवं न्याय की अनुबद्धता शक्ति एवं प्रसंविदा का संयुक्त परिणाम है। न्याय की आबद्धता विषयक शक्ति-मूलक एवं संविदा-मूलक व्याख्या प्लेटो की रिपब्लिक में बहुत अच्छे ढंग से की गयी है। रिपब्लिक में थ्रेसिमेक्स कहता है कि न्याय का प्रयोजन शक्तिशाली के हितों की रक्षा करना है। शासकवर्ग राज्यशक्ति का उपयोग करके अपने हितार्थ कानून बनाता है। ये कानून ही न्यायान्याय के मानदण्ड होते हैं। इस प्रकार सत्तारूढ़ वर्ग के हित ही न्यायान्याय की कसौटी बन जाते हैं। इस अभ्यर्थना में थ्रेसिमेक्स न्याय के शक्ति पर आश्रित होने की बात पर बल देता है। इस मत के विरुद्ध ग्लोकोन का आग्रह है कि मनुष्य का अनुभव उसे यह सिखा देता है कि स्वार्थ-पूर्ति के लिये बल प्रयोग से दूसरों कोपी ड़र प्राप्त सुखा पहुंचाक पीड़ित व्यक्ति द्वारा प्रतिहिंसा करने पर होने-वाले दुःख की तुलना में अकिन्चन होता है। अतः आपसी समझौता करके मनुष्य यह तय कर लेते हैं जिससे न तो कोई किसी को पीड़ित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करे, न कोई किसी द्वारा पीड़ित किया जाय। मनुष्यों का यह आपसी समझौता ही एक साथ राज्य कानून एवं न्याय का उद्गम है।

वस्तुपरक कानून मत द्वारा आबद्धता की व्याख्या में शक्ति पर इतना अधिक बल दिया गया है कि आलोचकों ने इस पर यह आरोप लगाया है कि यह मत "औचित्य और शक्ति" को एक ही मान लेता है। पर यह आरोप सही नहीं है। इस मत के लिये कानून के पीछे केवल नग्न भौतिक बल की अनुशास्ति नहीं है। पुलिस–शक्ति के अतिरिक्त सामाजिक समर्थन कानून की पुष्टि करता है। आॅल्फ रॉस ने यह बात स्पष्ट रूप से कही है। उसके अनुसार, अधिकांश लोग पुलिस के भय से नहीं बल्कि कानून के प्रति आदर की भावना से कानून का पालन करते हैं।

हॉब्स, ऑस्टिन और केल्सन तीनों न्याय के सद्गुण को कानून-पालन में निहित मानते हैं। हॉब्स के अनुसार संप्रभु द्वारा कानून व्यवस्था स्थापित होने के साथ ही सामाजिक नैतिकता का जन्म होता है। कानून–तन्त्र की स्थापना के पूर्व नैतिक-अनैतिक, उचित-अनुचित और न्यायान्याय की बात का कोई अर्थ नहीं होता। हॉब्स-कृत लिवियेथन को समग्र दृष्टि से देखें तो हॉब्स की इस स्थापना के बारे में कोई सन्देह नहीं रहता। किन्तु लिवियेथन के कुछ स्थलों को पृथक् करके पढ़ें तो लगता है कि हॉब्स के अनुसार न्याय-सद्गुण कानून-पालन में नहीं वायदा निभाने में और विवेक-सम्मत आचरण में निहित है। वास्तव में कानून-पालन, विवेक-सम्मत आचरण एवं प्रतिज्ञा-पालन में हॉब्स की दृष्टि से अन्तरंग सम्बन्ध है। वायदा निभाना और कानून का पालन करना एक ही बात है। क्योंकि हॉब्स जब वायदा निभाने की आबद्धता की चर्चा करता है तो उसका आशय प्रसंविदा के प्रति वचनबद्धता का सम्मान करने से ही है। वर्तमान संदर्भ में प्रसंविदा से अभिप्राय उस मूल प्रतिश्रव से है जिससे लिवियेथन की स्थापना के साथ ही सभी लोग समान-रूप से संप्रभु का आदेश मानने को प्रतिबद्ध हो जाते हैं। कानून संप्रभु के आदेश ही हैं। प्रसंविदा के मानने से शान्ति एवं सुरक्षा बनी रहती है अतः प्रसंविदा का पालन विवेकसम्मत है।

सामाजिक हित मत के प्रस्तुतीकरण में उसी पद्धति का अनुसरण किया गया है जो वस्तुपरक कानून मत को प्रस्तुत करने में प्रयुक्त की गई थी।

सामाजिक हित मत न्याय का कानून के साथ तादात्म्य नहीं मानता। जब सिजविक यह आग्रह करता है कि न्याय से हमारा अभिप्राय 'कानून के अनुरूप' होने से नहीं है तो हम उसे सामाजिक हित मत के प्रवक्ता की भूमिका में ले सकते हैं। अपने मत की पुष्टि में सिजविक तीन युक्तियां देता है। पहली, जो लोग कानून की अवज्ञा करते हैं उनमें से कुछ ही के लिए हम यह कहते हैं कि उनका आचरण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्यायपूर्ण है, सबके लिए हम यह बात नहीं कहते । उदाहरण के लिए, जुआरी के आचरण को हम अन्यायपूर्ण नहीं कहते, यद्यपि जुआ खेलना कानून के विरुद्ध है । हम कई बार न्याय के मानदण्ड से कानून का मूल्यांकन करके कुछ कानूनों को न्याय-संगत और कुछ को अन्याय-संगत बताते हैं, कुछ आचरण जिन्हें हम निःसन्देह रूप से कानून के क्षेत्र से बाहर मानते हैं, न्यायालय की परिधि से बाहर नहीं कहे जा सकते । जैसे, पिता का पुत्र के प्रति रुख कानून के क्षेत्र से बाहर होने पर भी अन्यायपूर्ण कहा जा सकता है । सिजविक द्वारा की गई दूसरी और तीसरी युक्तियों का प्रयोग मिल पहले ही कर चुका था ।

मिल ने कहा है कि मनुष्य न्यायालय का प्रयोग जीवन के उन क्षेत्रों में भी करता है जिनका कानून द्वारा नियन्त्रण नहीं किया जाता और जिनका कानून द्वारा नियन्त्रण अनुचित है । उदाहरणार्थ, वैयक्तिक जीवन पर कानूनी नियन्त्रण उचित नहीं है । पर यह स्पष्ट है कि वैयक्तिक जीवन से सम्बन्धित आचरण में न्यायान्याय की कसौटी लागू होती है । इसी प्रकार, सार्वजनिक क्षेत्र में भी कानून के सन्दर्भ के अभाव में भी न्याय आचरण के मापक के रूप में प्रयुक्त होता है । किसी के साथ विश्वासघात करना और पक्षपातपूर्ण व्यवहार करना अन्यायपूर्ण है, यद्यपि यहां कानून अप्रासंगिक है ।

वस्तुपरक कानून मत में नैसर्गिक न्याय को कोई स्थान नहीं है पर सामाजिक हित मत नैसर्गिक कानून को अस्वीकार नहीं करता । ह्यूम के मत में समाज का अस्तित्व न्याय की पूर्वापेक्षा करता है । न्याय की स्थापना राज्य और उसके कानून द्वारा नहीं होती, बल्कि न्याय राज्य एवं कानून-व्यवस्था में पूर्वापेक्षित है । इस तरह ह्यूम इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि राज्य, कानून एवं कानून द्वारा स्थापित न्याय-व्यवस्था से पृथक् नैसर्गिक आचार-संहिता एवं नैसर्गिक कानून की अपनी स्वतन्त्र सत्ता है । सामाजिक हित मत के सभी समर्थक यह मानते हैं कि न्याय कानून की कसौटी है । इस कसौटी पर जांचकर कानून न्यायोचित या अन्याय-संगत घोषित किया जाना चाहिये ।

सामाजिक हित मत के अनुसार मानदण्ड के रूप में न्याय अन्ततोगत्वा सामाजिक हित पर आधारित है । कानून वहीं तक न्याय-संगत है जहां तक उससे समाज-हित में वृद्धि होती है । यदि किसी कानून विशेष से समाज-हित में हानि होती है या बाधा पहुँचती है तो वह कानून अन्याय-संगत है ।

न्याय की समाज पर निर्भरता दिखाने के लिए ह्यूम इसे कृत्रिम सद्गुण दिखाने का प्रयास करता है । न्याय की कृत्रिमता प्रदर्शित करने के लिए वह दो युक्तियां देता है, एक तो यह कि न्याय सद्गुण यदि नैसर्गिक होता तो सम्पत्ति-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषयक मूल प्रवृत्ति मनुष्य में अवश्य पायी जाती। पर इस मूल प्रवृत्ति के होने का कोई प्रमाण मानव–व्यवहार में नहीं मिलता। दूसरे, न्याय समाज–सापेक्ष है। इस दृष्टि से न्याय एवं उदारता में भेद है। उदारता की शुभता उदार कृत्य में ही अन्तर्निहित है। उसकी शुभता के निर्धारण के लिए सामाजिक सम्बन्धों के सन्दर्भ पर विचार करना आवश्यक है। किन्तु न्याय के औचित्य का निर्णय सामाजिक संदर्भ में ही हो सकता है।

न्याय समाज पर आश्रित है, यह दिखाने के लिए ह्यूम एक और तर्क देता है। वह कुछ काल्पनिक परिस्थितियों का उल्लेख करता है जहां न्याय की कोई भूमिका नहीं हो सकती। इस प्रकार की परिस्थितियों के वह कई उदाहरण देता है जिनमें से कुछ निम्नोक्त हैं:—कवियों द्वारा वर्णित स्वर्णयुग, जहां सभी लोगों को इच्छित वस्तुएं प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं; साधु-समाज, जहां सभी उदार-हृदय हैं; अभावग्रस्त समाज, जहां अधिकांश लोग भुखमरी से ग्रस्त हैं; गुण्डों की सोसायटी, आदि। इन उदाहरणों में न्याय-अन्याय का प्रश्न ही नहीं उठ सकता क्योंकि इनमें न्याय कोई सामाजिक कार्य निष्पन्न नहीं कर सकता।

ह्यूम के अनुसार न्याय का उद्‌भव आपसी समझौते से होता है। पारस्परिक समझौते में मूल प्रेरणा व्यक्ति के अपने हितों की रक्षा और सामान्य हित की भावना है। समझौते से प्रतिबद्ध होने से हर व्यक्ति समझौते के अनुसार आचरण करता है कि समाज के अन्य सदस्यों का आचरण भी समझौते के अनुरूप होगा।

सामाजिक हित मत के समर्थकों में रॉस उन कतिपय दार्शनिकों में से है जो न्याय का विश्लेषण स्पष्टतः समझौते की पदावली में करता है। वह सामान्य उपक्रम में भाग लेने के लिए न्याय को पूर्व शर्त मानता है। सामान्य अनुष्ठान के सहभागियों को कुछ सिद्धान्तों को परस्पर अंगीकार करना पड़ता है। इन सिद्धान्तों के अनुसार आचरण करने में ही न्याय-संगत व्यवहार निहित है।

न्याय की समाज पर निर्भरता में नैसर्गिक अधिकारों की अस्वीकृति संकेतित है। मिल और सिजविक, जैसाकि अपेक्षित है, नैसर्गिक अधिकार नहीं मानते। सिजविक कहता है कि नैसर्गिक अधिकार मानव के सामाजिक सम्बन्धों के मानक नहीं हो सकते। मिल ने भी अपने निम्बन्ध 'प्रकृति' में आग्रह किया है कि प्रकृति मनुष्य के मार्गदर्शन के लिए नैतिक आदर्श नहीं प्रदान कर सकती।

न्याय के संप्रत्यय का विश्लेषण करके सिजविज निम्नोक्त घटक तत्त्व प्राप्त करता है।

(१) कानून–पालन।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(२) समानता, (अ) श्रम फल एवं दायित्व के वितरण में, अथवा

(ब) निष्पक्षता, कानून बनाने और लागू करने में मनमानी असमानता के परित्याग के अर्थ में।

(३) प्रसंविदा, सहज एवं सामान्य अपेक्षाओं की पूर्ति।

(४) यथार्ह पुरस्कार एवं दण्ड।

न्याय के उपर्युक्त तत्त्वों का सिजविक उपयोगिता में अन्तर्भाव कर देता है। उपयोगिता से सिजविक का अभिप्राय सामाजिक हित से ही है। न्याय के तत्त्वों का उपयोगिता में अन्तर्भाव करना सामाजिक हित मत की विशेषता है। यद्यपि न्याय की परिभाषा में अधिकार एक महत्वपूर्ण तत्त्व है किन्तु अधिकार सामाजिक हित उन्नत करने के साधन ही हैं। सामाजिक हित मत के कुछ प्रवक्ता समानता को न्याय के विश्लेषण में मुख्य तत्त्व मानते हैं, पर समानता और असमानता की न्यायसंगतता उपयोगिता से ही निर्धारित की जाती है।

सामाजिक हित न्याय का निरपेक्ष मानदण्ड है। किंतु न्याय की निरपेक्षता की पुष्टि समाज-हित-मतावलम्बियों द्वारा दो भिन्न प्रकार से की जाती है। कुछ के अनुसार निरपेक्षता का स्रोत समाज की शुभविषयक सामान्य भावना है। सिजविक के अनुसार निरपेक्षता का आधार विवेक-सम्मत निर्णय है, जिससे हम यह जान लेते हैं कि समाज–हित कैसे उत्पन्न और उन्नत हो सकता है।

ह्यूम के अनुसार, किसी भी कार्य के न्याय्य अथवा अन्याय्य होने के बारे में जो निर्णय दिया जाता है उसमें दो भिन्न तत्त्व रहते हैं। पहला, यह ज्ञान कि वह कार्य उपयोगी है या नहीं। यह तथ्यात्मक तत्त्व है अतः यह तर्क-बुद्धि के कार्य-क्षेत्र समाविष्ट किया जाता है। दूसरा, क्रियोन्मुखी संवेग-तत्त्व, जिसके कारण उपयोगी अनुमोदनीय एवं करणीय हो जाता है। इस उपरोक्त तत्त्व को ह्यूम स्थायी भाव की संज्ञा देता है। सामाजिक अनुभवों द्वारा व्यक्ति शनैः शनैः यह जान जाता है कि कौन से कार्य अनुमोदनीय हैं, कौन से हेय। इस प्रकार व्यक्ति सामाजिक अनुभव स्थायीभाव का निर्माण करते हैं। मिल ह्यूम से इस बात में सहमत है कि न्याय में दो विभिन्न तत्त्व निहित हैं। यद्यपि मिल उनका विवरण भिन्न प्रकार से देता है, किन्तु वास्तव में ये तत्त्व ह्यूम द्वारा उल्लेखित तत्त्वों से भिन्न नहीं हैं। मिल लिखता है—"न्याय आचरण के (नियामक) सिद्धान्त एवं उनका अनुमोदन करने वाले स्थायीभाव में निहित है।" ह्यूम और मिल की तरह सिजविक भी न्याय विषयक निर्णयों में दो तत्त्व समाहित मानता है। इस कथन में कि 'अ न्यायसंगत है' सिजविक के अनुसार दो निम्नोक्त तत्त्व हैं:—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१) क से समाज–हित में वृद्धि होती है, (२) जिससे समाज–हित में वृद्धि हो वह करणीय है। इस बात में तीनों का मतैक्य है कि प्रथम तत्व तथ्य-मूलक है जिसका निर्धारण करने के लिए विवेक–बुद्धि उपयुक्त है। दूसरे तत्व को ह्यूम और सिजविक तो संवेगमूलक मानते हैं, किन्तु सिजविक के अनुसार वह सहज बुद्धि द्वारा प्रदत्त होता है। ह्यूम और मिल के विपरीत, सिजविक नैतिक निर्णयों को संवेगमूलक नहीं मानता। उसके अनुसार नैतिक निर्णय ज्ञानमूलक होते हैं। उनका आधार सहज विवेक है जिससे मनुष्य यह देख लेता है कि अमुक कार्य अपनेआप में उचित एवं विवेकसम्मत हैं चाहे उनके परिणाम कुछ भी हों।

न्याय व्यक्ति या व्यक्तियों में अधिकार सन्निहित होने का सूचक है। उस अधिकार से सम्बद्ध अन्य व्यक्ति या व्यक्तियों में कर्त्तव्य की आबद्धता रहती है और परिणामतः उनमें अधिकार भी सन्निहित होता है। सिजविक की दृष्टि में ह्यूम और मिल द्वारा की गई न्याय की आबद्धता की व्याख्या अत्यन्त असन्तोषजनक है। ह्यूम और मिल आबद्धता की व्याख्या 'नैतिक करणीयता' के तत्व को स्वीकार किये बिना ही करते हैं। ह्यूम न्याय की आबद्धता को समाजाभिमुखी अनुमोदनमूलक करणीयता में अन्तर्भूत करता है। मिल आबद्धता की व्याख्या के लिए प्रयोजनवादी एवं दाण्डिक करणीयता का आश्रय लेता है। इस प्रकार दोनों न्याय की आबद्धता को स्पष्ट करने में असफल रहते हैं। सिजविक कहता है कि 'क से सामाजिक हित है' यह ज्ञान क को स्वतःकरणीय नहीं बना देता, जबतक यह स्पष्ट नहीं हो कि 'समाज-हित' क्यों करणीय है। सिजविक का आग्रह है कि जब हमें यह ज्ञान होता है कि सामाजिक हित के अनुरूप होने से कोई आचरण न्यायसंगत है तब हमारी सहज बुद्धि तत्काल देख लेती है कि वह करणीय है। ह्यूम और मिल की मुख्य भूल यह है कि वे नैतिक करणीयता के आधारभूत सहजबोध की अवहेलना करते हैं। नैतिक प्रातिभज्ञान आचरण के निरुपाधिक सिद्धान्तों के रूप में अभिव्यक्त होते हैं। इनकी सत्यता का ज्ञान सहज बुद्धि से होता है। किन्तु नैतिक आचरण के आधार होने पर भी इन अमूर्त्त एवं सार्वलौकिक सिद्धान्तों से विशिष्ट कर्त्तव्य अनुमित नहीं किए जा सकते। सिजविक के मत में व्यवहार से निरपेक्ष रूप से स्पष्ट नैतिक प्रातिभज्ञानों में निम्नोक्त उल्लेखनीय हैं :—

(१) यदि कोई आचरण मेरे लिए उचित है और अन्य किसी व्यक्ति के लिये अनुचित है तो दोनों की वस्तुस्थिति में महत्वपूर्ण अन्तर होना चाहिये।

(२) यदि मेरे प्रति किया गया व्यवहार उचित है और दूसरों के प्रति किये जाने पर वही व्यवहार अनुचित है तो मेरी और दूसरों की वस्तुस्थिति में महत्वपूर्ण भेद होना चाहिये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(३) कानून का प्रयोग निष्पक्षतापूर्वक किया जाना चाहिये ।

(४) वर्तमान के लघुतर शुभ को भविष्य के गुरूतर शुभ से अधिक श्रेयस्कर नहीं समझना चाहिये ।

(५) सभी व्यक्तियों के हित को समान महत्व देना चाहिये ।

(६) हर व्यक्ति का यह नैतिक कर्त्तव्य है कि वह दूसरों के हित को अपने हित के समान महत्व दे ।

इन नैतिक सत्यों का बोध इतना स्पष्ट होता है कि इनके विवेकसम्मत होने के बारे में कुछ भी सन्देह नहीं रहता । इन सिद्धान्तों को नैतिक आचरण का आधार मान कर सिजविक समाजहित मत में अन्तःप्रज्ञावादी तत्त्वों का समावेश कर देता है ।

समाज–हितार्थ आचरण की प्रवृत्ति ही न्याय–सद्गुण है । समाजहित मत की मुख्य कठिनाई यह है कि यह न्याय–सद्गुण और उदारता में स्पष्ट भेद नहीं कर सकता । इस कठिनाई का मूल कारण यह है कि दोनों के स्रोत और लक्ष्य एक ही हैं । दोनों का स्रोत सहानुभूति है और लक्ष्य सामान्य हित । तथापि ह्यूम, मिल और सिजविक ने न्याय और उदारता में भी भेद किया है । जैसाकि ऊपर कहा गया है, ह्यूम उदारता को नैसर्गिक सद्गुण मानता है, न्याय को कृत्रिम । न्यायोचित आचरण के लिए विवेक, दूर दृष्टि, और सूझ आवश्यक हैं, उदारतापूर्ण व्यवहार के लिए इनकी आवश्यकता नहीं रहती । मिल के अनुसार न्याय द्वारा प्रेरित सेवायें उनके लाभानुभोगियों द्वारा अधिकार के रूप में भोगी जा सकती हैं, किन्तु उदारतापूर्ण व्यवहार में इस प्रकार का दावा नहीं किया जा सकता । सिजविक की दृष्टि में न्याय में उचित वितरण का प्रश्न महत्वपूर्ण है, उदारता में यह प्रश्न प्रासंगिक नहीं होता ।

न्याय और उदारता में चाहे जिस प्रकार भेद किया जाय, न्याय सामाजिक हित सम्पन्न करने एवं प्रोन्नत करने में निहित है । दूसरे शब्दों में, जो उपयोगी है वह न्याय्य है । प्रश्न यह है कि क्या यह मत इस प्रकार न्याय को परिस्थिति-सापेक्ष नहीं बना देता, और यदि न्याय समयोचित गुण ही है तो इसे सद्गुण कैसे कहें ? समाजहित मतवादी दार्शनिकों में केवल मिल ही इस प्रश्न पर गम्भीरतापूर्वक विचार करता है । मिल का इस प्रश्न के बारे में उत्तर यह है कि न्याय अत्यन्त महत्वपूर्ण मामलों में परिस्थिति के अनुसार उपयुक्त कार्य ही है । मिल का यह उत्तर सिजविक को मान्य नहीं, क्योंकि वह मूलभूत नैतिक प्रातिभज्ञान को स्वीकार करता है जिसके द्वारा वह न्याय एवं समयोचितता को पृथक् कर देता है ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नैसर्गिक अधिकार मत की व्याख्या करने के पूर्व समाजहित मत की प्रमुख स्थापनाओं का संक्षिप्त विवरण उपादेय है :—

(१) न्याय और अन्याय केवल वस्तुपरक कानून पर आश्रित नहीं हैं।

(२) न्याय कानून के औचित्य की कसौटी है।

(३) न्याय समाज–सापेक्ष है। न्यायान्याय की धारणायें सामाजिक परिस्थितियों से निर्धारित होती हैं। समाजहित की अभिवृद्धि में ही न्याय निहित हैं।

(४) न्याय मानव–आचरण का मूल्यांकन करने का निरपेक्ष मानदंड है।

(५) न्याय की आबद्धता केवल कानून पर निर्भर नहीं है। उसकी आबद्धता का स्रोत सामाजिक हित प्रोन्नत करने की मानव–प्रवृत्ति भी है।

(६) न्याय विशिष्ट सद्गुण है जो व्यक्ति को समाजहित सम्पन्न एवं प्रोन्नत करने के लिए प्रवृत्त करता है।

नैसर्गिक अधिकार मत अन्य दो मतों से अधिक जटिल है। इसकी मूल स्थापनाओं का प्रारम्भ में ही संक्षिप्त विवरण मत को सुगम बनाने में उपयोगी होगा। निम्नोक्त छः कथनों में नैसर्गिक अधिकार मत का सारांश व्यक्त है :—

१—'न्याय' पद 'कानून' पद से अधिक व्यापक है। कानून के क्षेत्र के बाहर भी न्याय विषयक प्रश्न उठते हैं।

२—न्याय कानून के औचित्य की कसौटी है। जो कानून नैसर्गिक अधिकार के अनुसार हैं वे उचित हैं, जो कानून नैसर्गिक अधिकार के प्रतिकूल हैं वे अनुचित हैं।

३—जो जिसका देय है वह उसे देना चाहिये।

४—न्याय मानव-आचरण का निरपेक्ष मानदंड है।

५—न्याय की आबद्धता वैधिक एवं सामाजिक अनुशास्तियों पर आश्रित नहीं है। न्याय की आबद्धता उसी में अन्तर्निहित है।

६—न्याय विशिष्ट सद्गुण है जो हमें हर व्यक्ति को उसका प्राप्य सौंपने को प्रवृत्त करता है। लॉक, मरेटिन, अरस्तू एवं सन्त एक्वीनास इस मत के निदर्शनीय लेखक हैं।

समाज-हित एवं नैसर्गिक अधिकार मत के जो सारांश इस लेख में दिये गये हैं उनकी तुलना करने पर यह लगता है कि ये मत दोनों एक ही हैं। ६ में से ५ विवादास्पद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मदों पर उनका मत एक-सा ही प्रतीत होता है। केवल तीसरे विवादास्पद पद पर ही उनका मतभेद दीखता है। किन्तु इन मतों में अनुरूपता का आभास भ्रामक है। यद्यपि दोनों मत पांच विवादास्पद पदों के बारे में एक ही उत्तर देते हैं किन्तु उनके उत्तर के आधार तत्वतः भिन्न हैं।

नैसर्गिक अधिकार (नेचुरल राइट) मत न्याय को मूलतः मानवोचित श्रेय मानता है। न्याय की अधिक एवं सामाजिक शुभता आनुषंगिक है।

नैसर्गिक अधिकार के अधिकांश पक्षधर नैसर्गिक नियम (नेचुरल लॉ) के अस्तित्व में विश्वास करते हैं। किन्तु नैसर्गिक अधिकार की स्वीकृति अनिवार्यतः नैसर्गिक कानून का प्रतिग्रहण नहीं है। उदाहरणस्वरूप प्रो० जुलियस स्टोन यह मानते हैं कि न्याय कुछ स्वतःसिद्ध-प्राय कथन (क्वसाइ एब्सोल्यूट्स) हैं, किन्तु वह यह नहीं मानता कि उन्हें नैसर्गिक कानून से प्राप्त किया जा सकता है।

नैसर्गिक अधिकार मत के दो विवरण हैं—एक व्यक्तिवादी, दूसरा अव्यक्तिवादी। प्रथम मत से, नैसर्गिक अधिकार नित्य सहवर्ती हैं। उससे अवियोज्य होने से मनुष्य प्राकृतिक अवस्था में भी उन्हें धारण करता है। इस मत का प्रतिमान-लेखक लॉक है। दूसरे मत के अनुसार नैसर्गिक अधिकार सामाजिक हैं। उनका दावा, प्रयोग और उपयोग समाज में ही किया जा सकता है, प्राकृतिक अवस्था में नहीं। इस दूसरे दृष्टिकोण का समर्थक मेरीटन है।

नैसर्गिक अधिकार मत के कुछ प्रवक्ता नैसर्गिक कानून की बिल्कुल चर्चा नहीं करते। अरस्तू ने अपने न्याय-सिद्धान्त का प्रतिपादन स्वतन्त्रता को केन्द्र-बिन्दू बना कर किया है। न्याय की व्याख्या में कहीं भी वह नैसर्गिक कानून का उल्लेख नहीं करता। कुछ अन्य मतावलम्बी नैसर्गिक कानून को तो प्रमुख स्थान देते हैं किन्तु नैसर्गिक अधिकारों को अधिक महत्व नहीं देते। संत एक्वीनास के विधि दर्शन में नैसर्गिक कानून का विचार प्रमुख है किन्तु वह नैसर्गिक अधिकारों की चर्चा बहुत कम करते हैं।

सन्त एक्वीनास जस्टिनियन संहिता की बहुचर्चित न्याय की परिभाषा "प्रत्येक को उसका उचित प्रदान करने का सतत एवं अखंड संकल्प न्याय है" को स्वीकृति देने में नैसर्गिक अधिकार मत के सभी समर्थकों का प्रतिनिधित्व करता है। अरस्तू इस परिभाषा को उद्धृत नहीं करता। किन्तु यह परिभाषा उसे मान्य है, क्योंकि उसकी यह धारणा है कि कुछ बातें अपने आप में न्याय-संगत हैं जिनके लिए मनुष्य अपने अधिकार के रूप में दावा कर सकता है। लॉक के अनुसार सम्पत्ति के अभाव में न्याय-अन्याय का प्रश्न ही नहीं होता। यहां सम्पत्ति से उसका आशय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किसी वस्तु पर अधिकार से है। अन्याय उस अधिकार का उल्लंघन है। मेरिटन भी न्याय की व्याख्या अधिकार की पदावली में करता है।

जस्टिनियन संहिता में दी गयी न्याय की उपर्युक्त परिभाषा—'अधिकार,' 'प्राप्य' और 'अपना स्वयं का'—में से किसी एक का प्रयोग करके तीन प्रकार से दी जा सकती है। ये तीनों पद समानर्थक हैं। इन तीन पदों का समान मूल्य'अधिकार' पद का विश्लेषण करके दिखाया जा सकता है। अधिकार में तीन तत्त्व अन्तर्विष्ट हैं : (१) कोई वस्तु, जो अधिकार होने के नाते मेरा प्राप्य है, (२) अधिकार का अधिपति, (३) अनुबन्ध, जिसके कारण अन्य व्यक्ति अधिकारी के अधिकार का सम्मान करते हैं। इन पदों में 'अधिकार' (राइट) दावे या क्षमता पर बल देता है, 'अपने स्वयं का' पद में अधिकारी पर बल है और प्राप्य (ड्यू) अनुबन्ध की महत्ता पर ज़ोर देता है।

कांट के अनुसार नैसर्गिक अधिकार विशुद्ध प्रागनुभविक तर्क-बुद्धि के नियमों पर आधारित हैं। वस्तुपरक और वैधिक अधिकार विधायक के संकल्प पर निर्भर रहते हैं।

इस मत को मानने वाले सभी दार्शनिकों की इस बात पर सहमति है कि कम-से-कम एक अधिकार तो नैसर्गिक अवश्य है। पर वे इस बात पर सहमत नहीं हैं कि इस एक अधिकार को नैसर्गिक माना जाय। हार्ट और कांट स्वतन्त्रता को नैसर्गिक अधिकार की प्रतिष्ठा देते हैं। कुछ अन्य दार्शनिक समानता को ही नैसर्गिक अधिकार मानते हैं। मेरीटन का मन्तव्य है कि नैसर्गिक अधिकार अनेक हैं पर उनका पूरा सूचीपत्र भी तैयार नहीं किया जा सकता, क्योंकि नैसर्गिक अधिकारों का ज्ञान इतिहास-सापेक्ष है जिसकी कालान्तर में वृद्धि होती है।

विलियम फ्रंकेना का आग्रह है कि नैसर्गिक अधिकारों की अविच्छेद्यता से आशय यह है कि वे आपात अधिकार हैं, नकि किसी भी अवस्था में उनका निषेध या उन पर रोक-थाम अन्यायपूर्ण है।

कुछ नैसर्गिक अधिकार मत के समर्थक न्याय की परिभाषा समानता की पदावली में करते हैं। अरस्तू उनमें प्रमुख है। न्याय के सिद्धान्त के रूप में व्यापारिक वस्तुओं के विनिमय एवं वितरण के सम्बन्ध में प्रायः समानता के लिए आग्रह किया जाता है। कुछ दार्शनिकों का विचार है कि अर्हता के सिद्धान्त को समानता के सिद्धान्त में समाविष्ट नहीं किया जा सकता। वे अर्हता को न्याय का स्वतन्त्र सिद्धान्त मानते हैं।

एक्वीनास के अनुसार कानून की प्रामाणिक क्षमता नैसर्गिक अधिकार से प्राप्त होती है। वह लिखता है कि यदि लिखित कानून नैसर्गिक अधिकार के प्रति-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कूल है तो वह अन्यायसंगत है और उसमें अनुबन्ध उत्पन्न करने की क्षमता नहीं होती।

लॉक एवं जेफरसन की सम्मति में अधिकांश नैसर्गिक अधिकार स्वयंसिद्ध (सेल्फ एवीडेंट) हैं। कानून का कार्य उनका परिपालन करना है। स्वतन्त्रता की उद्घोषणा (डिक्लेरेशन आफ इण्डिपेण्डेंस) में इस विचार की पुष्टि की गयी है।

मेरीटन जीने के अधिकार, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता एवं नैतिक पूर्णता के प्रयास को नैसर्गिक कानून का अंग मानता है। ये अधिकार वस्तुपरक कानून की न्याय-युक्तता का निर्धारण करने की मूलभूत कसौटी हैं। मेरीटन स्वीकार करता है कि कुछ यथार्थ वस्तुस्थितियों में मूलभूत अधिकारों में विरोध हो सकता है। विरोध की अवस्था में यह निर्णय करना कि किस मूलभूत अधिकार के उपभोग पर कितना प्रतिबन्ध लगाया जाय, आसान काम नहीं है। यद्यपि मूलभूत अधिकार अविच्छिन्न हैं, उनमें पारस्परिक विरोध होने पर उनके उपभोग को कुछ सीमा तक परिसीमित करना न्यायसंगत है।

न्याय की निरपेक्षता के बारे में इस सिद्धान्त के सभी पक्षपोषकों में मतैक्य है। इस मत के चारों निदर्श लेखक नैतिक सिद्धान्तों के ज्ञान को तर्क-बुद्धिपरक मानते हैं। किन्तु मेरिटन के मत में तर्कबुद्धिपरक होते हुए भी नैतिकता का ज्ञान असंप्रत्ययात्मक होता है। नैतिक अवस्थिति में मनुष्य सहजबुद्धि से अपना कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य जान लेता है।

फ्रेंकेना के एक लेख से लिया हुआ उद्धरण नैसर्गिक अधिकार मत के सार तत्व को अभिव्यक्त करता है। सब मनुष्यों के कुछ निश्चित अधिकार हैं जिन पर उनका आधिपत्य केवल इसलिए है कि उनमें वरण की, तर्क करने की, सुख-दुःख भोगने की क्षमता है या उनमें सबमें कोई अन्य सामान्य लक्षण हैं।

इस मत के सभी अधिवक्ता यह मानते हैं कि मनुष्य के प्राप्य का कोई निश्चित मानदड है जो नैसर्गिक एवं नैतिक है। मानव-प्रकृति से पोषित होने से वह नैसर्गिक है। मनुष्य को वह सदाचार के लिए आबद्ध करता है अतः वह नैतिक है। इस मत के लिए सबसे महत्वपूर्ण तथ्य 'मानव-प्रकृति' है। मानव-स्वरूप की गरिमा के कारण जो उसका प्राप्य है वह तार्किक दृष्टि से समाज एवं कानून का पूर्ववर्त्ती है। मेरीटन के अनुसार व्यक्ति की आत्मा उसके प्राप्य की अधिकारी है। प्राप्त होने से पूर्व भी वह उसका अधिपति है।

नैसर्गिक अधिकार मत न्याय की आबद्धता कार्य की न्याययुक्तता में ही मानता है। जो न्याययुक्त है वह करणीय है। न्याययुक्त कार्य की करणीयता के लिए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किसी बाह्य समर्थन की आवश्यकता नहीं है। अरस्तू और एक्वीनास न्यायशीलता को मनुष्य के चरम उद्देश्यों से सम्बद्ध मानते हैं।

न्याय–विरुद्ध आचरण इन मानवोचित उद्देश्यों को निष्फल कर देता है। इस प्रकार न्यायोचित आचरण की आबद्धता का उद्‌गम मानव की स्वाभाविक नैतिक प्रवृत्तियां हैं।

नैसर्गिक अधिकार मत न्याय को विशिष्ट सद्‌गुण मानता है। न्यायशील मनुष्य हर व्यक्ति को उसका प्राप्य देने का समर्थक है।

(६)

पुस्तक जिस लक्ष्य को ध्यान में रख कर लिखी गई है उसे पूरा करने में लेखक सफल हुआ है, इसमें कोई सन्देह नहीं। यह अलग प्रश्न है कि इस प्रकार का बौद्धिक महोद्यम कहां तक समीचीन है। मेरी राय में इस प्रकार के बौद्धिक प्रयास दार्शनिक विवाद को स्पष्ट करने के लिए बहुत उपयोगी हैं।

पुस्तक में लेखक द्वारा किया गया न्याय विषयक मतों का विवेचन यथातथ्य और सुस्पष्ट है। मौलिक मतों के तुलनात्मक अध्ययन के लिए लेखक द्वारा चुने गये छः आधारभूत प्रश्न प्रसंगोचित हैं। लेखकों का विभिन्न मतों के समर्थकों के रूप में वर्गीकरण प्रायः युक्तिसंगत है। आधारभूत प्रश्नों पर तीनों मतों के प्रमुख लेखकों द्वारा दिये गये उत्तर की उपयुक्त उद्धरणों द्वारा पुष्टि की गई है। मतों के निदर्शनीय लेखकों का वरण प्रायः ठीक है।

कुछ लेखकों का विविध पक्षपोषकों के रूप में वर्गीकरण बहुत आपत्तिजनक है। सिजविक को समाजहित मत के समर्थक रूपमें प्रस्तुत किया गया है। किन्तु नैतिक प्रातिभज्ञानों (मोरल इन्ट्यूशन्स) को नैतिक आचरण का आधारभूत सिद्धांत मानने से सिजविक स्पष्टतः समाज-हित मत के अधिवक्ताओं से पृथक् हो जाता है, यद्यपि सिजविक को उपयोगितावाद का प्रवक्ता मानने की परम्परा बड़ी प्रबल है। प्लेटो और हीगल को नैसर्गिक कानून मत के समर्थकों में सम्मिलित करना इस मत की सुघड़ता को विकृत करना है। नैसर्गिक अधिकार मत में अधिकारों का धारक व्यक्ति है, जबकि प्लेटो और हीगल के समाज-दर्शन में व्यक्ति का स्थान नगण्य है।

सन्दर्भ (रेफरेन्स) पुस्तक के रूप में यह एक मूल्यवान् कृति है।

न्याय के स्वरूप के बारे में सबसे जटिल समस्या न्याय–युक्त आचरण एवं नैतिक आचरण में अन्तर स्पष्ट करने का है। यह आश्चर्य की बात है कि इस समस्या की ओर लेखक ने विशेष ध्यान नहीं दिया। न्याय की व्याख्या करते हुए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेखक ने न्याय के जिन तीन सर्वमान्य लक्षणों का उल्लेख किया है उनमें से दो तो स्वयं लेखक के मत में भी नैतिकता के लक्षण हैं। सामाजिकता को लेखक ने न्याय का विच्छेदक गुण बताया है और अपने मत की पुष्टि में कहा है कि साहस और आत्म-संयम सद्गुण हैं, पर इनकी अभिव्यक्ति के लिए समाज का होना आवश्यक नहीं है। प्रश्न यह है कि क्या व्यक्ति के सभी प्रशंसनीय गुण सद्गुण कहे जा सकते हैं? आदिम–मानव आखेट की प्रतीक्षा में कभी–कभी सारे दिन और सारी रात पेड़ों के झुरमुट में छिपा बैठा रहा करता था, जो आचरण, अदम्य धैर्य और दृढ़ता के सूचक हैं। हिन्दू स्त्रियाँ अनेक ऐसे व्रत झेलती हैं जिनमें लम्बे समय तक भूखा और प्यासा रहना पड़ता है, जिसके लिए बहुत अधिक मात्रा में आत्म-संयम भी आवश्यक है। पर क्या आदिम पुरुष का धैर्य और हिन्दू स्त्री का आत्म-संयम सद्गुण हैं?

सदाचार यदि मानव–स्वरूप के उत्कृष्ट पक्ष को अभिव्यक्त करता है तो सद्गुण वह है जिसकी उपस्थिति में व्यक्ति की चेतना स्वयं की संकीर्ण परिधि में सीमित न रह कर इतनी व्यापक हो जाती है कि उसमें "वसुधैव कुटुम्बकम्" का भाव उदित होता है। उपरोक्त उदाहरणों में आदिम–मानव का धैर्य एवं हिन्दू स्त्री का आत्म-संयम व्यापक चेतना के परिचायक नहीं होने से सद्गुण नहीं कहे जा सकते। नैतिकता अनिवार्यतः 'अहं' से इतर 'अन्य' को पुर्वापेक्षित करने से न्याय की तरह ही सामाजिक है।

तब न्याय का अवच्छेदक गुण क्या है? मेरी राय में न्याय नैतिकता का आकारिक गुण है, जिसका सम्बन्ध शुभ और अशुभ के वितरण से है। न्याय में अपनी कोई विषय–वस्तु नहीं होती। उदाहरणार्थ, क्षमा नैतिक गुण (वर्चू) है। ईश्वर क्षमाशील है। किन्तु यदि ईश्वर एक शरणागत को उसके पापों के लिए क्षमा कर देता है और दूसरे शरणागत को उन्हीं पापों के किए दण्ड देता है तो ईश्वर का आचरण अन्यायसंगत ही कहा जायगा। यही बात अन्य नैतिक गुणों के सन्दर्भ में भी ठीक है। उदारता सद्गुण है, पर उदार व्यक्ति यदि अपने उदारता-पूर्ण कार्यों से सभी सम्बन्धित लोगों को समानरूप से उपकृत नहीं करता तो उसका आचरण नैतिक होने पर भी न्याययुक्त नहीं कहा जा सकता।

न्याय के स्वरूप पर विचार करते समय एक महत्वपूर्ण प्रश्न उसके क्षेत्र (स्कोप) के बारे में उठता है। पाश्चात्य दार्शनिकों का दृष्टिकोण उपयोगितावादी होने से वे न्याय का क्षेत्र मानव–जगत् तक सीमित कर देते हैं। भारतीय परम्परा में न्याय का क्षेत्र नैतिकता के क्षेत्र की भाँति सम्पूर्ण वसुधा है—वसुधैव कुटुम्बकम्।

क्या 'न्याय,' 'अन्याय' पदों का सार्थक प्रयोग मानव–जगत् के सन्दर्भ में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही किया जा सकता है ? क्या अन्य प्राणियों के प्रति मानव का व्यवहार नैतिकता एवं न्याय के क्षेत्र के बाहर है ? यह बहुत जटिल प्रश्न है । इसमें मांसाहार, मनुष्य को हानि पहुंचाने वाले प्राणियों के प्रति हिंसा आदि विषयक मानव–व्यवहार के औचित्य के प्रश्न सन्निहित हैं जिनके बारे में यहां विचार करना संभव नहीं है। पर इतना कहना प्रसंगोचित है कि यदि नैतिक और न्याय्य मानव के उत्कृष्ट पक्ष की अभिव्यक्ति है, जैसाकि हमारा मन्तव्य है, तो उनके क्षेत्र को मानव–जगत् तक सीमित करना तर्कतः असम्भव है, क्योंकि इस सीमा का अर्थ यह है कि मानव अपने जाति – हित द्वारा निर्धारित सीमा का अतिक्रमण कर ही नहीं सकता । यदि मानव की मूल्योन्मुखी चेतना अपने जाति–स्वार्थ से ऊपर नहीं उठ सकती तो उसका स्तर पाशविक से अधिक उत्कृष्ट नहीं कहा जा सकता । आत्मरक्षा एव जातिरक्षा के पाशविक प्रेरकों के मानव और अन्य बहुत से प्राणियों में सामान्य होने से काक और वानर भी काकोपयोगी एवं वानरोपयोगी को क्रमशः अपने आचरण के आदर्श के रूप में स्वीकार करने में आपत्ति नहीं करेंगे। अतः न्याया–न्याय के कार्य–क्षेत्र को मानव–जगत् तक सीमित करना उचित नहीं है । न्याय–कर्म करना मानव की विशेषता है, उसका आदाता सिद्धान्ततः सारा प्राणिजगत् है । उदाहरणतः यदि स्वामी दो पालतू कुत्तों में से एक को दूसरे से अधिक प्यार करता है, क्योंकि एक का रंग उसे बहुत पसन्द है, दूसरे का नहीं, तो स्वामी का कुत्तों के प्रति आचरण अन्यायपूर्ण है ।

न्याय और कानून के सम्बन्ध को लेकर जो सैद्धान्तिक वादविवाद अबतक हुआ है वह एकांगी है । लगभग सभी दार्शनिकों ने न्याय और कानून दोनों को गति-हीन तथ्य मान कर उनके सम्बन्ध की व्याख्या की है । पर न तो न्याय का आकार (जोकि नैतिकता के विकास के साथ परिवर्तित होता है) अपरिवर्तनशील है और न कानून की विषय-वस्तु अपरिवर्तनशील है, न इनका सम्बन्ध ही एक-मार्गी है जिससे कि एक को पूर्वगामी और दूसरे को अनुगामी कह सकें। इनमें निरन्तर परस्पर अन्तर्क्रिया होती रहती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कानून का आधार समाज की न्यायविषयक धारणायें हैं । समाज की न्याय-विषयक धारणायें गतिशील होती हैं । समाज के विभिन्न स्तरों पर वाद-प्रतिवाद द्वारा ये उद्भूत होकर धीरे–धीरे सुदृढ़ हो जाती हैं । कालान्तर में व्यापक जन-समर्थन प्राप्त होने पर ये कानून द्वारा मान्यता प्राप्त कर लेती हैं । कभी–कभी राजनीतिक नेतृत्व ऐसे लोगों के हाथ में होता है जिनकी न्यायोन्मुखी चेतना समाज के सामान्य लोगों से अधिक उन्नत होती है । ऐसी अवस्था में कानून द्वारा लोगों की न्यायान्याय की धारणायें अधिक ससृद्ध हो जाती हैं । इस प्रकार न्याय और कानून में गत्यात्मक सम्बन्ध है ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समसामयिक वस्तुपरक कानून मत भी, जो न्याय को कानून की कसौटी नहीं मानता बल्कि जो इसके विपरीत कानून को न्याय की कसौटी मानता है, इस बात को अस्वीकार नहीं कर सकता कि समाज के प्रबुद्ध वर्ग द्वारा न्याय-अन्याय की पदावली में कानून का मूल्यांकन अर्थपूर्ण होता है। न समसामयिक नैसर्गिक कानून मत इस बात को अस्वीकार करता है कि कानून में एक सार्वलौकिकता का तत्त्व निहित होता है जो उसे न्यायोन्मुखी बनाता है।

राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पत्रिका-लेखों के सारांश

विज्ञान, तर्कबुद्धि एवं मूल्य[1]

यदि इन दो बातों को स्वीकार कर लिया जाय (१) कि विज्ञान में किसी प्रकार का निर्णय निहित रहता है, तथा (२) निर्णय किन्हीं मूल्यों की उपलब्धि के लिये हैं, तो किसी भी वैज्ञानिक पद्धति को उसमें निहित निर्णय एवं मूल्यों के सम्बन्ध के आधार पर ही तर्कसंगत कहा जा सकता है।

यद्यपि लेखक यह मान कर चलता है कि 'विज्ञान में कुछ निर्णय निहित हैं' कथन विवादास्पद है तथापि वह इसे इस आधार पर स्वीकार करता है कि बिना निर्णय के विज्ञान कुछ प्रेक्षणों का एक क्रममात्र ही रह जायगा। किन्तु वैज्ञानिक निर्णय एवं औद्योगिक निर्णयों में अवश्य ही कुछ अन्तर है– औद्योगिक निर्णय अधिक व्यावहारिक होते हैं, किन्तु वैज्ञानिक निर्णयों को भी पूर्णतः ज्ञानात्मक नहीं कहा जा सकता। चूंकि विज्ञान में कुछ निर्णय निहित हैं इसलिये यह बात स्पष्ट हो जाती है कि विज्ञान में निश्चय ही कुछ मूल्य भी निहित हैं।

कुछ आधुनिक वैज्ञानिकों ने, जिनके मतानुसार विज्ञान में कुछ मूल्य निहित हैं, वैज्ञानिक उपयोगिता के संप्रत्यय का विकास किया है। किन्तु वैज्ञानिक उपयोगिता का संप्रत्यय इस पूर्वमान्यता पर आधारित है कि शुद्ध विज्ञान एवं प्रायोगिक विज्ञान दोनों भिन्न हैं, क्योंकि दोनों के अपेक्षित मूल्य भिन्न हैं। प्रायोगिक विज्ञान में वैज्ञानिक मूल्यों में अन्तर स्थापित करना बहुत कठिन है, न तो यह वास्तविक परिणामों के आधार पर किया जा सकता है और न ही किसी अनुसंधानकर्त्ता के उद्देश्यों के आधार पर। लेखक इन कठिनाइयों से बचने के लिये दो भिन्न कसौटियों को स्वीकार करते हैं जिनके द्वारा इन दोनों विज्ञानों में भेद स्थापित किया जा सके। शुद्ध विज्ञान में किसी भी विशेष अनुसंधान का औचित्य उस विशेष समस्या की उपयोगिता के आधार पर होना चाहिये तथा प्रायोगिक विज्ञान का औचित्य सामान्य विज्ञान के आधार पर होना चाहिये। एक और बात यहां साफ होनी चाहिये कि हमें वैज्ञानिक उपयोगिता तथा किसी विशेष वैज्ञानिक के उद्देश्यों को एक नहीं समझना चाहिये।

---

1. **Science, Reason and Value by Andrew Melanghin; Theory and Decision, Vol. 1, No. 2.**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसके अतिरिक्त, केवल सत्य को विज्ञान का उद्देश्य नहीं कहा जा सकता। क्योंकि यदि इसे स्वीकार कर लिया जाय तो हम केवल उन्हीं कथनों को वैज्ञानिक कथन कह सकेंगे जो संभाव्य के वाचक हों। हेम्पल ने वैज्ञानिक उपयोगिता को सत्य के अतिरिक्त एक और कसौटी दी है, वह है उस कथन द्वारा दी गयी नई सूचनाओं का मापन। उन्होंने निर्णय का एक नियम दिया है जिसके अनुसार, यदि किसी प्रमेय की प्रायिकता (फ्रीक्वेंसी) १/२ से अधिक है तो उसे स्वीकार किया जाना चाहिये, यदि दो की प्रायिकता १/२ है तो या एक को स्वीकार करना चाहिये अथवा किसी को भी नहीं, आदि। पर हेम्पल स्वयं भी इसे स्वीकार करता है कि यह कसौटी अधिक व्यापक है। पर वह यह अवश्य मानता है कि सत्य के अलावा वैज्ञानिक उपयोगिता को मापने की कोई और कसौटी का होना ज़रूरी है।

वैज्ञानिक उपयोगिता की परिभाषा देने का एक और प्रयास लेवी द्वारा किया गया है। उसके अनुसार विज्ञान का उद्देश्य सत्य की खोज करना तथा अज्ञेयवाद से मुक्ति दिलाना है। यह दूसरा उद्देश्य हेम्पल के "सूचना की जांच" से बहुत कुछ मिलता है, परन्तु लेवी एक ऐसे चर (वेरीयेबल) को स्वीकार करते हैं जो एक अनुसंधानकर्त्ता द्वारा उपयोग की गयी "सावधानी की मात्रा" को व्यक्त करता है। ऐसा करने से लेवी हेम्पेल के द्वारा दी गयी वैज्ञानिक उपयोगिता की कसौटी की कठिनाइयों को दूर करना चाहते हैं, क्योंकि अब हम उस प्रत्येक कथन की, जिसकी प्रायिकता १/२ या उससे ऊपर है, को स्वीकार करने को बाध्य नहीं हैं। परन्तु यदि इस 'सावधानी की मात्रा' की विशिष्टता स्थापित करना विज्ञान का एक उद्देश्य मान लिया जाय तो उससे कई गंभीर कठिनाइयां उत्पन्न हो जायंगी। इन कठिनाइयों का संकेत लीच ने किया है। उसके अनुसार, ऐसा करने का अर्थ है कि हम उन उपयोगिताओं को स्वीकार करते हैं जो किसी विशेष समस्या से सम्बन्धित होती हैं, नकि वैज्ञानिक उपयोगिता को। दूसरे, चूंकि 'सावधानी की मात्रा' का वरण अनुसंधानकर्त्ता पर निर्भर करता है इसलिये यह ज़रूरी है कि यह वरण उन प्रतिमानों के साथ मेल खाता हो जिन्हें वह अनुसंधानकर्त्ता चुनने का निर्णय लेता है। इसके अतिरिक्त, जैसाकि लीच मानते हैं, यदि 'सावधानी की मात्रा' किसी विशेष समस्या से सम्बन्धित हो तब वैज्ञानिक उपयोगिता को विज्ञान की तर्क-व्यवस्था का प्रतिमान नहीं माना जा सकता, क्योंकि तब व्यावहारिक उपयोगिता ही हमारे वरण का आधार होगी। इस कठिनाई को एक नये संप्रत्यय 'सार्थकता के स्तर' का समावेश कर दूर करने का प्रयत्न किया गया है। इस नये संप्रत्यय का अर्थ है किसी भी नयी प्राक्कल्पना को स्वीकार कर सकने का संकल्प, और यह "सार्थकता का स्तर" न तो किसी व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर करता है और न किसी विशेष समस्या की व्यावहारिक उपयोगिता पर। बल्कि ये ऐसे मानक हैं जो बहुत विशेष अवस्थाओं में ही विचलित हो सकते

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं। इस तरह के संकेतित मानकों के बिना विज्ञान में किसी तरह की संज्ञानात्मकता (कोग्निटिविटी) नहीं हो सकती। इस प्रकार 'सार्थकता के स्तर' या 'सावधानी की मात्रा' वैज्ञानिक उपयोगिता के एक पर्याप्त विकसित संप्रत्यय के भाग हो जाते हैं। किन्तु यहां भी हम किसी विशेष वैज्ञानिक उपयोगिता के संप्रत्यय को मात्र तर्क-बुद्धि के आधार पर स्थापित नहीं कर सकते। इस समस्या को हल करने का एक संभव ढंग यह स्वीकार करना है कि इस संप्रत्यय का अभिप्राय केवल उन कसौटियों का विवेचन करना है जिनका उपयोग वैज्ञानिक निर्णयों के विवेचन के लिये किया जाता है। किन्तु इसका अर्थ होगा वैज्ञानिक ज्ञान की संभावना को वैज्ञानिक निर्णयों की कसौटियों तक सीमित रखना। दूसरे, विज्ञान के उद्देश्यों का विवेचन करने में कठिनाई भी है, क्योंकि न तो वैज्ञानिक न ही दार्शनिक इसके सम्बन्ध में एकमत हैं।

वैज्ञानिक उपयोगिता के उपर्युक्त दोनों प्रस्ताव पर्याप्तता का दावा नहीं कर सकते। किन्तु इनमें सत्य विषयक प्रश्न कुछ कम कठिनाइयां उत्पन्न करता है, क्योंकि व्यक्ति सत्य के चाहे जिस सिद्धांत में विश्वास करे वह फिर भी सत्य को विज्ञान का उद्देश्य अवश्य मानता है। किन्तु उनके द्वारा माना गया दूसरा उद्देश्य अधिक कठिनाइयां प्रस्तुत करता है। सर्वप्रथम, "जानकारी" से हम क्या समझते हैं ? क्या केवल विशेष जानकारी ही विज्ञान का उद्देश्य है अथवा किसी भी तरह की जानकारी उद्देश्य है ? विज्ञान का उद्देश्य होने के लिये कोई भी जानकारी पर्याप्त नहीं है, क्योंकि हमें सब वस्तुओं की जानकारी नहीं प्राप्त हो सकती। इसलिये हमें इस बात का निर्णय अवश्य लेना होगा कि हमें किस प्रकार की जानकारी प्राप्त करनी है। विशेष जानकारी को विज्ञान का उद्देश्य मान लेने पर हमें सामान्य जानकारी से उसकी भिन्नता स्थापित करनी होगी। इसका एक संभव उपाय यह है कि हम केवल उसी को विशेष जानकारी मानें जोकि उस समय के सिद्धान्तों के साथ प्रासंगिक हो। किन्तु विज्ञान का कार्य केवल विशेष एवं अन्य जानकारी में अन्तर स्थापित करना ही नहीं है बल्कि यह देखना भी है कि किन्हीं विशेष घटनाओं से सम्बन्धित किसी सिद्धान्त का विकास करने में कुछ सार्थकता भी है अथवा नहीं। इसलिये हमें विशेष घटनाओं को भी अन्य घटनाओं से अलग करना होगा। इस प्रकार हम यह स्वीकार करने को बाध्य हो जाते हैं कि विज्ञान के उद्देश्यों का औचित्य केवल विज्ञान के बाहर ही उपलब्ध हो सकता है। हम विज्ञान द्वारा क्या पाना चाहते हैं यह इस बात पर निर्भर करता है कि हम विज्ञान का उपयोग किस तरह से करना चाहते हैं। और यह "विज्ञान का उपयोग किस प्रकार करना चाहिये ?" तथा अन्य नैतिक प्रश्नों पर निर्भर करता है। एक अंतिम उपाय यह बचा है कि हम वैज्ञानिक उपयोगिता को एक ऐसा उद्देश्य मान लें जोकि अन्य सभी उद्देश्यों की पूर्ति के लिये आवश्यक है, ये अन्य उद्देश्य चाहे कुछ भी हों। इस प्रकार विज्ञान के उद्देश्यों का औचित्य स्थापित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करने की आवश्यकता नहीं रहेगी। किन्तु प्रश्न यह उठता है कि क्या विज्ञान एक ऐसी क्रिया है ? प्रो० ब्रेथवेट विज्ञान को एक ऐसी ही क्रिया मानते हैं, और उसका एकमात्र उद्देश्य अनुमान की सम्यक् विधि पाना मानते हैं। अब, यद्यपि यह सही है कि यदि विज्ञान का उद्देश्य अनुमान की सम्यक् विधि खोजना है तो वह अन्य सभी उद्देश्यों की पूर्ति के लिये आवश्यक है और इसीलिये उसका औचित्य स्थापित करने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। किन्तु ऐसा कोई उपाय नहीं है जिससे यह बात स्थापित की जा सके।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि विज्ञान के उद्देश्य न तो निरपेक्षतः उचित हैं और न ही उन्हें केवल तर्क के आधार पर उचित कहा जा सकता है। विज्ञान के उद्देश्य मूलतः उन अन्य उद्देश्यों पर निर्भर करते हैं जो अच्छे मानव-जीवन-यापन के लिये आवश्यक हैं। तब मूल प्रश्न यह नहीं रह जाता कि विज्ञान में किन मूल्यों का उपयोग किया जाना चाहिये। अतः विज्ञान में तर्क के प्रतिमान जीवन में तर्क के प्रतिमानों पर निर्भर करते हैं और ये अंततः हमारे नैतिक ज्ञान पर निर्भर करते हैं। किन्तु हमारा नैतिक ज्ञान हमारे विश्व के ज्ञान पर निर्भर करता है। इस-लिये जहां विज्ञान नीतिशास्त्र-सापेक्ष है वहां नीतिशास्त्र को भी विज्ञान से पृथक् नहीं किया जा सकता।

श्रीमती मधुमालती राव, शिमला.

डेकार्टीय विशेषाधिकार एवं विशुद्ध मनस्[1]

इस लेख में डेकार्ट के इस सुविख्यात् कथन की समीक्षा की गई है कि वह (डेकार्ट) अन्य किसी सत् वस्तु की तुलना में स्वयं अपने मन की गतिविधियों को अधिक भली प्रकार जानने की स्थिति में है। डेकार्ट के इस अन्तर्बोध-मूलक कथन— "हम केवल अपने मन की चेतनावस्थाओं का ही संतोषप्रद ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं" की सत्यता को लेकर एक लम्बा, दिग्भ्रान्त और अनिर्णीत विवाद चला आ रहा है। विवाद का अन्तिम समाधान चाहे कुछ भी हो, डेकार्ट के चिति (कोजिटो) के सिद्धांत द्वारा हम मानसिक एवं अमानसिक में भेद करने हेतु एक महत्वपूर्ण विभेदक लक्षण को जान लेते हैं। वह यह कि एक चेतन ज्ञाता—यथा मन—के रूप में हम अपने भावों-विचारों को भीतर से और अद्वितीय रूप से जानते हैं, जबकि हमारे व्यवहार के

1. **The Cartesian Privilege and the Strictly Mental, by H. Morick; Philosopby and Phenomenological Research, Vol. 34, No. 4.**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता। यह आन्तर अवगति निर्णयात्मक (जजमेंटल) भी हो सकती है, अनिर्णयात्मक भी।

उपरोक्त मत विषयक विवाद की अनिर्णीतता से ऐसा प्रतीत होता है कि किसी ज्ञाता द्वारा अपनी अन्तरनुभूतियों के ज्ञान के बारे में हमारी वैचारिक परिदृष्टि में कहीं कुछ कमी है। मोरिक की टिप्पणी है कि विवाद का प्रश्न मूलतः वह नहीं है जो प्रायः मान लिया गया है—यथा, "क्या हम सार्थक रूप से 'मुझे पीड़ा है' इस कथन से पूर्व 'मैं जानता हूँ कि' वाक्य भी जोड़ सकते हैं ?" वास्तविक मूल-प्रश्न कुछ अन्य होना चाहिये—यथा, "क्या एक ज्ञाता के रूप में मेरा अपनी वर्तमान अन्तर-नुभूतियों से एक विशिष्ट विषय-ज्ञानात्मक (एपिस्टेमिक) सम्बन्ध है, अथवा नहीं ?" मोरिक मानता है कि ऐसा है, क्योंकि केवल मैं ही अपनी किसी वर्तमान मनोदशा के बारे में कुछ ऐसे उत्तम पुरुष, मनोवैज्ञानिक कथन प्रस्तुत कर सकता हूँ जो उक्त दशा की असंदिग्ध और यथोचित अभिव्यक्ति कर सकते हैं। अतः ऐसे सब कथनों के सत्य पर मेरा, और केवल मेरा, निर्द्वन्द्व अधिकार है।

दुर्भाग्यवश, इस विवाद में सक्रिय अन्य अपेक्षाकृत अप्रासंगिक मुद्दों पर बल देने के कारण उपरोक्त महत्वपूर्ण तथ्य कुछ ओट में पड़ गया है। उसके स्थान पर जिस अन्य प्रश्न पर सर्वाधिक विचार किया गया है वह है—"क्या मैं जानता हूँ कि मुझे पीड़ा है" वाक्य भाषात्मक दृष्टि से सुरचित वाक्य है ? विवाद को यह दिशा विट्गंस्टाइन ने दी है। वह मानता है कि हम औचित्यपूर्वक यह नहीं कह सकते कि हम अपने भावों और विचारों को जानते हैं। ऐसा दो कारणों से : (१) अन्तरनुभूति-सूचक सारे कथन अशोध्य हैं (अर्थात् उनके बोलने में ग़लती की ही नहीं जा सकती) उदाहरणार्थ, प्रत्येक वह व्यक्ति जो 'पीड़ा' शब्द के अर्थ को भली प्रकार जानता है, कभी भी इस कथन में भूल नहीं कर सकता कि "मुझे पीड़ा है।" अतः जहां शंका और भ्रम के लिए कोई स्थान नहीं वहां "जानने" की प्रक्रिया भी तर्कतः असंभव है। (२) "मैं जानता हूं कि मुझे पीड़ा है" कथन का किसी अन्य कथन से समर्थन भी नहीं किया जा सकता। यदि कोई समर्थन-हेतु यह कहने का उपक्रम करे कि "मुझे पीड़ा है, क्योंकि मैं पीड़ा का अनुभव करता हूं" तो (द्वितीय) कथन पूर्वकथन "मुझे पीड़ा है" की पुनरुक्ति मात्र होगा। किन्तु प्रतिवादियों का कथन है कि (१) अशोध्यता इसे ज्ञान के क्षेत्र से बहिष्कृत नहीं करती और यदि ऐसा हो तो भी यह संभावना शेष है कि किसी व्यक्ति को अपनी किसी अन्तर्दशा का अयथार्थ ज्ञान हो रहा हो। उदाहरणार्थ, यदि एक व्यक्ति कहता है कि "मुझे पीड़ा हो रही है" तो उसका यह कथन ग़लत भी हो सकता है, यदि उसे वास्तविक पीड़ा के बजाय पीड़ा-भ्रम हो रहा हो। (२) एक अन्य उदाहरण द्वारा यह भी दिखाया जा सकता है कि 'पता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लगा सकना' अथवा 'पुष्टि कर सकना' अन्तरनुभूतियों की अद्वितीय विशिष्टता नहीं है। उदाहरणतः जब किसी भी व्यक्ति को विशिष्ट शरीरान्तर्गत संवेदों द्वारा प्रथमतः यह ज्ञान होता है कि उसकी टांग मुड़ी हुई है, तो एसा मानने के लिए अपनी मुड़ी हुई टांग का मुड़ापन उसे आँख से देखने की जरूरत नहीं होती।

हम देखते हैं कि युक्तियों के इस घात-प्रतिघात में उठाई गई समस्या जहां की तहां रह जाती है। परन्तु उभय पक्षों द्वारा प्रयुक्त उदाहरणों से ही यह बात अवश्य सिद्ध होती है कि जिन वाक्यों द्वारा अपने मनोभावों या विचारों का कथन किया जाता है उनमें ज्ञाता की बोध-स्थिति विशेषाधिकार युक्त होती है, क्योंकि वह ही उन सब कथनों की सत्यता का अन्तिम अधिकारी निर्णायक हो सकता है। कदाचित् कॉजिटो के सिद्धान्त के प्रतिपादन के मूल में डेकार्ट के मन में इसी वस्तु-स्थिति का विचार प्रच्छन्न रूप में उपस्थित था।

—गोपालबिहारी माथुर, अजमेर

क्या कला–सौन्दर्यात्मक सुख एक कोरी कल्पना है ?[१]

फ्रांसिस जे. कोलमन

लेखक ने प्रारंभ में कलात्मक सौंदर्य को सुखद मानने वाले कुछ दार्शनिकों, जैसे ह्यूम, कांट, सांतायना आदि, का मत देकर "कला-सौन्दर्य-परक सुख" की अवधारणा पर विचार किया है। वह प्रश्न करता है कि क्या 'कलात्मक सुख' पद-वाच्य कोई स्थिति वास्तव में होती है ? उसके अनुसार, सबसे पहली बात जो सन्देह पैदा करती है वह यह है कि किसी भी कला-कृति में कई स्थल ऐसे होते हैं जहां पाठक या श्रोता को दुःख का अनुभव होने लगता है।

इस कठिनाई से बचते के लिए कई दार्शनिकों ने कला से प्राप्त सुख को एक अलग श्रेणी में रखा है और इसको "कला-सौन्दर्यात्मक सुख" कहा है। इस सुख की विशेषता है कि यह कला-कृति के दुःखद स्थलों या दृष्यों से प्रभावित नहीं होता बल्कि उनके बावजूद भी सुख बना रहता है।

---

2. Is Aesthetic Pleasure a Myth, by Francis J. Coleman; The Jourual of Aesthetics and Art Criticism, Vol. XXIX, Number 3, Spring 1971.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किन्तु यह बड़ी विचित्र धारणा है कि हम दुःख का अनुभव करते हुए भी सुख का अनुभव करते हैं। किन्तु तब प्रश्न उठता है कि यदि किसी दुःखान्त नाटक में कोई दुःखद स्थल था तो हमने उसके निवारण के लिए कुछ किया क्यों नहीं ? और कुछ नहीं तो नाट्यशाला ही छोड़ जाते ?

अब यहां विचारणीय बात यह है कि यदि कोई व्यक्ति किसी कार्य को स्वयं साध्य के रूप में करता है तो इससे यह अवश्य स्पष्ट होता है कि वह उसमें ही सुख मानता है। कम से कम इसी विश्वास के साथ वह कार्य प्रारम्भ करता है। "कला सुख प्रदान करती है" जैसी धारणा की जड़ में यही विश्वास है।

जब हम किसी वस्तु को सुखद कहते हैं तो यह कहना भी सुसंगत होगा कि हम इससे आनन्द प्राप्त करते हैं। ऐन्द्रिय सुख को गर्हित मानने वाला उससे आनन्दित नहीं होता। इसी प्रकार दुःख के लिये सूली पर आरूढ़ ईसा दुःखी किन्तु आनन्दित थे।

इसीलिए यह कहना ठीक है कि कला सुख देती है, लेकिन अगर हम साथ ही यह भी जोड़ दें कि हम इससे आनन्द लेते हैं, तो आपत्ति पैदा हो जायेगी। फीड़्रे या बर्लियोज की रिक्वियम के बारे में यह कहना कि हमने इनसे आनन्द प्राप्त किया है, इन कला-कृतियों के बारे में पूर्ण अज्ञता दिखाना है।

इस निष्कर्ष में दूसरी कठिनाई यह है कि यदि हम कोई कार्य साध्य रूप में करते हैं तो ऐसा हम किसी सुख की लालसा से करते हैं। यदि वस्तु में सुख नहीं भी होता है तब भी हम यह सोचकर उसको प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं कि कम से कम यह हमारे दुःख को घटाएगी। कला पर इस धारणा को लागू करने का अर्थ होगा कि हम एक कला-कृति का इस आशा से अध्ययन करते हैं कि इससे हमें सुख मिलेगा, या कम से कम हमारा दुःख कुछ हलका होगा। किन्तु ऐसा सोचना भ्रमपूर्ण है।

यह तो ठीक है कि किसी वस्तु को "सुखद" कहने में उसका आनन्ददायक होना भी आपादित रहता है, लेकिन ये दो बातें अलग-अलग स्तरों पर कभी नहीं चलतीं, जैसे एक ओर तो किसी गीत को सुनना और उससे आनन्द लेना और उसी के साथ दूसरी ओर उस गीत में सुख का अनुभव करना, यह पृथक्-पृथक् नहीं होता। कला-कृति का अध्ययन करने वाला उसके सौन्दर्य पक्ष का विवेचन कर सकता है लेकिन साथ में यह बताना उसके लिए असम्भव है कि उस कृति ने क्या उसके भीतर पैदा किया। कलाकृति का सुखद पक्ष उसके सौन्दर्यपक्ष के विवेचन में ही निहित होता है। उनको अलग-अलग देखना भ्रान्तिजनक है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(२)

यह बात स्पष्ट है कि "कला-सौन्दर्यात्मक सुख" और "शारीरिक सुख" एक दूसरे से अलग हैं। लेकिन वे कैसे अलग हैं, यह अभी स्पष्ट नहीं है।

अब, सौन्दर्यात्मक सुख तथा शारीरिक सुख के भेद को छोड़कर द्रष्टव्य है कि "शारीरिक दुःख" तथा "सौन्दर्यात्मक दुःख" एक बड़ा ही अटपटा एवं अप्रचलित पद है। मैं इसका अर्थ दुःख की वह भावना मानता हूँ जो किसी कला-कृति के मार्मिक स्थलों के द्वारा पाठक या श्रोता के हृदय में उत्पन्न होती है।

इनमें दो भेद हैं: शारीरिक दुःख का स्थल और समय निश्चित किया जा सकता है जबकि कलात्मक दुःख का नहीं किया जा सकता, दूसरे कलात्मक दुःख के साथ सुखद मनःस्थिति की विद्यमानता संभव नहीं है।

अब, यदि हम साधारण सुखद मनःस्थितियों—निराशा, खेद एवं विक्षोभ की तुलना सौंदर्यात्मक दुःख से करें तो इनका परस्पर भेद और भी अधिक स्पष्ट हो जायगा। किसी कला कृति के द्वारा उत्पन्न सुखद अनुभव के साथ भी एक व्यक्ति उस कलाकृति में तन्मय रह सकता है लेकिन एक दुःखद समाचार से दुःखी व्यक्ति के विषय में यह कहना कोई अर्थ नहीं रखता। दूसरे, साधारण दुःखानुभव अनवधान की अवस्था में भी रह सकता है जबकि सौन्दर्यमूलक दुःख का आस्वाद अवधानपूर्वक ही हो सकता है।

(३)

कलात्मक सुख के स्वरूप पर विचार करते हुए लेखक कहता है: सर्वप्रथम किसी मनःस्थिति का स्मरण कर यह कहना तर्कसंगत है कि उस स्थिति में मुझे मानसिक सुख मिला था, लेकिन उस समय मुझे उसकी अवगति नहीं थी, लेकिन सौंदर्यात्मक सुख के विषय में यह कहना गलत होगा।

दूसरी बात: कलाकृति द्वारा उत्पन्न सौंदर्यात्मक सुख उस कृति से इतना अभिन्न रहता है कि हम एक उपन्यास पढ़कर यह नहीं कह सकते कि यह तो रहा उपन्यास और यह है उससे उत्पन्न सुख।

तीसरी बात: अन्य सुखों की भांति सौन्दर्यात्मक सुख की अनुभूति के लिए पहले किसी तनाव या दुःख की आवश्यकता नहीं है। इसकी अनुभूति पूर्ण शान्ति की स्थिति में भी की जा सकती है। इसके अतिरिक्त, सौन्दर्य-सुख की पिपासा सौन्दर्य-विषय के एक निश्चित रूप से ही सन्तुष्ट हो सकती है, जबकि अन्य शारीरिक एवं मानसिक सुखों की पिपासा इच्छित वस्तु के समान अन्य वस्तुओं से भी मिटाई जा सकती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चतुर्थ : सौन्दर्य-सुख कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसको प्राप्त करने का कोई एक निश्चित उद्देश्य बनालें। इसके अतिरिक्त, यह ऐसी उत्तेजना की स्थिति भी नहीं है जिसमें व्यक्ति सारे होश-हवास खो बैठे।

पांचवीं : कुछ सुख ऐसे होते हैं जो पशु और मनुष्य दोनों के अनुभव-गम्य हो सकते हैं। लेकिन सौन्दर्यात्मक सुख केवल मनुष्य के द्वारा ही अनुभव किया जा सकता है। यह हमारी कल्पना-शक्ति तथा विवेक के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। बौद्धिक विश्लेषण भी कुछ हद तक इसके लिए आवश्यक होता है।

कलात्मक सुख विशेषरूप से मानवीय है। इसलिए ऐसा नहीं कि यह मात्र सुख है। सुख तो पशु भी अनुभव करते हैं। किन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं कि यह बौद्धिक होता है।

रमेशचन्द्र आर्य, जयपुर.

नीतिशास्त्र–सौंदर्यशास्त्र की समानान्तरता विषयक तेरह दृष्टि–बिन्दु[1]

एडि एम. जेमक

(स्टुअर्ट हैंपशायर ने नैतिक और कलात्मक में भेद किया है और इनके भेदक लक्षणों का विवेचन किया है। किन्तु ज़ेमक का मत है कि हैंपशायर के तर्क उपयुक्त नहीं हैं। उसके अनुसार इन दो क्षेत्रों में बहुत आनुरूप्य है। उसने हैंपशायर द्वारा विवेचित तेरह भेदक लक्षणों का प्रतिवाद किया है। यहां हम उनमें से कुछेक महत्वपूर्ण बिन्दुओं का सारांश प्रस्तुत करेंगे।)

स्टुअर्ट हैंपशायर ने अपने सुप्रसिद्ध लेख "लॉज़िक एण्ड एप्रीसियेशन" में यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि नीतिशास्त्र तथा सौन्दर्यशास्त्र के लिये मूल्यांकन का कोई एक सिद्धान्त नहीं हो सकता, क्योंकि ये दोनों एक–दूसरे से नितान्त भिन्न हैं। उसने सौन्दर्यशास्त्र को तो विषय माना ही नहीं है। इसीलिये वह कहता

1. **Thirteen Ways of Looking at the Elhics-Aesthetics Parallelism, Eddy M. Zemach; The Journal of Aesthetics and Art Criticism Vol. XXIX, Number 3, Spring 1971.**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है कि सौन्दर्यशास्त्र की ऐसी कोई समस्याएं नहीं हैं जिनकी तुलना नीतिशास्त्र की समस्याओं से की जा सके ।

जहाँ तक मैं समझता हूं, अपनी उक्त मान्यता को स्थापित करने के लिये हैम्पशायर ने तेरह तर्क दिये हैं जो सभी मुझे अधूरे तथा भ्रांतिमूलक लगते हैं । चाहे नीतिशास्त्र और सौन्दर्यशास्त्र की समानान्तरता अभी तक पूरी तरह स्थापित नहीं की गई हो, किन्तु वह अभीतक निराधार तो सिद्ध बिल्कुल नहीं हुई है । हैम्पशायर के अनुसार—

तर्क १ : "जब किसी मानव–व्यवहार का नैतिक मूल्यांकन किया जाता है तो उसको एक परिस्थिति विशेष के पूरे परिप्रेक्ष्य में देखा जाता है और उसके सन्दर्भ में ही उसके औचित्य–अनौचित्य का निर्णय किया जाता है । लेकिन सौन्दर्यपरक मूल्यांकन के साथ ऐसी बात नहीं है ।"

मैं समझता हूं कि यह तर्क भ्रांतिमूलक है । नैतिक एवं सौन्दर्यपरक मूल्यांकन के समानरूप से दो उचित ढंग हैं । पहला, हम एक अंग विशेष को सम्पूर्ण के सन्दर्भ में देख सकते हैं, कि सम्पूर्ण का इस अंग पर क्या प्रभाव है । ऐसा नैतिक एवं सौन्दर्यपरक मूल्यांकन दोनों में किया जा सकता है । यथा, किसी नैतिक कर्म का तत्सम्बन्धी सम्पूर्ण स्थिति में तथा कला के किसी अंग का सम्पूर्ण कृति के सन्दर्भ में ही मूल्यांकन संभव है । दूसरा, नैतिक एवं सौन्दर्यात्मक दोनों सन्दर्भों में वस्तुस्थिति का स्वयं में मूल्यांकन किया जा सकता है । जैसे एक सम्पूर्ण समाज या परिस्थिति का मूल्यांकन स्वयं में किया जा सकता है वैसे ही एक सम्पूर्ण कला-कृति का किया जा सकता है । हैंपशायर ने पहले प्रकार के नैतिक मूल्यांकन की तुलना दूसरे प्रकार के सौन्दर्यात्मक मूल्यांकन से करके सारी भ्रांति पैदा कर दी है ।

तर्क (२) : हैंपशायर के अनुसार मनुष्य के प्रत्येक कार्य का नैतिक मूल्यांकन किया जा सकता है ? इसके अतिरिक्त, किसी भी नैतिक समस्या की प्रतिक्रिया में कर्म अनिवार्य है । किन्तु कला-कृति के सम्बन्ध में ऐसा नहीं होता । एक कलाकार स्वयं ही अपने लक्ष्य का निर्धारण करता है और उसकी समस्यायें स्वनिर्मित होती हैं । उनके साथ कर्म की अनिवार्यता नहीं जुड़ी रहती ।

किन्तु लेखक के अनुसार, प्रथम बात सौन्दर्यपरक मूल्यांकन पर भी समानरूप से लागू होती है । जहां तक प्रतिक्रिया का प्रश्न है, वह नैतिक समस्या के सम्मुख भी अनिवार्य नहीं होती ।

तर्क (३)और(४) : नैतिक गुण एवं सद्व्यवहार अनुकरणीय होते हैं । उचित कार्य के अनुकरण का अर्थ है उचित कार्य करना, लेकिन यह बात एक कला-कृति पर लागू नहीं होती । एक कलाकृति की अनुकृति एक कलाकृति नहीं हो सकती ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसके अतिरिक्त, वह कहता है कि नीतिशास्त्र में समस्या के विभिन्न हलों की तुलना की जा सकती है और फिर उससे निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं, लेकिन सौन्दर्यशास्त्र में ऐसा नहीं किया जा सकता।

पहली बात, कि एक कलाकृति की अनुकृति कलाकृति नहीं हो सकती, बिल्कुल ग़लत है। यदि अनुकृति पूर्ण हो तो अनुकृति का मूल्य मूल के बराबर ही होगा। हैंपशायर कर्म या कलाकृति का मूल्यांकन स्वयं में न करके उस व्यक्ति के सम्बन्ध से करता है जो वह कर्म करता है या जिस कलाकृति का वह निर्माण करता है।

दूसरे, यह भी बिल्कुल निराधार है कि सौंदर्यशास्त्र में दो वस्तुओं की तुलना नहीं की जा सकती और निष्कर्ष नहीं निकाले जा सकते। कलाकृतियों तथा कला के विभिन्न पक्षों की तुलना की जाती और उससे निष्कर्ष निकाल कर समीक्षा के सिद्धान्तों की स्थापना की जाती है और फिर उनसे कलाकृतियों का मूल्यांकन किया जाता है। निष्कर्ष की अकाट्यता एवं पूर्णता न तो सौंदर्यशास्त्र में है, न ही नीतिशास्त्र में। परिस्थिति विशेष के द्वारा निष्कर्ष निरन्तर संशोधित होते चलते है।

तर्क (५) : जब परिस्थिति का अपना अस्तित्व है तभी उसके हल की बात करना सार्थक है। यदि कोई वस्तु किसी बाह्य उद्देश्य के बिना बनाई जाय तो उसके सम्बन्ध में न तो कोई निश्चित परिस्थिति ही है और न ही उसके विभिन्न हलों में से ठीक को चुनने का प्रश्न है।

यह बात भ्रांतिजनक है। जहां तक चुनने का प्रश्न है, परिस्थिति विशेष के विभिन्न हलों के बीच चुनना ही एकमात्र विषय नहीं है। चुनाव उन वस्तुओं के बीच भी हो सकता है जिनका किसी परिस्थिति से कोई सम्बन्ध है। उनके सम्बन्ध में भी मूल्यांकन के मानदण्ड बनाये जा सकते हैं।

इसके अतिरिक्त हैंपशायर कहता है कि कृत कार्य के निर्णय के सम्बन्ध में किसी चुनाव की आवश्यकता नहीं है। यह भेद वे नैतिक कर्म को भविष्यपरक और कला-कृति को अतीतपरक मानकर कर रहे हैं। किन्तु द्रष्टा के लिये दोनों कार्य निष्पादित होते हैं और कर्ता के लिये दोनों निष्पाद्य होते हैं।

तर्क (६): एक कला-समीक्षक एक कला-कृति को बिना यह बताये दोषी ठहरा सकता है कि कलाकार को अमुक दोष कैसे दूर करना चाहिये, लेकिन जब नीतिशास्त्री किसी कार्य की निन्दा करता है तो वह अवश्य उसके दोष को दूर करने का उपाय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बता देता है। स्पष्टतः यह अन्तर भी नहीं किया जा सकता, "दोष-दर्शन" "दोष निवारण" को तर्कतः आपतित करता है और परिणामतः दोनों में निवारण का प्रयत्न समान रूप से अपेक्षित होता है।

तर्क (७) : एक समीक्षक कलाकृति का बिना किसी दूसरी वस्तु से सम्बन्ध जोड़े उसके अपने ही गुणों के आधार पर मूल्यांकन करता है और उसकी अद्वितीयता को ही महत्व देता है।

यह धारणा भी निराधार है। समीक्षा में कला-कृतियों की पारस्परिक तुलना तथा उसके द्वारा मूल्यांकन के मानदण्डों को निर्धारित करने का विशेष स्थान है। परम्परा से हटाकर एक कलाकृति का उचित मूल्यांकन करना सम्भव नहीं है। मैं नहीं जानता कि यदि परम्परा से कला-कृति का हम कोई सम्बन्ध न मानें तो "अद्वितीयता" शब्द का क्या अर्थ रह जायगा।

तर्क (८) : नैतिक समस्याओं पर विचार हम किसी निष्कर्ष पर पहुंचने के लिये करते हैं, जबकि एक कलाकृति का रूप उसके विषय में निष्कर्ष से अधिक महत्वपूर्ण होता है।

यह असमानता हैंपशायर द्वारा कल्पित है, यथार्थ नहीं है। जिस प्रकार हम कलाकृति के रूप को देखते हैं उसी प्रकार किसी भी कार्य के नैतिक रूप को भी देखते हैं और रूप को देखने का उद्देश्य दोनों ही विषयों में केवल वर्णनात्मक नहीं बल्कि निर्णयात्मक होता है।

तर्क (९) : हैंपशायर कहता है कि मूल्यांकन सम्बन्धी निर्णय का अर्थ है एक वस्तु को दूसरी की अपेक्षा श्रेष्ठ बताना। चूंकि कलाकृतियां एक-दूसरे से भिन्न होती हैं, उनके सम्बन्ध में किसी प्रकार का मूल्यांकन सम्बन्धी निर्णय ठोस और सच्चा नहीं होता।

यह तो सच है कि कला-कृतियों का पारस्परिक मूल्य इस प्रकार निश्चित नहीं हो सकता कि हम सबको एक पैमाने पर रखकर यह बता सकें कि एक कलाकृति दूसरी की अपेक्षा कितनी अच्छी है। लेकिन यह अनिश्चितता नैतिक समस्याओं के बारे में भी है। सौंदर्यशास्त्र तथा नीतिशास्त्र दोनों में ही निर्णय सम्बन्धी अपूर्णतायें हैं।

एक कला-समीक्षक को एक कलाकृति के तत्वों की आंतरिक व्यवस्था तथा दर्शक, पाठक या श्रोता पर उसके प्रभाव से ही सम्बन्ध रखना चाहिये। अमुक वस्तु अमुक की अपेक्षा अधिक ध्यान देने योग्य है, इसको बताने के लिये तो उसको बदलती हुई मानवीय आवश्यकताओं एवं अभिरुचियों से सम्बन्ध स्थापित्त करना पड़ेगा जो सौंदर्यशास्त्र की मर्यादा की अवहेलना होगी।

रमेशचंद्र आर्य, जयपुर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर के प्रकाशन

(क) प्रकाशित

	मूल लेखक	अनुवादक
१. महासागर	एच. यू. स्वेरड्रप मार्टिन डल्यू. जोनसन रिचार्ड एच. फ्लेमिंग	डा. रूपचन्द भंडारी तारूलाल दशोरा श्री वीरेन्द्र कुमार
२. उपनिषद् दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण	डा. रामचन्द्र दत्तात्रेय रानडे	डा. रामानन्द तिवारी

(ख) मुद्रणाधीन

(अनूदित)

१. आग्नेय शैलों का विवरणात्मक शिलावीक्षण	एल्बर्ट जोनसन	श्री ए. के. तिवारी व श्री सरदार सिंह ढाबरिया
२. भारतीय दर्शन का इतिहास	डा.एस.एन.दास गुप्ता	
३. बृहत्तर भारत (मौलिक)	आर. सी. मजूमदार	डा. सोमनाथ गुप्त
४. विश्लेषणात्मक रसायन	डा.रामचरण महरोत्रा	डा. राजकुमार बंसल
५. भारतीय शिक्षा की वर्तमान समस्याएं	डा. महेशचन्द्र सिंघल	
६. शिक्षा के मनोवैज्ञानिक आधार	डा.(श्रीमती)इन्दु दवे	
७. प्रशासनिक संस्थाएं	डा. जियाउद्दीन खां एवं अन्तरसिंह	
८. आधुनिक चित्रकला का इतिहास	श्री आर. वी. साखलकर	

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तत्त्वचिन्तन
त्रैमासिक

संपादक :
चांदमल–यशदेव शल्य

1968 से प्रकाशित

१९७१ के प्रथम तीन अंकों की लेख–सूची

गोविन्दचन्द्र पाण्डे	—	अपोहसिद्धि (अनुवाद एवं टिप्पणी)
गोविन्दचन्द्र पाण्डे	—	न्याय बिन्दु (,, ,,)
दयाकृष्ण	—	ज्ञानमीमांसा (तीन लेख)
दयालशरण वर्मा	—	समाज–दर्शन और समाज–विज्ञान
नारायण शास्त्री द्राविड़	—	अथातो ब्रह्मजिज्ञासा: दार्शनिक चिंतन का अर्थ
यशदेव शल्य	—	विशेष और सामान्य
यशदेव शल्य	—	इतिहास–दर्शन का स्वरूप
रमेशचन्द्र	—	क्या उपनिषद् सांख्यपरक हैं
राजेन्द्रप्रसाद पांडेय	—	भारतीय मनस् का ऐतिहासिक विकास : संभावना
(कु.) रूपरेखा वर्मा	—	'अनिवार्यता' की सार्थकता
(कु.) रूपरेखा वर्मा	—	मध्याभाव नियम : कुछ आपत्तियां
विद्यानिवास मिश्र	—	भारतीय भाषाशास्त्रीय दृष्टि से अर्थ–प्रत्यय

वार्षिक शुल्क { साधारण : रुपये १०.००
संस्थाओं के लिए : रुपये १५.००

दर्शन प्रतिष्ठान
डी–१४, बापूनगर, जयपुर

श्री यशदेव शल्य द्वारा राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी के लिए संपादित एवं श्री कल्याणमल लोढ़ा, निदेशक राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, ए–२६/२, विद्यालय मार्ग, तिलक नगर, जयपुर-४ द्वारा प्रकाशित तथा अजमेरा प्रिंटिंग वर्क्स, घी वालों का रास्ता, जयपुर से मुद्रित ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
66162
COMPILED

दर्शन-समीक्षा

संपादक :
यशदेव शल्य

वर्ष : १ दिसम्बर, १९७१ अंक : २

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri 66162

दर्शन–समीक्षा

वर्ष : १ दिसम्बर, १९७१ अंक : २

संपादक :
यशदेव शल्य

परामर्शदाता :
चांदमल, दयाकृष्ण, नंदकिशोर देवराज, पंपापति राव,
राजेन्द्रप्रसाद, (कु.) रूपरेखा वर्मा

विषय सूची

१. धर्म और ऐहिकता	याकूब मसीह	११३
२. दर्शन तथा इतिहास-बोध	गोपालबिहारी माथुर	१४३
३. फिनोमिनलोजी तथा अस्तित्ववाद	बसन्तकुमार लाल	१७७
१. पत्रिका-लेखों के सारांश	राजेन्द्र स्वरूप भटनागर रमेशचन्द्र, सिद्धेश्वर भट्ट	२०५
पुस्तक-आलोचना		२२९–२८

शिक्षा तथा समाज-कल्याण मंत्रालय, भारत सरकार की विश्वविद्यालय ग्रंथ–योजना के अन्तर्गत राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी द्वारा प्रकाशित।

वार्षिक शुल्क : साधारण : १२.००
संस्थाओं के लिये : २०.००

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धर्म और ऐहिकता*

या. मसीह

यह पुस्तक "न्यू स्टडीज़ इन फिलासफी एंड रिलीजन" के अन्तर्गत 15 प्रस्तावित पुस्तकों में से तीसरी पुस्तक है। इस पुस्तक-माला का उद्देश्य है कि समकालीन धर्मदर्शन की समस्याओं को विश्लेषणात्मक रूप से पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया जाय। पाश्चात्य देशों में, विशेषकर अमेरिका और इंग्लैंड में, ईश्वरवाद के स्थान पर ऐहिकता (सेक्यूलरिज़्म) को विशेष महत्त्व दिया जा रहा है। इस क्षेत्र में बिशप जे.ए.टी. रोबिसन कृत **"ऑनेस्ट टू गॉड"** (१९६३), पॉल वान् बेवन कृत **"दि सेक्युलर मीनिंग ऑफ दि गोस्पल"** (१९६३) हार्वे कोक्स कृत **"दि सेक्युलर सिटी"** (१९६५), थॉमस जे.जे. अल्टाइज़र तथा विलियम हेमिल्टन कृत, **"दि डेथ ऑफ गॉड"** (१९६६), डब्लू. एल. पेल्ज़ कृत, **"गॉड इज़ नोमोर"** (१९६६) इत्यादि उल्लेखनीय रचनाएं हैं। परन्तु इन सभी पुस्तकों में ऐहिकता को अपनाने पर भी ऐहिकतावाद का अर्थ स्पष्ट नहीं हो पाया है। इसका मुख्य कारण है कि इस संदर्भ में इतनी विभिन्न दृष्टियों से इतने विविध अंशों पर बल दिया जा रहा है कि 'ऐहिकता' अनेकार्थक शब्द हो गया है। इस पुस्तक **'रिलीजन एंड सेक्युलेराइज़ेशन'** में ऐहिकता के लक्षणों को स्पष्ट किया गया है।

पाश्चात्य देशों में ऐहिकता का पदार्पण धर्मसुधार-आन्दोलन (रिफोर्मेशन) तथा वैज्ञानिक नवजागरण (रिनेसंस) के साथ ही हुआ। फिर विज्ञान तथा तकनीकी के प्रचार तथा प्रसार के साथ-साथ ईश्वर में लोगों का विश्वास क्षीण पड़ता गया और इस युग में ऐहिकता का प्रचार प्रायः सभी पाश्चात्य देशों में द्रुत गति से हो रहा है। ऐहिकता में निहित निरीश्वरवाद और निरीश्वरवाद से ध्वनित विसंगति का नारा भी कला, साहित्य तथा दर्शन में प्रसारित होता जा रहा है। इस ऐहिकता के प्रसार में दार्शनिक विश्लेषण, समाज-दर्शन तथा ऐतिहासिक अध्ययन बहुत सहायक सिद्ध हुआ। इन सब प्रकार के अध्ययनों की प्रतिध्वनि इस समीक्ष्य पुस्तक में देखने में आती है। यद्यपि इस पुस्तक के अध्याय १ में ऐहिकता के लक्षणों का स्पष्टीकरण किया गया है तो भी समीक्षक के द्वारा ऐहिकतावाद का अति संक्षिप्त विवेचन इस पुस्तक को समझने में सुगम हो सकता है।

***रिलीजन एण्ड सेक्युलराईजेशन, ले. वर्णों न प्रेंट, मैक्मिलन प्रेस, १९७०**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मोटे रूप से भारत में 'ऐहिकता' शब्द के स्थान पर 'धर्म-निरपेक्षतावाद' शब्द का व्यवहार किया जा रहा है, परन्तु इन दोनों शब्दों के तात्पर्य में अन्तर है। ऐहिकतावाद इस बात का बोध कराता है कि इस विश्व के अतिरिक्त अन्य कोई पारलौकिक सत्ता नहीं है जिसकी सहायता से इस लोक का कल्याण हो सकता है। अतः ऐहिकता ईश्वर-विरोधी है और पूर्णतया मानवतावादी है। इसलिये ऐहिकतावाद मानवतावाद का वह रूप है जिसके अनुसार मानव अपनी तर्कबुद्धि की सहायता से (नकि श्रुति की सहायता से) विज्ञान, तकनीकी एवं औद्योगिकीकरण के आधार पर (बिना पारलौकिक सत्ता की आकांक्षा के) इस लोक का हित प्राप्त कर सकता है। इस पुस्तक में भी बताया गया है कि ऐहिकता विज्ञान-प्रधान सिद्धान्त है और वैज्ञानिक पद्धति को अपनाने पर पारलौकिकता को अमान्य करना अपरिहार्य हो जाता है। यही कारण है कि 'ऐहिकता' को 'धर्मनिरपेक्षता' का पर्याय नहीं माना जा सकता है। फिर, चूंकि पाश्चात्य देशों में पारलौकिक सत्ता ईश्वर का बोध कराती है इसलिये ऐहिकता में निरीश्वरवाद का पक्ष सबल रूप में पाया जाता है। ऐहिकतावादी निरीश्वरवाद को तत्त्वमीमांसात्मक निरीश्वरवाद से भिन्न समझना चाहिये। ऐहिकतावादी निरीश्वरवाद ईश्वरवाद का सम्पूर्णतया उन्मूलन करता है और इस प्रकार के निरीश्वरवाद से ईश्वरवाद की सम्भावना ही विनष्ट हो जाती है। ऐहिकतावादी निरीश्वरवाद सांस्कृतिक, सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक चेतना से सम्बद्ध माना जाता है। समकालीन युग में ईश्वर मानव-चेतना से इसलिये ओझल हो गया है कि मानव को अब ईश्वर की आवश्यकता नहीं मालूम देती है। मानव अपनी समस्याओं को विज्ञान और तकनीकी के ही आधार पर हल कर लेता है। बाढ़ या सूखा पड़ने पर व्यक्ति ईश्वर से प्रार्थना नहीं करता है: वह नहर, कूप, नलकूप इत्यादि की ही चिन्ता करता है। इसी प्रकार बीमार पड़ने पर पाश्चात्य देशवासी जप-जाप नहीं करता है: वह डाक्टर और औषधि की शरण लेता है। यही बात पाश्चात्य लोगों में उनकी सभी समस्याओं के समाधान में लागू होती है। अतः ऐहिकतावाद उसी को कहा जाता है जहां मानव अपनी बुद्धि और कौशल के आधार पर (नकि किसी पारलौकिक सत्ता द्वारा) अपने जीवन की समस्याओं का समाधान करता है। पाश्चात्य देशों में ईश्वर की पूजा उसी प्रकार लुप्तप्राय होती जा रही है जिस प्रकार जीऊस, जूपिटर, अपोलो इत्यादि देवताओं की पूजा को हास्यास्पद मानकर उसका लोप हो गया है। परन्तु इस ऐहिकतावादी निरीश्वरवाद से कुछ नवीन समस्याएं भी उपस्थित हो गयी हैं।

पाश्चात्य जगत् में नीति तथा अन्य मूल्यों का आधार ईश्वर माना जाता था। नैतिक आदेशों को ईश्वर की आज्ञा मानकर उनका पालन ईश्वर-भय से संचालित समझा जाता था। परन्तु यदि ईश्वर-चेतना का ही विलय हो जाय तो फिर इन नैतिक आदेशों की किस प्रकार अनुशास्ति होगी। यही बात अन्य मूल्यों के लिए भी कही जा सकती है। सभी मूल्यों के आधार में जीवन की सार्थकता का प्रश्न है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सार्थकता का प्रश्न जीवन के उद्देश्य से जुड़ा हुआ है। अभी तक जीवन के उद्देश्य को ईश्वर के सृष्टिकर्तृत्व से जुड़ा माना जाता था। परन्तु इस विश्व के सृष्टिकर्त्ता तथा जगन्नियंता में लोगों का यदि विश्वास ही नहीं हो, तो जीवन की उद्देश्यपूर्णता की व्याख्या किस प्रकार की जा सकती है ? वर्णौन प्रैंट ने अपनी पुस्तक के अन्तिम अध्याय में इस प्रश्न पर पूरा विचार व्यक्त किया है।

वर्णौन प्रैंट ने अपनी पुस्तक को तीन अध्यायों में सीमित रखा है। अध्याय-१ में उन्होंने पारलौकिक सत्ता का विलयन, अध्याय-२ में पारलौकिक सत्ता के बिना धर्म और अध्याय-३ में पारलौकिक सत्ता के बिना जीवन-यापन का उल्लेख किया है। इसी क्रम में हम वर्णौन प्रैंट की पुस्तक की समीक्षा करेंगे।

पारलौकिक सत्ता का विलयन*

ऐहिक जीवन के लक्षण को बिना जाने हुए हम ऐहिकतावाद को नहीं समझ सकते हैं। यह ठीक है कि पाश्चात्य देशों में अधिकांश व्यक्ति चर्च (गिरजाघरों) में नहीं जाते हैं। पर क्या चर्च नहीं जाने से ऐहिकता को अपनाना कहा जायगा ? नहीं, क्योंकि अनेक व्यक्ति चर्च नहीं जाते हैं और तो भी उनमें अनेक प्रकार के अंध-विश्वास पाये जाते हैं (८–६)। इसलिये ऐहिकवादी नागरिक के जीवन को देखकर ही हम ऐहिकता को स्पष्ट कर सकते हैं।

कौक्स (१) और विल्सन (२) ने ऐहिक नागरिकों के सम्बन्ध में उनके लक्षणों का उल्लेख किया है। सहिष्णुता तथा अनेकत्ववाद, उपयोगितावाद अथवा साधनतावाद, युक्तिपूर्ण प्रविधि अथवा तकनीकी और पवित्रता के स्थान पर लौकिक वस्तुओं के प्रति अभिमुखता इत्यादि लक्षणों का उल्लेख किया गया है। कौक्स के अनुसार नगरीकरण के फलस्वरूप ही ऐहिकता दृढ़ हो पायी है और आधुनिक नगरीकरण में अनामत्व और अवैयक्तिकता दो विशेष लक्षण देखने में आते हैं। उदाहरणार्थ, किसी भी आधुनिक नगर में तार, बैंक, रेल इत्यादि की जटिल व्यवस्था है। प्रत्येक नागरिक जब बैंक में रुपया जमा करने या निकालने जाता है तो बैंक के कर्मचारी बिना किसी व्यक्तिगत संभाषण के अपने ग्राहकों का काम कुशलता और सतर्कता के साथ सम्पादित कर देते हैं। यही बात रेल के टिकट लेने या तार भेजने इत्यादि के काम में देखी जाती है। इन सब जटिल व्यापार में मानव को मानव मानते हुए प्रत्येक व्यक्ति के साथ अवैयक्तिक रूप से बर्ताव किया जाता है। इस व्यक्तिहीनता का

***कोष्ठक में लिखे गए अंक "रिलीजन एण्ड सेक्यूलराईज़ेशन" नामक पुस्तक की पृष्ठ संख्या के सूचक हैं। पुस्तक-निर्देश समीक्षा के अन्त में दिया जाएगा।**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कारण नागरिकों की गतिशीलता भी है। प्रायः नागरिक अपनी स्थिति में सुधार लाने के लिये एक नगर से दूसरे नगर में जाया करते हैं और फिर एक ही शहर के एक भाग से दूसरे भाग में भी स्थान बदलते रहते हैं। इसी गतिशीलता के कारण नागरिकों में निर्मूलता तथा आत्मविमुखीपन अथवा अन्यदेशीपन चला आता है।

यदि नगरीकरण के साथ व्यक्तिगत बंधन में शिथिलता आ जाय, सामाजिक व्यापार में अनामत्व* बरता जाय तो जीवन की सभी समस्याओं के प्रति अवैयक्तिक व्यवहार चला आयेगा। चूंकि ईश्वर के साथ मैं-तू का अत्यधिक वैयक्तिक प्रकार का निकटतम सम्बन्ध पाया जाता है, इसलिये नगरीकरण के साथ व्यक्तिहीनता के कारण ऐहिकतावाद का होना निश्चित मालूम देता है। कौक्स के अनुसार (३) नगरीकरण और ऐहिकता का सम्बन्ध तथ्यात्मक है जिसे ऐतिहासिक अध्ययन के द्वारा पुष्ट किया जा सकता है (२)। कौक्स ने ऐहिकता के साथ नगरीकरण का सम्बन्ध जोड़कर ऐहिकता के दो अन्य लक्षणों का भी उल्लेख किया है, अर्थात् व्यावहारिकतावाद और लौकिकता।

व्यावहारिकता को अर्थक्रियावाद के दार्शनिक सिद्धान्त से भिन्न समझना चाहिये। कौक्स के अनुसार इसे टास्क (उद्देश्यपूर्ण कार्य) और प्रायोजना (प्रोजेक्ट) की आधारभूमि में समझना चाहिये। यहाँ व्यावहारिकता का अर्थ है कि समस्या-विशेष को ध्यान में रखकर ऐसी व्यवस्था को अपनाना चाहिये जिससे उस समस्या का समाधान हो जाय।[४] इसी बात को विल्सन ने करणात्मक मूल्य (४) की संज्ञा दी है, अर्थात् बहुमत से प्राप्त उद्देश्यों की साधनों के द्वारा पूर्ति। दूसरे शब्दों में, ऐहिकतावादी व्यक्ति सभी स्थानों पर उन साधनों पर बहुत अधिक विचार करता है जिनके द्वारा सर्वसम्मति से प्राप्त उद्देश्यों की पूर्ति हो जाय। इसी संदर्भ में विल्सन ने युक्तिपूर्ण विधि एवं प्राविधिक प्रणालियों का भी उल्लेख किया है, अर्थात् किसी समस्या विशेष (उदाहरणार्थ, पैदावार को बढ़ाने की समस्या, या रोज़गार बढ़ाने का प्रश्न) के समाधान के लिये ऐहिकवादी बुद्धि की मदद लेता है, तकनीकी उपायों का व्यवहार करता है, पारलौकिक सत्ता या श्रुति का नहीं। चूंकि ऐहिकतावादी की समस्याएं ऐहिक जीवन से सम्बन्ध रखती हैं और फिर, चूंकि प्राविधिक (तकनीकी) साधनों को ही ध्यान में रखा जाता है, इसलिये ऐहिकतावाद में लौकिकता देखने में आती है।

अंग्रेज़ी में लौकिकता को प्रोफेविटी कहा गया है। यहाँ प्रोफेविटी को पवित्र (सेक्रेड) का विपरीत माना गया है। पवित्र पारलौकिक तथा मानव से अतीत सत्ता

***अर्थात् जहाँ किसी के व्यक्तिगत नाम को जानने की आवश्यकता ही नहीं पड़े। प्रायः नगरों में व्यक्ति परिचित रहते हुए भी अज्ञातनामा रहते हैं। इसी अवस्था को अनामत्व की अवस्था कहा जाता है।**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होती है जिसके साथ सम्बन्ध स्थापित कर व्यक्ति अपने को जीवन में स्थिर समझता है। अतः, पवित्र (सेक्रेड) को विलक्षण, अद्‌भुत, विस्मयपूर्ण इत्यादि माना जाता है और पवित्र सत्ता के सम्बन्ध में व्यक्ति को सतर्क रहना पड़ता है। उसकी कथा भी शुभ अवसर पर नियत स्थान और दिन में की जाती है। इसके विपरीत लौकिक वह है जो साधारण घटनाओं में पाया जाता है, जिसकी कथा सभी समय सभी स्थान पर की जाती है। अतः पवित्र वस्तु धर्म का विषय मानी जाती है और लौकिक वस्तु विज्ञान का विषय समझी जा सकती है। लौकिक के इसी भेद को ध्यान में रखकर कहा गया है कि ऐहिकतावादी लौकिक होता है। उसे इस विश्व को छोड़कर किसी अन्य पारलौकिक तथा पवित्र अतीत ईश्वर की याद नहीं आती है। वह ईश्वर के विषय में भी उसी प्रकार बातचीत करता है मानो वह साधारण व्यक्ति है। ऐहिकतावादी ईश्वर के विषय में कहता है कि अब वह बूढ़ा हो गया है, दुर्गंध उड़ाता रहता है, इत्यादि। ऐहिकतावादी व्यक्ति इसी विश्व की बात सोचता है, इसी को सुधारने की धुन में लगा रहता है और मानवजाति के कल्याण के लिये सतत प्रयत्न-शील रहता है[५]। इसी बात को नकारात्मक रीति से विल्सन ने बताया है कि ऐहिकतावादी वह है जिसमें पवित्रता के विचार तथा जीवन की पवित्रता के भाव का अभाव और धार्मिक अनुभूति का अभाव रहता है (३)। यही कारण है कि ऐहिकतावादी व्यक्ति में धार्मिक विचार, व्यवहार तथा अनुष्ठान का अभाव पाया जाता है।

इसके पूर्व कि कौक्स के द्वारा ऐहिकताकरण के दो अन्य लक्षणों अनेकत्व और सहिष्णुता पर प्रकाश डाला जाय, यहाँ वर्णित प्रैट की उन दो टिप्पणियों का उल्लेख करना चाहिये जो उन्होंने व्यावहारिकता और युक्तिपूर्णता के प्रसंग में प्रस्तुत की हैं। विल्सन ने बताया है कि ऐहिकतावादी व्यक्ति बुद्धिपरक साधनों की मदद लेता है। इससे यह नहीं समझना चाहिये कि पारलौकिकतावादी धार्मिक व्यक्ति अबौद्धिक साधनों के अधीन रहता है। प्रैट का कहना है कि ऐहिकतावादी और पारलौकिकतावादी दोनों ही अपने साधनों को युक्तिपूर्ण समझते हैं। अन्तर केवल इनकी युक्तिपूर्णता की कसौटी में पाया जाता है। उदाहरणार्थ, प्रैट का कहना है (४) कि मध्ययुगीन व्यक्ति के लिये श्रुति का आश्रय लेना, सन्तों के मत को प्रस्तुत करना, इत्यादि युक्तिपूर्ण माना जाता था, २०वीं शताब्दी के विचारकों के लिये यह अमान्य है।

फिर प्रैट की टिप्पणी है कि करणवाद कुछ नयी बात नहीं है। ऐहिकतावादी और ईश्वरवादी दोनों अपने-अपने उद्देश्यों की पूर्ति अभीष्ट साधनों के द्वारा करते हैं। अन्तर इतना ही है कि ईश्वरवादी का उद्देश्य पारलौकिक हुआ करता है (४)। उदाहरणार्थ, ईश्वरवादी उन्हीं सब कार्यों की सहायता लेते हैं जिनके द्वारा उन्हें 'अनंत जीवन' प्राप्त होगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मेरी समझ में ग्रैंट की टिप्पणियों को सही समझा जायगा। परन्तु इनका उल्लेख करने की विशेष आवश्यकता नहीं है। इसका कारण है कि ऐहिकतावादी का दृष्टिकोण वैज्ञानिक है। वह जानता है कि धार्मिक व्यक्ति भी मानव हैं और मानव होने की हैसियत से वे बुद्धियुत व्यक्ति हैं और बुद्धियुत होने के कारण उनके व्यवहार में उद्देश्य और साधन का अभाव नहीं रहता है। परन्तु वैज्ञानिक दृष्टि के आधार पर न तो पारलौकिक सत्ता को ही स्वीकार किया जा सकता है और न उस पर आधृत उद्देश्यों और उनकी प्राप्ति के लिये साधनों को। टिप्पणियों पर टिप्पणी इसलिये की गयी है कि कौक्स और डी० ज़ैड० फिलिप्स मानते हैं कि ऐहिकतावादी युग में मतमतान्तरों को प्रश्रय दिया जाता है और सभी मतवालों के प्रति सहिष्णुता बरती जाती है। भारत में रहने वाले भी ऐहिकतावाद को अपने संविधान में स्वीकार करते हैं। यह ऐहिकतावाद अनेकत्ववाद (अथवा सापेक्षतावाद) और सहिष्णुतावाद (अथवा सहास्तित्ववाद) दोनों को स्वीकार करता है (२-५)। धर्म में आत्मबद्धता पायी जाती है। धार्मिक व्यक्ति ईश्वर को मनसा, वाचा और कर्मणा स्वीकार करता है। इसलिये ईश्वर में उसकी आस्था इतनी अटूट मालूम देती है कि वह धार्मिक सत्यता को निरपेक्ष रूप से सत्य मानता है। अपने धर्म को छोड़ अन्य सभी के देवी-देवताओं तथा धर्मों को वह भ्रम कहकर उनके प्रति असहिष्णु हुआ करता है। मध्य युग में यूरोप में ईसाई धर्म को छोड़कर अन्य धर्मों को कोई प्रश्रय नहीं मिला था। मध्य युगी ईसाई न तो परम्परागत विचार को छोड़कर अन्य बात सुनना चाहता था और न किसी अन्य धर्म के प्रति उदार होना चाहता था। मुसलमानों के प्रति क्रूसेड की कथा सर्वज्ञात है ही। अतः धर्म में निरपेक्ष भाव की दृष्टि होती है। परन्तु इसके विपरीत ऐहिकतावादी अन्य मतों और दृष्टियों को भी प्रश्रय देता है। अतः कौक्स और फिलिप्स इस निष्कर्ष पर आते हैं कि धार्मिक दृष्टि एकात्मक और निरपेक्ष होती है और ऐहिकताकरण के साथ अनेकत्वभाव तथा सहिष्णुता का विचार जड़ पकड़ता जाता है (३)।

क्या सहिष्णुता अनेकत्व, करणवाद, युक्तिपूर्ण प्रविधि, तकनीकी विधि, पवित्रता, भावहीनता के साथ लौकिकता को ऐहिकतावाद का तात्त्विक तथा सारगर्भित लक्षण मान लिया जाय? ऐहिकताकरण की गति में अनेक लक्षण विभिन्न रूप में दिखाई देते हैं। इन लक्षणों को सभी प्रकार की ऐहिकता का सामान्य और सारगुण नहीं समझना चाहिये। परन्तु ग्रैंट के अनुसार ऐहिकता को स्पष्ट करने के लिये उन लक्षणों का उल्लेख करना चाहिये जिनमें पारिवारिक समानता पायी जाती है। ग्रैंट ने पारिवारिक समानता के तार्किक प्रत्यय का विश्लेषण बाद में किया है जिसका उल्लेख यथास्थान किया जायगा। परन्तु यहाँ प्रश्न उठता है कि ऐहिकताकरण किन कारणों से संभव हो सका है? क्या ऐहिकताकरण सामाजिक परिवर्तनों के फलस्वरूप उत्पन्न हुआ है, या क्या यह मानव की बौद्धिक दृष्टि के बदलने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से ही संभव हो सका है ? ग्रैट के अनुसार इन दोनों प्रकार के कारणों में सम्बन्ध अवश्य है और वे बौद्धिक आधार को ही विशेष स्थान देने को तैयार हैं (११)। परन्तु मैकेंटायर सामाजिक स्थितियों को ही ऐहिकता का विशेष आधार मानते हैं, और यद्यपि ग्रैट इस प्रसंग में कौक्स का नाम नहीं लेते तो भी उल्लेखनीय है कि कौक्स के अनुसार[८] ऐहिकताकरण सामाजिक परिवर्तन और विभेदीकरण (सामाजिक विशिष्टीकरण) से उत्पन्न हुआ है।

मैकेंटायर ऐहिकता के विकास में सामाजिक परिवर्तनों को विशेष स्थान प्रदान करते हैं। मैकेंटायर के अनुसार परम्परागत ईसाई विश्वास अनुष्ठान तथा संस्था से निरीश्वरवादी विश्वास और अनुष्ठान में संक्रमण को ही ऐहिकताकरण की संज्ञा दी जा सकती है। चूंकि अमेरिका में अभी भी ईसाई अनुष्ठान और संस्थाओं में कमी नहीं आयी है इसलिये मैकेंटायर अमेरिका को ब्रिटेन की तुलना में ऐहिकतावादी देश नहीं मानते हैं। परन्तु यहाँ प्रश्न पूछा जा सकता है कि जब १७वीं शताब्दी तक ईसाई विश्वास सभी यूरोपीयों के लिये स्वाभाविक मालूम देता था (७) तब कौन सी ऐसी घटनायें घटित हुई हैं जिनके कारण समकालीन युग में अनेक व्यक्ति ईश्वर की वास्तविकता में संदेह प्रकट करते हैं, कुछ विचारक ईश्वर के अस्तित्व को अस्वीकार करते हैं और फिर कुछ दार्शनिक ईश्वर प्रत्यय को अर्थहीन बकवास समझते हैं ? (११)। जहाँ तक ब्रिटिश समाज की बात है, वहाँ मैकेंटायर के अनुसार ऐहिकतावाद औद्योगिक क्रान्ति तथा तदुपरान्त समाज में वर्गों के विभाजन से उत्पन्न हुआ है (६)। यहाँ प्रश्न किया जा सकता है कि परम्परागत ईसाई दृष्टि का क्या स्वरूप मानना चाहिये ? ईसाई दृष्टि वह है जिसमें व्यक्ति पारलौकिक सत्ता के प्रति अभिमुख रहे और पार्थिव जीवन को स्वर्ग-नरक की प्राप्ति का रंगमंच स्वीकार करें[६] (७)। पारलौकिकता के प्रति अभिमुखता के कारण ईसाई नरक-दंड, स्वर्गदूत, जादू-डाईन में विश्वास भी रखता था (१०,२४)। मैकेंटायर के अनुसार ईसाई दृष्टि के परित्याग के दो मुख्य कारण बताये जा सकते हैं। (क) ईसाई प्रत्ययों का सम्बन्ध व्यवहार से है। जब व्यक्तियों का व्यवहार बदल गया तो ईसाई प्रत्यय पुराने पड़कर क्षीण हो गये। (ख) फिर वे सब प्रत्यय, जिनके आधार पर सामाजिक और बौद्धिक जीवन की कार्यवाहियों को स्पष्ट किया जाता है, वे सब प्रत्यय नगरीकरण तथा औद्योगीकरण से उत्पन्न समाज में विसंगत मालूम देने लगे हैं। उदाहरणार्थ, न्यूटन के उद्भव से पूर्व लोग अरस्तू के विचार को स्वीकार कर समझते थे कि इस विश्व की व्याख्या आद्य चालक के द्वारा हो सकती है। परन्तु विज्ञान के प्रचार और प्रसार के बाद कारणतामूलक नियतिवाद के द्वारा ही विश्व की सभी घटनाओं की व्याख्या की जाती है। अतः सामाजिक परिवर्तनों के फलस्वरूप ईश्वर, जादू-टोना, स्वर्ग-नरक इत्यादि पारलौकिक सत्ताओं में लोगों को अविश्वास हो गया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग्रैंट मैकेंटायर की व्याख्या को सम्पूर्णतया सत्य नहीं मानते हैं। परन्तु ग्रैंट सामाजिक परिवर्तन की अपेक्षा बौद्धिक परिवर्तन को ऐहिकताकरण के विकास में प्रमुख स्थान देना चाहते हैं। ग्रैंट के अनुसार स्वयं औद्योगीकरण का मूल कारण विज्ञान का उदय है और विज्ञान का उदय रिफोर्मेशन (सुधारान्दोलन) तथा वैज्ञानिक रिनैसंस (नवजागरण) के आधार पर हुआ है। अतः बौद्धिक दृष्टि के परिवर्तन से ही ऐहिकतावाद की व्याख्या की जा सकती है (१०,११)।

ग्रैंट के अनुसार विज्ञान-प्रसार के द्वारा ही ईश्वरवाद का लोप हुआ है, क्योंकि वैज्ञानिक प्रत्ययों का ढांचा ऐसा है जिसमें पारलौकिकता को प्रश्रय नहीं दिया जा सकता है। उदाहरणार्थ, मध्य युग में लोग ईश्वर, स्वर्ग-नरक, डाईन-जादू इत्यादि विषयों की बात किया करते थे और इन विचारों का संज्ञापन भी आसानी से होता था। परन्तु समकालीन युग में वैज्ञानिक पद्धति का अनुसरण करते हुए इन प्रत्ययों को आत्मविरोधी और विसंगत पाया जाता है[१०] (१२–१३)। अब वैज्ञानिक पद्धति की यह मान्यता है कि बिना कारण-कार्य के सिद्धान्त को अपनाए हुए प्राकृतिक घटनाओं की व्याख्या नहीं की जा सकती है। साथ ही साथ यह भी अब धारणा है कि प्राकृतिक घटनाओं की व्याख्या केवल प्राकृतिक कारणों के द्वारा हो सकती है और प्राकृतिक कारण वे ही हैं जिन्हें बार-बार दुहराया जा सकता है (आवृत्तीय)। चूंकि कारण-कार्य से बाहर घटनाओं की व्याख्या नहीं हो सकती है, इसलिये ईश्वर को आश्चर्यकर्मों की व्याख्या के लिये सही कारण नहीं माना जा सकता है। फिर, चूंकि ईश्वर को प्राकृतिक कारण नहीं माना जा सकता है इसलिये ऐहिक घटनाओं का स्पष्टीकरण करने के लिये ईश्वर की दुहाई नहीं दी जा सकती है। अपितु, प्राकृतिक कारण आवृत्तीय होता है और जिसे आश्चर्यकर्म कहा जाता है वह आवृत्तीय नहीं होता, इसलिये आश्चर्यकर्म को विश्वसनीय नहीं स्वीकार किया जा सकता है। वहाँ विशेष बात है कि उसी आवृत्तीय घटना को विश्वसनीय माना जाता है जिसे परीक्षण और प्रत्यक्ष का विषय समझा जाता है। अतः, विज्ञान में न तो श्रुति (शास्त्र) को और न प्रत्यक्षातीत अत्योचर पारलौकिक सत्ता को कोई स्थान प्रदान किया जा सकता है।

चूंकि धर्म और विज्ञान में विरोध होने पर प्रारम्भ में जो कुछ भी विज्ञान के विरोध में सोचा जा सकता था वह धीरे-धीरे वैज्ञानिक सफलता और व्यावहारिक फलदायकता की कसौटी के आधार पर दूर हो गया है और विज्ञानों की प्रतिष्ठा धर्म की तुलना में बहुत अधिक दृढ़ हो गयी है इसलिये धीरे-धीरे यह सामाजिक और सांस्कृतिक धारणा बन गयी है कि ऐहिक घटनाओं की व्याख्या केवल वैज्ञानिक पद्धति के ही आधार पर सम्पन्न की जा सकती है। पर क्या ईश्वर को इस यांत्रिक विश्व का दूरस्थ और अन्तिम कारण नहीं माना जा सकता है ?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तटस्थ देववाद में ईश्वर को विश्व का दूरस्थ और अन्तिम कारण स्वीकार किया गया है परन्तु डब्ल्यू.टी. स्टेस ने [११] स्पष्ट कर दिया है कि अन्त में इस प्रकार के ईश्वर के प्रति लोगों को अनास्था ही हो गयी। अतः प्रैंट का कहना है कि वैज्ञानिक विधि का ऐसा स्वरूप ही है कि इसका अनुसरण करने से आश्चर्यकर्म, पारलौकिक सत्ता तथा श्रुति में विश्वास को स्थिर नहीं किया जा सकता है। इसी बात को स्पष्ट करने के लिए प्रैंट ने सत्यापन-सिद्धान्त के प्रभाव को ईश्वर-प्रत्यय के प्रसंग में प्रस्तुत किया है (१८–२०)।

वैज्ञानिक भाषा को मानदंड मानकर ए. जे. एर ने [१२] स्वीकार किया है कि उसी को वास्तविक अथवा तथ्य स्वीकार किया जायगा जो अन्त में निरीक्षणों के आधार पर स्पष्ट किया जा सकता है। चूंकि ईश्वर को निरीक्षण का विषय नहीं माना जा सकता है, इसलिए ईश्वर को वास्तविक नहीं स्वीकारा जा सकता है। इसी बात को जॉन विज़डम [१३] ने बागवान के दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट किया है। विज़डम का कहना है कि यदि ईश्वर को इस विश्व का अदृश्य, अगोचर और इन्द्रियातीत बागवान स्वीकार किया जाय तो ईश्वर को कैसे वास्तविक समझा जा सकता है? विज़डम ने बताया है कि वास्तव में पारलौकिक ईश्वर का सही अर्थ इसी वास्तविक जगत् की सर्वव्यापी दृष्टि के रूप में निश्चित किया जा सकता है। परन्तु विज़डम की व्याख्या के अनुसार तो ईश्वर की पारलौकिकता ही समाप्त हो जाती है। फ्लू [१४] ने विज़डम के दृष्टान्त को दूसरे रूप में रखकर बताया है कि यदि ईश्वर ऐसी सत्ता हो जिसे न देखा जा सकता, न सूंघा जा सकता, न छूआ जा सकता है और न जिसे किसी अन्य प्रकार से गोचर किया जा सकता है, तो इस ईश्वर को किस प्रकार वास्तविक स्वीकार किया जा सकता है? स्वयं फ्लू का निष्कर्ष है कि ईश्वर-प्रत्यय निरर्थक है।

इसीलिए प्रैंट के अनुसार सामाजिक परिवर्तन की अपेक्षा बौद्धिक परिवर्तन को ऐहिकताकरण का अधिक महत्वपूर्ण कारण माना जायगा।

ईश्वर के बिना धर्म

यदि ईश्वर सम्बन्धी कथन निरर्थक और आत्मविरोधी हों तो कम से कम तीन प्रकार के विकल्प माने जा सकते हैं —

1. या तो ईश्वर-सम्बन्धी कथन निरर्थक होंगे (ए. ज. एर का मत)
2. या ये कथन पारलौकिक स्थिति को स्पष्ट नहीं करके इसी विश्व के सम्बन्ध में बोध कराते हैं (जे. विज़डम)
3. या ये कथन तथ्यात्मक न होकर वास्तव में कहानी के द्वारा नैतिक कार्य-नीति को विहित करने या इस नीति पर चलने के संकल्प का बोध कराते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस संदर्भ में प्रैट ने एक प्रमुख विकल्प का उल्लेख नहीं किया है। पॉल तीलिख इत्यादि धर्मदार्शनिकों का कहना है कि ईश्वर-सम्बन्धी कथन प्रतीकात्मक होते हैं। चूकि प्रैट ने प्रतीक सिद्धान्त की अवहेलना की है इसलिये इनकी रचनात्मक देन में बड़ी कमी आ गई है।

प्रैट ने एर के मत का विशेष उल्लेख इसलिये नहीं किया है कि अब शायद स्वयं एर भी ईश्वर-सम्बन्धी कथनों को निरर्थक नहीं कहेंगे। उसने विज्डम के मत की व्याख्या बाद में की है। यहाँ प्रैट आर० बी० ब्रेथवेट[15] के मत की समीक्षा करना अभीष्ट समझते हैं।

ब्रेथवेट अनुभववादी हैं और अनुभववादी होने की हैसियत से व धार्मिक कथनों का अर्थ–निरूपण करना चाहते हैं, न कि उनकी सत्यता का। ब्रेथवेट यह भी स्वीकार करते हैं कि सत्यापन-सिद्धान्त को उपयोग सिद्धान्त के रूप में काम में लाकर देखना चाहिये कि धार्मिक कथनों का वास्तविक अर्थ क्या होता है। फिर ब्रेथवेट धार्मिक कथनों के प्रसंग में इस महत्वपूर्ण संशोधन को प्रस्तुत करते हैं कि धार्मिक कथनों को पृथक्-पृथक् वाक्य न मानकर उन्हें व्यवस्थित रूप में लेकर उनका स्पष्टीकरण करना चाहिये। इन दोनों संशोधनों को ध्यान में रखकर ब्रेथवेट के अनुसार[१६] ईश्वरविषयक कथन विशेषतया नीतिमूलक हुआ करते हैं (२५–२६)। परन्तु इस कार्यनीति को स्पष्ट करने के लिये समस्त ईश्वर-विषयक कथनों को उनके सामूहिक रूप में ध्यान में रखना चाहिये। द्वितीय, शुद्ध नैतिक कथनों की तुलना में ये धार्मिक कथन अमूर्त रूप में नहीं, वरन् दृष्टान्तों के आधार पर अभिव्यक्त होते हैं। साथ ही साथ धार्मिक कार्यनीति पर चलने के लिये धार्मिक के अन्दर भी आन्तरिक परिवर्तन होना चाहिये। परन्तु ब्रेथवेट इस आन्तरिक परिवर्तन को धार्मिक कथनों का विभेदक लक्षण नहीं मानते हैं। तृतीय, ब्रेथवेट के अनुसार सबसे बड़ा महत्त्वपूर्ण लक्षण यह है कि धार्मिक कथनों के द्वारा कथाओं के आधार पर कार्यनीति को कार्यान्वित करने का संकल्प मनोवैज्ञानिक रीति से दृढ़ किया जाता है। चूंकि बौद्ध, ईसाई इत्यादि भिन्न-भिन्न कथाओं के द्वारा अपने कथनों के कार्यनीतिमूलक अर्थों को स्पष्ट करते हैं, इसलिये कथा-मूलक होने के कारण एक धार्मिक कथन अन्य धर्मों के कथनों से भिन्न होते हैं और फिर एक ईश्वर-सम्बन्धी कथन अन्य नैतिक कथनों से भी भिन्न होते हैं। उदाहरणार्थ, बौद्ध और ईसाई दोनों विश्व सौहार्द्र और विश्व करूणा की कार्यनीति पर जोर देते हैं। दोनों में मुख्य भेद यह है कि बौद्ध अभिकथनों का अर्थ जातक-कथाओं से स्पष्ट किया जाता है और ईसाई अभिकथनों का अर्थ निरूपण बाइबिल तथा उनके अन्य ग्रन्थों की कथाओं से व्यक्त किया जाता है। ब्रेथवेट के कथामूलक सिद्धान्त की दो तीन विशेषतायें हैं।[१८]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

1. कार्यनीति को अभिव्यक्त करने वाली कथा को इस अर्थ में अनुभवाश्रित समझना चाहिये कि कथा को सिद्धान्ततः वास्तविक पात्रों की कहानी कहा जा सकता है।

2. यह किसी भी प्रकार आवश्यक नहीं है कि कथा सच्ची हो अथवा कथा के पात्र ऐतिहासिक व्यक्ति हों। कथा और उसके पात्र पूर्णतया काल्पनिक हो सकते हैं।

3. मुख्य बात है कि इन कथाओं के द्वारा धार्मिक व्यक्ति को कार्यनीति को कार्यान्वित करने में मनोवैज्ञानिक उत्प्रेरणा प्राप्त हो। अतः, यह कथा साधारण कहानी हो सकती है, दंतकथा भी हो सकती है। संभव है कि यह कथा दृष्टान्त हो या प्रतीक हो।

प्रैट ने ब्रेथवेट के मत को अस्वीकार कर दिया है। प्रैट का कहना है कि ब्रेथवेट ने यह एकदम से स्पष्ट नहीं किया है कि सत्यापन-सिद्धान्त के प्रयोग का क्या सिद्धान्त है (२६-२७)। शायद यह भी कहा जा सकता है कि ब्रेथवेट ने नैतिक कथनों के संवेगमूलक सिद्धान्त को बिना इस पर पूर्ण विचार किये ही ठुकरा दिया है। समीक्षक के मत में इन आलोचनाओं को विशेष महत्त्व नहीं देना चाहिये। एक ही व्याख्यान में सभी बातों की चर्चा नहीं की जा सकती है। यहाँ यदि ब्रेथवेट हठवादी दिखाई देते हैं तो यह उनके लिये क्षम्य समझा जायगा। फिर प्रैट ने ब्रेथवेट के द्वारा दी गई धार्मिक कथनों की अनुभववादी व्याख्या की उन सब आलोचनाओं को स्वीकार कर लिया है जो मैस्केल[१९] ने प्रस्तुत की हैं। (२७–२८)

मैस्केल[२०] का कहना है कि ब्रेथवेट धार्मिक कथनों को तथ्यात्मक समझते ही नहीं हैं। पहले तो वे शुद्ध ईश्वरवादी कथनों को अनानुभविक कहेंगे, उदाहरणार्थ, ईश्वर वास्तविक है, 'ईश्वर प्रेम है', 'ईसा ईश्वर हैं', इत्यादि। इन अनानुभविक कथनों को अर्थहीन समझकर वे ईसा-सम्बन्धी कथाओं को भी सत्य मानने के लिए तैयार नहीं हैं। इनके लिये आवश्यक नहीं है कि ईसाई यह सत्य माने कि ईसा मृतकों में से जी उठा है। मैस्केल का कहना है कि कम से कम ईसाई धार्मिक कथनों की व्याख्या ब्रेथवेट के अनुभववादी मत के अनुसार नहीं हो सकती है, क्योंकि ईसाई ईश्वर को वास्तविक मानते हैं और ईसा सम्बन्धी अनेक कथनों को तथ्यात्मक रूप से समझते हैं। फिर मैस्केल के अनुसार, यदि कोई ईसाई धर्म को बौद्ध धर्म की तुलना में अपनाता है तो वह ईसाई कथाओं को सत्य समझकर अपनाता है, न कि वह ईसाई धर्म–कथाओं को केवल मनोवैज्ञानिक रूप से उत्प्रेरक समझता है।

न तो प्रैट ने और न मैस्केल ने ईश्वर–विषयक कथनों की सही व्याख्या प्रस्तुत करने की कोशिश की है। अनुभववादी ब्रेथवेट के अनुसार ईश्वर विषयक कथनों को तथ्यात्मक नहीं समझा जा सकता है और यदि प्रैट और मैस्केल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उन्हें यह समझकर तथ्यात्मक मानें कि ईसाई उन्हें तथ्यात्मक मानतें हैं, तो मैस्केल और प्रैट को स्पष्ट करना चाहिये कि वे किस प्रकार धार्मिक कथनों को सार्वजनिक, आवृत्तीय तथा संज्ञानात्मक अनुभूतियों के द्वारा तथ्यात्मक सिद्ध कर सकते हैं। परन्तु प्रैट और मैस्केल ने किसी भी प्रकार से धार्मिक कथनों को कहीं भी तथ्यात्मक सिद्ध नहीं किया है। मैस्केल और प्रैट को चाहिये था कि वे बाइबिल के उन सिद्धान्तों का भी उल्लेख करते जिनके आधार पर ईसाई कथनों को ऐतिहासिक तथा तथ्यात्मक नहीं मानकर उन्हें उद्बोधक एवं प्रतीकात्मक समझा जाता है। इस संदर्भ में प्रैट और मैस्केल को कैह्लर, बुल्तमान तथा पॉल तीलिख के मत को भी देना चाहिये था और ईसाई कथनों के प्रतीक-सिद्धान्त को भी स्पष्ट करना चाहिये था जिन्हें इन लोगों ने इस प्रसंग में स्पष्ट नहीं किया है। ब्रेथवेट के मत की आवृत्ति हेपबेर्ण ने की है जिसकी चर्चा बाद में की जायगी। यहाँ अब वान बुरेन के मत की चर्चा की जायगी जिसके अनुसार पारलौकिक सत्ता-विषयक कथनों को ऐहिकीकरण का उग्ररूप समझा जाता है।

पॉल वान बुरेन ईसाई धर्म-दार्शनिक और धर्म-शिक्षक हैं और ईसाई पारलौकिकता के ऐहिकीकरण में ऐहिकवादी बिशप जॉन रॉबिन्सन ने वान बुरेन के मत की बड़ी प्रशंसा की है। वान बुरेन दर्शन और धर्मदर्शन के विद्वान हैं और इन्होंने अपने मत को इसलिये प्रस्तुत किया है कि ऐहिकवादी ईसाई अपने धर्म को बिना पारलौकिक धर्म समझे ईसाई धर्म से अपने ऐहिक जीवन में लाभ उठा सकें। वान बुरेन अपने को ऐहिकवादी समझते हैं और इसी रूप में उन्होंने ईसाई धर्म में प्रयुक्त दंतकथाओं, प्रतीकों तथा पारलौकिक प्रत्ययों को ऐहिकीकरण के अनुरूप प्रयुक्त किया है। चूंकि वान बुरेन ने ईसाई धर्म दर्शन की भाषा को अपनी पुस्तक[२१] में व्यवहृत किया है, इसलिये इनके मत का केवल उतना ही विवेचन किया जायगा जितना धर्म दर्शन के लिये उपयुक्त माना जायगा। वान बुरेन के मत की चर्चा कई विचारकों ने[२२] विशेष रूप से की है, इसलिये वान बुरेन के मत को क्रान्तिकारी समझना चाहिये।

वान बुरेन समझते हैं कि वैज्ञानिक भाषा उन सभी प्रकार की भाषाओं का आदर्श रूप है जिसे समकालीन व्यक्ति समझ सकता है।[२३] वान बुरेन के अनुसार वर्तमान युगी का व्यक्ति अनुभववादी तथा व्यावहारिकवादी है[२४]। इस वर्तमानयुगीय दृष्टि के अनुसार पारलौकिक सत्ता सम्बन्धी कथनों को संज्ञानात्मक नहीं माना जा सकता है। वान बुरेन आई. टी. रामज़े के उद्घाटन-सिद्धान्त और हेयर के ब्लिक सिद्धान्त की मदद लेते हैं[२५] और बताते हैं कि ईसाई कथन दृष्टिमूलक हैं[२६]। दृष्टिमूलक-सिद्धान्त को आप सत्यापन-सिद्धान्त का संशोधित रूप समझते हैं और इस सिद्धान्त के अनुसार ईसाई कथन उस व्यापक दृष्टि का बोध कराते हैं जिसके अनुरूप विश्व, अन्य व्यक्तियों तथा अपने को देखा जाता है और जिसके अनु-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रूप उपयुक्त कार्यनीति को अपनाया जा सकता है[२६]। विश्व से तात्पर्य ऐहिक जीवन से है। इसलिये वान बुरेन धार्मिक दृष्टि को ऐहिक समझते हैं। फिर वे बतलाते हैं कि धार्मिक दृष्टि कार्यनीतिमूलक है, अर्थात् ईसाई धार्मिक कथनों के द्वारा बोध कराना चाहता है कि वह अन्य व्यक्तियों के प्रति किस प्रकार का व्यवहार करे और इस व्यवहार के द्वारा वह अपने को किस प्रकार इस विश्व और समाज में स्थिर कर पाये। इस सम्यग्दृष्टि को प्राप्त करने और इससे अनुप्राणित होने के लिये वह ईसा की शिक्षा, उसके जीवन और उसके निधन एवं जीवनोपरांत अवस्था को अनुकरणीय मानदण्ड समझता है। ईसा के इस जीवन, उसकी शिक्षा एवं निधन से उसे इस विश्व का रहस्य मालूम होने लगता है और ईसा की दृष्टि को अपनाकर वह समस्त विश्व को समझने लगता है। ईसा पूर्ण मानव थे तो उन्हें क्यों कोई विश्व की कुंजी माने और क्यों अपने जीवन को उस लीक पर चलाये? इस प्रश्न के उत्तर के लिये वान बुरेन आई. टी. रामज़े के उद्घाटन-सिद्धान्त की मदद लेते हैं।

रामज़े और बुरेन के अनुसार मानव इस विश्व और अपने जीवन को समझना चाहता है। यह समझना बुझौवल-चित्र में गुप्त आकृति और उसके गुह्य अर्थ को भाँपने के समान माना जा सकता है। बुझौवल-चित्र का अर्थ तभी स्पष्ट होता है जब हम इस चित्र को सही दृष्टिकोण से देखें। सही दृष्टि से देखने पर बुझौवल-चित्र का अर्थ एकाएक स्पष्ट होने लगता है। सही आकार उस बुझौवल-चित्र में पहले से ही था। केवल नवीन दृष्टि की आवश्यकता होती है। वान बुरेन इस बात को एक उदाहरण देकर स्पष्ट करते हैं। मान लिया जाय कि कोई व्यक्ति किसी लड़की को अनेक स्थानों पर देखता रहे और अनेक बार उस लड़की से मिल लेने के बाद एकाएक उसे आभासित हो कि वास्तव में वह लड़की उसके जीवन के लिये सर्वथा उपयुक्त है। तब वह लड़की एकाएक उस व्यक्ति के लिये प्रेमपात्र, सुन्दरी और अप्सरा दिखने लगती है। इस अमुक लड़की का सौन्दर्य और उसकी उपयुक्तता पहले भी थी, परन्तु जबतक उस व्यक्ति के अन्दर नयी दृष्टि नहीं उत्पन्न हुई तब तक उसका भान उस व्यक्ति को नहीं हुआ। इसी प्रकार ईसा ईसाइयों के लिये जीवन की कुंजी है। परन्तु जब ईसाई को ईसा जगत् के प्रकाश के रूप में, विश्व-रहस्य की कुंजी के रूप में उद्घाटित होता है तभी वह ईसा को जगत् के त्राणकर्त्ता के रूप में दिखाई देता है।

वान बुरेन ईसा को मुक्त मानव के रूप में मानव-जीवन के रहस्य की कुंजी मानते हैं। उन्होंने 'मुक्त' जीवन के स्वरूप को स्पष्ट नहीं किया है। उन्होंने बताया है कि मुक्त ज़ीवन वह है जो स्वयं सभी प्रकार की चिंताओं से रिक्त हो और अन्य सभी व्यक्तियों की चिंता को दूर करने के लिये, बिना भेद-भाव के, बिना प्रेम-घृणा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के सतत प्रयत्नशील हो[२७] और जो अन्य व्यक्तियों को अपने पड़ोसी के प्रति प्रेममय जीवन व्यतीत करने के लिये उत्प्रेरित करे[२८]।

इसमें संदेह नहीं कि वान बुरेन ईसाई धर्म को ऐहिकतावादी रूप देने में सफल हुए हैं। वे ईश्वर को ईसा के जीवन से भिन्न पारलौकिक सत्ता नहीं मानते हैं और फिर ईसा को पूर्णतया मानव मानते हैं। 'मुक्ति' का अर्थ भी वे समस्त मानव के प्रति प्रेम-व्यवहार को समझते हैं। ईसा को वे इस अर्थ में प्रभुओं का प्रभु मानते हैं कि ईसा के जीवन से समस्त जीवन तथा विश्व का रहस्य विश्वासियों के लिये स्पष्ट हो जाता है। फिर निस्संदेह वान बुरेन व्यक्तिगत धार्मिक अनुभूति और ईसा–ज्ञान को धार्मिक कथन की कसौटी मानते हैं। परन्तु अधिकांश ईसाई ईश्वर, कुंवारी जन्म, ईसा के मृत्यूत्तर जीवन, ईश्वर-सृष्टि इत्यादि के पारलौकिक प्रत्यय के बिना ईसाई धर्म की व्याख्या को सही नहीं मानते हैं। अतः वे वान बुरेन के ऐहिकीकरण को भ्रान्तिपूर्ण समझते हैं। यही बात प्रैट वान बुरेन के ऐहिकीकरण के संदर्भ में कहतें हैं। प्रैट मैस्केल के द्वारा की गई उन सभी आलोचनाओं को सही मानते हैं जिन्हें मैस्केल ने[२९] वान बुरेन के मत के सम्बन्ध में कहा है। लेकिन हमें भूल नहीं जाना चाहिये कि मैस्केल रूढ़िवादी विचारक हैं। वे ईसा को ईश्वर का पुत्र समझते हैं। वे मानते हैं कि ईसा ने एक बार ही समस्त मानवजाति के लिये त्राण का द्वार खोल दिया है। मैस्केल के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपने त्राण के लिये ईसा को अपना मुक्तिदाता मानना चाहिये और अपने पापों का पश्चात्ताप करना चाहिये। इस पाप-पुण्य के विचार में मैस्केल के लिये स्वर्ग-नरक की पारलौकिक सत्ता भी सत्य समझी जाती है।

मैस्केल की दृष्टि को अपने आधार में रखकर प्रैट वान बुरेन के उद्घाटन-सिद्धान्त को भ्रमपूर्ण देखते हैं। प्रैट जानना चाहते हैं कि क्या उद्घाटन अथवा बुझौवल-चित्र के सही आकृति को सहसा बूझना वस्तुनिष्ठा है या कोरा आत्मनिष्ठ ? इसमें संदेह नहीं कि वान बुरेन ने इस उद्घाटन-सिद्धान्त को रामज़े से प्राप्त किया है और रामज़े बताना चाहते हैं कि बुझौवल-चित्र के सही आधार का बूझना आत्मनिष्ठ और वस्तु-निष्ठ दोनों है। आकृति वास्तव में चित्र में रहती है, परन्तु इसे गोचर होने के लिये नवीन दृष्टि होनी चाहिये। इसलिये वान बुरेन के अनुसार ईसा के मुक्त-जीवन का उद्घाटन दृष्टि-परिवर्त्तन के साथ ही संभव हो सकता है और जिसे ईसा का मुक्त-जीवन उद्घाटित होता है वह बिना उससे अनुप्राणित हुए नहीं रह सकता है। उसके जीवन में शान्ति और स्थिरता चली आएगी। वह दूसरों के लिये जीयेगा और सभी चिंताओं से मुक्त रहेगा।

वान बुरेन के लिये ईसा के मुक्त जीवन का भान करना ईसाई के जीवन में ही सिद्ध-असिद्ध होता है। उदाहरणार्थ, पितर को अनुजीवित ईसा दिखाई दिया; इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जीवित ईसा के दिव्य दर्शन का मुख्य प्रमाण इसी में है कि कायर और डरपोक पितर में अदम्य उत्साह और साहस का संचार हुआ। पितर का परिवर्तित जीवन ही ईसा के दिव्य दर्शन का मुख्य प्रमाण है। इसमें संदेह नहीं कि यदि ईसा को प्रतीक माना जाय तो ईसा-दर्शन का परिवर्तित जीवन सच्ची गवाही अथवा विश्वसनीय साक्ष्य कहा जा सकता है। परन्तु प्रैंट समझते हैं कि अनुजीवित ईसा अभी भी वास्तविक हैं और इसलिये वे ईसा-सम्बन्धी कथन को तथ्यात्मक समझते हैं। अतः प्रैंट का कहना है कि वान बुरेन आत्मनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ के अन्तर को एकदम मिटा देते हैं। प्रैंट के अनुसार 'मैंने ईसा को देखा' और 'मैंने **ईसा को** देखा', इन दोनों वाक्यों में बहुत का अन्तर है। '**मुझे** ईसा दीख रहा है', यह आत्मनिष्ठ कथन है और यदि पितर के परिवर्तित जीवन से ही ईसा के अनुजीवन को सिद्ध माना जाय, तो इससे ईसा की वस्तु-निष्ठ सत्ता का कोई विशेष अर्थ नहीं निकलेगा (३१)। समीक्षक की दृष्टि से प्रैंट की आपत्ति निराधार है। ऐतिहासिक ईसा अभी जीवित नहीं है और वह ईसा जिसका जीवन मुक्त था और जो मुक्त-जीवन प्रदान करता है वह ईसा आस्था का विषय है। राम दशरथ के पुत्र के रूप में या सीता के पति के रूप में ऐतिहासिक माने जा सकते हैं। परन्तु पतित-पावन राम सर्वयुगी और सर्वकालीन समझे जायंगे और सर्व-कालीन सत्ता को ऐतिहासिक नहीं माना जा सकता है। इसलिये यदि ईसा वास्तव में मुक्तिदाता हैं तो ईसा को उस रूप में वास्तविक एवं ऐतिहासिक जीव नहीं समझा जा सकता है।

प्रैंट की दूसरी आपत्ति भी निराधार है। प्रैंट के अनुसार वान बुरेन ने ईसा के मुक्त जीवन की व्याख्या नहीं की है। अंग्रेज़ी के शब्द 'फ्री' को वान बुरेन ने काम में लिया है और इसका सही अर्थ मुक्त होगा। परन्तु प्रैंट 'फ्री' को 'इच्छा-स्वातंत्र्य' के अर्थ में प्रयुक्त करते हैं। इस इच्छा-स्वातंत्र्य के अर्थ में किसी को स्वतंत्र तब समझा जाता है जब दो या दो से अधिक विकल्पों के होने की संभावना रहती है, या जहां किसी प्रकार के दबाव का अभाव रहता है। परन्तु ईसा को 'फ्री' इस अर्थ में कौन समझ सकता है ? (३१)। इस अर्थ में तो सभी व्यक्ति स्वतन्त्र हैं। इसमें ईसा के स्वतन्त्र होने की कोई विशेष बात नहीं समझी जा सकती है। परन्तु यह प्रैंट की भूल है। यह ठीक है कि वान बुरेन ने 'मुक्त' के स्वरूप को स्पष्ट नहीं किया है। परन्तु उनके वे उदाहरण जिनके द्वारा मुक्त जीवन को समझा जाता है एकदम स्पष्ट हैं।

एक रूप में पारलौकिक सत्ता का ऐहिकीकरण करने वान बुरेन ने ईश्वर-विलयन अथवा ईश्वर-निधन-सिद्धान्त में योगदान अवश्य किया है। परन्तु ऐहिकता के अभावात्मक पक्ष को ईश्वर-निधन-सिद्धान्त कहा गया है और वह सिद्धान्त भी ऐहिकतावाद का प्रमुख अंग है और प्रैंट ने इसकी भी चर्चा की है।

ऐहिकतावादी निरीश्वरवाद दार्शनिक और तत्वमीमांसात्मक युक्तियों से नहीं उत्पन्न हुआ है। इसका मुख्य आधार अनुभववाद है जो विज्ञानवाद से पुष्ट हुआ है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जो कुछ मानव की सार्वजनिक,आवृत्ति-संभव तथा संज्ञाप्य अनुभूति के आधार पर खरा नहीं उतरे उसे अनुभववाद के अनुसार निश्चित तथ्य नहीं समझा जाता है। चूंकि ईश्वर अतीन्द्रिय सत्ता समझा जाता है इसलिये समकालीन अनुभववाद के अनुसार ईश्वर को वास्तविक नहीं माना जाता है। ऐहिकतावादी निरीश्वरवाद सांस्कृतिक तथा मनोवैज्ञानिक कहा जाता है क्योंकि यहाँ समकालीन परिस्थिति में ईश्वर की आवश्यकता किसी भी व्यक्ति को मालूम नहीं देती है। समकालीन ऐहिकतावादी की दृष्टि ही ऐसी बदल गयी है कि उसे अब ईश्वर अनुभवगम्य नहीं मालूम देता है। मानव की इस सांस्कृतिक और मनोवैज्ञानिक अक्षमता के कारण अब ईश्वर का लोगों को भान नहीं होता है और इसलिए स्थिति को ईश्वर-निधन कहा जाता है, अर्थात् मानव की दृष्टि से ईश्वर का सदा के लिये ओझल हो जाना।

हार्वे कौक्स तथा वान बुरेन ने ऐहिकता के पक्ष पर बल दिया है। इन दोनों ने ईश्वर को ऐहिक रूप में स्पष्ट करने का प्रयास किया है। वान बुरेन ईसा को मानव-इतिहास और समकालीन व्यक्ति का केन्द्रीय मूल्य और कुंजी मानते हैं। परन्तु वे भूल जाते हैं कि स्वयं ईसा का जीवन, उसकी शिक्षा और मृत्यु बिना पारलौकिक ईश्वर को स्वीकार किये हुए स्पष्ट नहीं की जा सकती है। जो ईसा को माने और ईश्वर को न माने, जिस पर ईसा की अगाध आस्था थी, तो इस स्थिति को अयुक्तिपूर्ण कहा जायगा। अतः, वान बुरेन ईसा को जीवन का तबतक सहारा नहीं मान सकते हैं जबतक स्वयं ईसा के मूल आश्रय ईश्वर की वास्तविकता को वे स्वीकार नहीं करें। हार्वे कौक्स के लिये ईश्वर का परम्परागत प्रत्यय वर्त्तमान युग के व्यक्ति के लिये अनुपयुक्त है। परन्तु वे आशा रखते हैं कि निकट भविष्य में ईश्वर की ऐसी धारणा स्थिर हो पायेगी जो ऐहिकवादी व्यक्तियों को मान्य होगी। ईश्वर-निधन के प्रसंग में अल्टाईज़र और हैमिल्टन की रचनाओं को प्रमुख स्थान दिया जाता है[३०]। अल्टाईज़र ने ईश्वर के अस्तित्व को पूर्णतया नकारा है। उनका कहना है कि ईश्वर न तो गुह्य है, न वह घट-घटवासी है, न वह मानव के अचेतन में है और न कहीं सुदूर अन्तरिक्ष में विद्यमान है। अल्टाईज़र के अनुसार समकालीन ईसाई के लिये ईश्वर सदा के लिये मर चुका है और उसे दफना दिया गया है (३२-३३)। इसी प्रकार हैमिल्टन का कहना है कि[३१] वास्तव में ईश्वर की मृत्यु अक्षरशः सत्य है। यह ईश्वर, जिसकी मृत्यु हुई है, वह कोई देवी-देवता नहीं है। वह परमेश्वर और ईसाइयों का महान ईश्वर है। "ईश्वर की मृत्यु" से ध्वनित होता है कि ईश्वर में अब लोगों को आस्था नहीं हो सकती है,—ईश्वर अब लोगों को नहीं मिल सकता है। ईश्वर की अप्राप्ति कुछ चित्तरोग की ही बात नहीं है। ईश्वर-निधन अनेक व्यक्तियों के लिये सामान्य और सार्वजनिक घटना है।

परन्तु यद्यपि अल्टाईज़र और हैमिल्टन ईश्वर-निधन की बात करते हैं, उनके लिये ईश्वर-निधन ईसा की पूजा है और वह ईसा जिसकी वे पूजा करते हैं वह यह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संसार है, व्यक्तियों का पड़ोसी है। ईसा के प्रति आस्था और सेवा संसार की और मानवों की निःस्वार्थ सेवा है[३२]। इसी प्रकार अल्टाईज़र के अनुसार ईसा सर्वव्यापक मानवता है[३३]। अल्टाईज़र हैमिल्टन की अपेक्षा रहस्यवादी हैं और वे लौकिक को ही पवित्रता से मंडित कर उसे ईश्वरत्व की संज्ञा देते हैं[३४] इनके लिये मानवता ही ईश्वर है। इनके लिये पारलौकिक तथा अतीत ईश्वर का तो निधन अवश्य हुआ है, परन्तु स्वयं लौकिकता ही पवित्र महान है। अल्टाईज़र की आशा है कि इस लौकिकता को लोग पवित्र पाकर एक नयी दृष्टि प्राप्त करेंगे जिसके द्वारा वर्तमान स्थिति में वे पुरातन के ईश्वर को परिवर्तित प्रकाश में देखेंगे (३३)। इसी प्रकार हैमिल्टन के अनुसार ईश्वर-निधन अथवा ईश्वरविहीनता का अर्थ है कि हम उसके विषय में नयी भाषा और शैली में संगोष्ठी करें और इस रूप में फिर उसकी उपस्थिति का भान कर आह्लादित हों[३५]। इन युक्तियों के कारण प्रैट समझते हैं कि (३४) अल्टाईज़र और हैमिल्टन के ईश्वर-निधन का सिद्धान्त छिछला है। वास्तव में, प्रैट के अनुसार, उनकी भाषा में ईसाइयत की बू अभी भी शेष है। शायद प्रैट की आलोचना में बल अवश्य दिखाई देता है।

अल्टाईज़र, हैमिल्टन, वहनियन, कौक्स इत्यादि ऐसे ईसाई विचारक हैं जिनकी शिक्षा-दीक्षा ईसाई धर्म में हुई है। उन्होंने ईश्वर को परम्परागत रूप से अनुभूत भी किया है। परन्तु ऐहिकवादी दृष्टि के हो जाने पर उनके संस्कार का ईश्वर अब उनसे ओझल हो गया है। जिस प्रकार प्रिय पिता का निधन आजीवन अचेतन रूप से विस्मृत नहीं होता और उसकी याद बेचैनी पहुंचाती रहती है, उसी प्रकार अल्टाईज़र और हैमिल्टन भी नित्य इसी प्रतीक्षा में हैं कि उनका मृत ईश्वर फिर जी उठेगा और उन्हें दिखाई देगा। अतः इनके लिये ईश्वर-निधन तो अवश्य हो गया है परन्तु उसकी याद उन्हें अभी भी सता रही है। यह बात जॉन विज़डम में नहीं पायी जाती है क्योंकि उनका संस्कार दार्शनिक का है, न कि धार्मिक व्यक्ति का।

जॉन विज़डम विट्गिंस्टाईन की पद्धति के मानने वाले दार्शनिकों में प्रतिष्ठित विचारक हैं और **गॉड्स** नामक लेख लिखकर इन्होंने धर्म-दर्शन में विशेष क्रान्ति उत्पन्न की है।[३६] विज़डम के अनुसार ईश्वर-सम्बन्धी कथन का असली निर्देश इस विश्व की ओर है, न कि पारलौकिकता की ओर। असाक्षात् रूप से ईश्वर सम्बन्धी कथन इस विश्व की अप्रयोगात्मक घटनाओं का उल्लेख करते हैं। इस प्रकार की घटनाएँ वकालत–खानों और सौन्दर्य सम्बन्धी कथनों में उल्लिखित होती हैं। जज के समक्ष अभियोगकर्त्ता और प्रतिरक्षाकर्त्ता, दोनों प्रकार के वकील बहस प्रस्तुत करते हैं। दोनों प्रकार के वकील उसी घटना का हवाला देते हैं जो उन दोनों को समान रूप से ज्ञात है। इस स्थिति में कोई ऐसी बात नहीं रह जाती है जिसकी जांच की आवश्यकता होती है। यहां मुख्य समस्या निर्णय लेने की होती है, मामले को अप–

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राध माना जाय या दोषी को निर्दोष समझा जाय ! यहां लेबल लगाने की ही आवश्यकता होती है ।

इसी कानूनी प्रश्न के समान ईश्वरवादी तथा निरीश्वरवादी की समस्या है । यह विश्व एक ही है और इस विश्व में जितनी घटनाएँ ईश्वरवादी को ज्ञात हैं वे सब निरीश्वरवादी को ज्ञात हैं । तो भी ईश्वरवादी इन सब घटनाओं को इस प्रकार व्यवस्थित करता है कि इन घटनाओं से एक बुद्धिमान कर्त्ता का बोध हो सके । ठीक इसके विपरीत निरीश्वरवादी इन्हीं सब घटनाओं को इस प्रकार व्यवस्थित करता है कि इस व्यवस्था से स्पष्ट हो जाय कि यह बुद्धि के द्वारा रचित नहीं हुई हैं । मुख्य बात है कि विज़डम मानते हैं कि इस प्रकार के प्रश्न का समाधान हो सकता है । एक निर्णय को सही और उसके विपरीत निर्णय को ग़लत करार दिया जा सकता है । अतः, ईश्वर-सम्बन्धी कथनों को सही या ग़लत समझा जा सकता है (३४–३५) । ईश्वर-सम्बन्धी कथनों का निर्देश सम्पूर्ण विश्व की ओर होता है और यदि इस विश्व की घटनाओं को समुचित रीति से व्यवस्थित कर सिद्ध कर दिया जाय कि यह विश्व बुद्धिमान आत्मा की रचना है तो इस प्रकार की युक्ति के आधार पर इस विश्व को सृष्टि की संज्ञा दी जा सकती है । यदि विश्व-व्यवस्था से, मानव और पशु-व्यवहार से यह स्पष्ट हो जाय कि इनमें उसी प्रकार की व्यवस्था परिलक्षित है जो केवल सर्वोत्कृष्ट आत्मा से ही संभव हो सकती है, तो इस विश्व-पैटर्न को ईश्वर-बोधक स्वीकार किया जा सकता है । दूसरे शब्दों में, जिस प्रकार अन्य व्यक्तियों के व्यवहार से अन्य व्यक्तिव का बोध होता है उसी प्रकार विश्व, पशु तथा मानव की प्रक्रियाओं से सर्वोच्च व्यक्तित्व का बोध हो सकता है । (३६)

प्रैट की यहां आलोचना सबल मालूम देती है । प्रैट का कहना है कि अदर माइंड (अन्य व्यक्तित्व) के बोध करने के लिये किसी भी निश्चित लक्षण को नहीं निर्धारित किया जा सका है और प्रैट बताते हैं कि स्वयं विज़डम भी अन्य व्यक्तित्वपूर्ण आत्मा के ज्ञान-निरूपण की कठिनाइयों से पूर्णतया परिचित हैं । यदि व्यक्तित्व-निर्धारण स्वयं ही विवादास्पद हो तो व्यक्तित्व-ज्ञान को ईश्वर-ज्ञान का कैसे मानदंड माना जा सकता है ? किसी अनिश्चित मानदंड के आधार पर निश्चित ज्ञान नहीं प्राप्त किया जा सकता है । (३७) फिर फिलिप्स और विंच ने भी विज़डम के मत की आलोचना की है, जिन आलोचनाओं की उपयुक्तता को स्वयं प्रैट नहीं स्वीकार करते हैं । फिलिप्स और विंच दोनों नव-विट्गिंस्टाइनवादी हैं और ये केवल प्रयोग–सिद्धान्त के ही आधार पर कथनों का अर्थ निरूपित करते हैं ।

फिलिप्स का कहना है[३७] कि विज़डम के अनुसार धार्मिक कथन उचित-अनुचित हो सकते हैं और जो कथन उचित-अनुचित कहे जांय उन्हें तथ्यात्मक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

माना जा सकता है। अतः, चूंकि विज़डम के अनुसार धार्मिक कथनों के औचित्य-अनौचित्य का समर्थन हो सकता है इसलिये फिलिप्स के अनुसार विज़डम स्वीकार करते हैं कि धार्मिक कथन तथ्यात्मक होते हैं। इसके विपरीत फिलिप्स के अनुसार धार्मिक कथनों को न तो सौंदर्यात्मक कहा जा सकता है न नैतिक और तथ्यात्मक कहा जा सकता है। धार्मिक अभिकथन अनुपम, अनूठे तथा स्वजातीय (सूई जेनेरिस) कहे जा सकते हैं और इन्हें जांचने की स्वजातीय धार्मिक कसौटी होती है (४०)। उदाहरणार्थ, कीर्केगोर्द ने बताया है कि यदि बाइबिल के अनुसार एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के अपराध को क्षमा करेगा तो ईश्वर-पिता भी क्षमा करने वाले का पाप क्षमा करेगा। अतः, कीर्केगोर्द के अनुसार अन्य व्यक्तियों के अपराध को क्षमा करना वास्तव में अपने ही अपराध को क्षमा करने के बराबर ही समझा जायगा। फिलिप्स का कहना है कि 'अन्य व्यक्तियों के अपराध को क्षमा करना ही अपराध को क्षमा करना है' धार्मिक कथन है और इसकी कसौटी स्वजातीय है, जिसे न तो तथ्यात्मकता की, न नीति की और न सौन्दर्यात्मकता की तथा किसी अन्य कसौटी के अनुरुप समझा जा सकता है (४०-४१)। यहां फिलिप्स के मत की आलोचना करते हुए प्रैंट ने बताया है कि सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि हम धार्मिकता की ही कसौटी निर्धारित नहीं कर पाते हैं। हम यह भी निश्चित नहीं कर पाये हैं कि किस व्यवहार को 'धार्मिक' संज्ञा दी जा सकती है (४०)। फिलिप्स के मत के संवर्धन के रूप में विंच ने विज़डम के मत की आलोचना की है और विंच के मत की आलोचना प्रैंट ने की है।

विंच [३८] भी फिलिप्स के समान धार्मिक भाषा को स्वजातीय तथा स्वायत्त मानते हैं। इन्होंने अपने मत को समाजविज्ञान के आधार पर व्यक्त किया है। इनका कहना है कि प्रत्येक संस्कृति को (जिसमें विज्ञान, कला, धर्म इत्यादि को गिना जा सकता है) अमुक एवं विशिष्ट जीवन-शैली से प्रभावित समझना चाहिये और प्रत्येक सांस्कृतिक शैली को स्वायत्त स्वीकार करना चाहिये। उदाहरणार्थ, आदिम जातियों की विचारधारा को उनकी अपनी विशिष्ट कसौटी के द्वारा समझना चाहिये और इस विशिष्ट कसौटी को उनके व्यवहार के अध्ययन के ही द्वारा निरूपित किया जा सकता है। विंच के अनुसार आदिम जातियों के विचार को वैज्ञानिक कसौटी के आधार पर आंकना अयुक्तिसंगत है, अर्थात् उन विचारों के अर्थनिरूपण और स्पष्टीकरण के लिये आदिम जातियों की जीवन-शैली की मदद लेनी चाहिये।

यह ठीक है कि आदिम जातियों में जादू-टोना, तंत्र-मंत्र, माना-शक्ति इत्यादि के विचारों से ओतप्रोत जीवन-शैली देखने में आती है। इसकी तुलना में वर्तमानयुगी सभ्यता को वैज्ञानिक अथवा विज्ञानपोषित कहा जायगा। वैज्ञानिक कसौटी के आधार पर तांत्रिक कथनों को अर्थहीन नहीं ठहराया जा सकता है। अब विंच का कहना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है कि जो बात जीवन–शैलियों के संदर्भ में लागू होती है वही बात किसी भी संस्कृति के विभिन्न पक्षों में लागू होती है। धार्मिक कथन वैज्ञानिक कथनों से सर्वथा भिन्न हैं और इसलिये वैज्ञानिक परम्परा पर आधारित सत्यापन-असत्यापन सिद्धान्त के द्वारा धार्मिक कथनों का अर्थ नहीं निरूपित किया जा सकता है (४१)।

प्रैट विंच के मत को नहीं स्वीकार करते हैं। प्रैट के अनुसार जीवनशैली का सम्बन्ध किसी सभ्यता विशेष के अन्तर्गत सभी सांस्कृतिक विभागों से रहता है। जिस स्वायत्तता की बात जीवनशैली के प्रसंग में सही मानी जा सकती है उस स्वायत्तता की बात विभिन्न सांस्कृतिक पक्षों के संदर्भ में नहीं उठायी जा सकती है। वर्तमानयुगी पाश्चात्य सभ्यता में वैज्ञानिक कसौटी से सभी सांस्कृतिक क्रिया-कलाप ओतप्रोत हैं और जो कथन इस वैज्ञानिक कसौटी के द्वारा खरा नहीं उतरता है, उसे अमान्य समझा जाता है। उदाहरणार्थ, ईश्वर सम्बन्धी कथन में ईश्वर को सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, न्यायप्रिय, शुभ इत्यादि बताया जाता है। प्रैट का कहना है कि इन्हें हम वैज्ञानिक सभ्यता के व्यवहृत अर्थों में ही धार्मिक कथनों में इन शब्दों का उपयोग करते हैं। अतः धार्मिक अभिकथनों को अन्य सांस्कृतिक पक्षों के (जिसमें विज्ञान भी सम्मिलित है) कथनों से अलग कर इसके अर्थ-निरूपण की कसौटी को स्वायत्त तथा स्वजातीय नहीं पुकार सकते हैं(४२–४३)। परन्तु प्रैट की इस आपत्ति के संदर्भ में एक प्रश्न किया जा सकता है। क्या धर्म को सम्पूर्ण जीवन-शैली नहीं समझा जाता है? क्या धर्म को भी विज्ञान, चित्रकारी, खेती इत्यादि के समान जीवन का एक क्षेत्र विशेष माना जा सकता है?

अभी तक धर्म को सम्पूर्णात्मक व्यापार माना जाता था। परन्तु प्रैट का कहना है कि कम से कम एक ईसाई का धर्म अब उसके जीवन के एक सीमित क्षेत्र में ही सन्निहित रहता है (४५)। समीक्षक के मत में प्रैट का कथन सामाजिक दृष्टि से सही अध्ययन कहा जायगा, परन्तु इसे धर्मदर्शन की दृष्टि से असंतोषजनक समझा जायगा। धर्म समष्टिपूर्ण व्यवहार है। चूंकि बॉन होयफर तथा बिशप रॉबिन्सन देख रहे हैं कि ईसाई धर्म जीवन का सम्पूर्ण व्यवहार नहीं रह गया है इसलिये वे धर्म को फिर व्यापक और सम्पूर्ण जीवन का मानदंड बनाने के लिये ईसाई धर्म को ऐहिकतावादी बना रहे हैं। यदि प्रैट समझते हैं कि विज्ञान से ही पाश्चात्य सभ्यता ओतप्रोत है तो प्रैट को संगत रूप से मानना चाहिये कि ईसाई धर्म नहीं, वरन् विज्ञान ही पाश्चात्य ऐहिकवादी का वर्तमानयुगीन धर्म है। यह बात पेल्ट्स[३९] और बिशप रॉबिन्सन[४०] की रचनाओं से स्पष्ट हो जाती है।

वर्नर और लौत, पति-पत्नि ने मिलकर दर्शन नहीं वरन् धार्मिक गद्य-काव्य की रचना की है। पेल्ट्स के अनुसार स्वर्ग, ईश्वर, स्वर्गपिता इत्यादि शब्दों को पारलौकिक रूप और अर्थ में नहीं प्रयुक्त करना चाहिये। वास्तव में इन शब्दों के द्वारा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ईसा इस जीवन और ऐहिक समस्याओं की ओर संकेत करता था। 'स्वर्ग के राज्य' से तात्पर्य है इस जीवन से, जिसमें हम अपने पड़ोसियों के प्रति प्रयत्नशील होते हैं। यह ठीक है कि ईसा के शब्द उनकी प्रचलित पारलौकिक भाषा में थे, परन्तु इन वचनों के द्वारा ईसा अपने युग के लोगों को अनुप्राणित करना चाहता था कि वे इस जीवन को सार्थक रूप से बिताएं। सार्थक जीवन वह है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपने को और अपने पड़ोसी को एक रहस्यपूर्ण तथा सुदूर उद्देश्य की प्राप्ति के संदर्भ में देखे (४७)।

परन्तु प्रैट का कहना है कि यदि ईसा के शब्द वास्तव में ऐहिक थे तो ईसा की मृत्यु इस जीवन की आशा पर पानी उँडेल देती है (४६)। स्वयं पेल्ट्स प्रैट की आलोचना को स्वीकार नहीं करेंगे क्योंकि उनके अनुसार ईसा की मृत्यु से जीवन में नयी आशा का संचार होता है। पेल्ट्स ऐहिकतावादी नहीं हैं क्योंकि उनके लिये जीवन में अज्ञात और अनर्गल अस्तित्व का आह्वान महत्वपूर्ण मानव-निधि है।[४१] शायद यही बात बिशप रॉबिन्सन की रचना के सम्बन्ध में कही जा सकती है।

प्रैट ने रॉबिम्सन के मत की अत्यन्त संक्षेप में व्याख्या की है। परन्तु बिशप रॉबिन्सन की रचना का मुख्य उद्देश्य यही था कि ईसाई धर्म के सही संदेश को ऐहिकतावाद के रूप में समझा जाय। बिशप साहिब चाहते हैं कि ईसाइयों के ध्यान में ऐहिकवादी जीवन को लाया जाय। इनका कहना है कि ईसाई धर्म पारलौकिकवादी धर्म नहीं है। वे दो बातों पर बराबर रूप में बल देते हैं। प्रथम, जीवन की अपनी आन्तरिक गहराई है,—इस जीवन में पवित्रता और शुचित्व का बहुत बड़ा स्थान है। साथ ही साथ बिशप साहिब यह भी बताते आये हैं कि पवित्र महान को ऐहिक जीवन की सभी समस्याओं के समाधान में देखना चाहिये[४२]। बिशप साहेब के अनुसार ईश्वर-सम्बन्धी कथन वास्तव में ऐहिक जीवन के लिये हैं जिस जीवन में मानव की अन्तिम गहनता सन्निहित है। इन धार्मिक कथनों का कार्य है कि वे विश्व और मानव-व्यवहार को उनकी अन्तिम गहराई में स्पष्टता के साथ निश्चित रूप से देखें। अतः, बिशप रॉबिन्सन ऐहिकतावादी नहीं हैं, परन्तु वे ऐहिक जीवन की समस्याओं की ओर सम्पूर्णतया ध्यानस्थ हैं। परन्तु प्रश्न उठता है कि हम क्यों पेल्ट्स तथा बिशप रॉबिन्सन के धार्मिक कथनों की व्याख्या को सही मानें? अभी तक ईश्वर तथा ईसा-सम्बन्धी कथनों को पारलौकिक रूप में स्पष्ट किया जाता था तो अब क्यों पारलौकिक निर्देशिता को छोड़कर हम इन कथनों को ऐहिक समझें? यही बात वान बुरेन तथा हार्वे कौक्स के अर्थनिरूपण के सम्बन्ध में कही जा सकती है। क्या कोई नित्य तथा शाश्वत ईसाई संवाद है जिसे प्रत्येक युग में ईसाई धर्मविचारक अपने समय की भाषा में स्पष्ट करते आये हैं? उदाहरणार्थ वान बुरेन और पेल्ट्स बताते हैं कि ईसा का युग था जिसमें पारलौकिकता को विशेष प्रश्रय दिया जाता था और ईसा को अपने शाश्वत संदेश को अपने युग की पारलौकिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाषा में व्यक्त करना पड़ा (५०)। यहां बताया जाता है कि ईसाई धर्म का सार तत्व अपरिवर्तनशील है, परन्तु इस शाश्वत तत्व का प्रतिपादन अपने युग की परिवर्तनशील भाषा में ही संभव हो सकता है। ऐसा मान लेने से दो बातें स्पष्ट होती हैं।

(क) इस वर्तमान युग का ऐहिकतावादी अर्थनिरूपण भी अस्थायी और कामचलाऊ है।

(ख) ईसाई धर्म का सारतत्त्व नित्य और स्थायी है, पर इसका सूत्रीकरण कभी भी स्थायी रूप नहीं धारण कर सकता है।

शायद (क) को सभी समकालीन धर्म-दार्शनिक स्वीकार करेंगे। परन्तु (ख) के ही सम्बन्ध में मतभेद हो सकता है। यदि धर्म का सारतत्व स्थायी हो, परन्तु जिसका कभी भी शब्दों के द्वारा स्थायी प्रतिपादन नहीं हो, तो इस अव्यक्त तथा वर्णनातीत सारतत्त्व के सम्बन्ध में कुछ भी निश्चित रूप से कहीं कहा जा सकता है। हम केवल अस्थायी वस्तुओं को ही जान सकते हैं। इस प्रसंग में मैस्केल ने ईसाई धर्म के स्थायी सारतत्त्व को जानने का उपाय बताया है। सबसे पहले, विचारक को चाहिये कि वह ईसाई परम्परा के प्रति आस्था रखे और तब अपनी आलोचना-मय दृष्टि के आधार पर इस स्थायी सारतत्व को प्रतिपादित करने की कोशिश करे। परन्तु मैस्केल स्वीकार करते हैं कि सबसे अधिक प्रामाणिक ईसाई सत्यता भी मानव के शब्दों में निर्भ्रान्त रूप में ही व्यक्त की जा सकती है। अतः मैस्केल के अनुसार ईसाई धर्म का शाश्वत एवं मूल तत्व ईसा के मस्तिष्क में पूर्ण रूप में प्रतिपादित माना जायगा। क्या ग्रैंट मैस्केल के इस मत को स्वीकार करते हैं ?

ग्रैंट के अनुसार मैस्केल ने शब्दों का केवल जाल रचा है। 'ईसाई परम्परा' के दो अर्थ छद्म रूप में बताये गये हैं। सर्वप्रथम, ईसाई परम्परा से तात्पर्य होता है उस रचना से जिसे प्रारंभ से लेकर अबतक ईसाई धर्मदार्शनिकों ने संरक्षित रखा है। इस परम्परा को मैस्केल उपयोगी मानते हुये भी निर्भ्रान्त नहीं मानते हैं। तब 'ईसाई परम्परा' का दूसरा अर्थ लगाते हैं, अर्थात् ईसाई धर्म का सारतत्व जो ईसा के मस्तिष्क में (मन में) निर्भ्रान्त रूप में प्रतिपादित है। परन्तु जो बात ईसा के मन में है, उसे कौन जान सकता है ? अतः इस स्थायी सारतत्त्व तथा उसके निर्भ्रान्त प्रतिपादन को अज्ञात और अज्ञेय ही माना जायगा (५३)।

अब यदि परम्परावादी मैस्केल भी सही अर्थनिरूपण की समस्या का समाधान नहीं कर सकते हैं तो वान बुरेन तथा हार्वे कौक्स के द्वारा किये गये ईसाई धर्म के अर्थ-निरूपण को कैसे सही माना जाय ? अतः धर्म के ऐहिकीकरण तथा उससे उत्पन्न ईसाई धर्म के अर्थ-निरूपण की कोई सही कसौटी नहीं स्वीकार की जा सकती है (५४)। परन्तु

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यदि ऐहिकता को स्वीकार कर लिया जाय तो क्या मानव-जीवन बिना पारलौकिक सत्ता के सार्थक हो सकता है? यह ग्रैट की पुस्तक का तीसरा और अन्तिम अध्याय है।

बिना पारलौकिक सत्ता के सार्थक जीवन की सम्भावना

हेपबर्ण[४३] उन विचारकों में हैं जो सोचते हैं कि बिना पारलौकिक शक्तियों में विश्वास रखे हुए व्यक्ति को धार्मिक अनुभूति और उसका आनन्द प्राप्त हो सकता है। इसलिये हैपबर्ण 'धार्मिक अभिवृत्ति' को स्पष्ट कर अपने मत की व्याख्या करते हैं (५५-५६)। हैपबर्ण का मत ब्रेथवेट के समान ही है। हैपबर्ण के अनुसार धार्मिक अभिवृत्ति के तीन मुख्य लक्षण हैं:

1. धार्मिक व्यक्ति वह है जो किसी नैतिक व्यवहार शैली को अपनाता है और उसे वह अपना अन्तिम नैतिक चयन समझता है।
2. फिर धार्मिक नैतिक कार्यनीति और शुद्ध नैतिकता में यह अन्तर है कि धार्मिक कार्यनीति व्यवस्थित दंतकथाओं तथा दृष्टान्तों से अनुप्राणित होकर संचालित होती है।
3. धार्मिक कार्यनीति जीवन के किसी विभाग या क्षेत्र विशेष में ही सीमित न रहकर धार्मिक व्यक्ति की सभी कार्यवाहियों को ओतप्रोत किये रहती है (५६)।

हैपबर्ण के अनुसार ये तीनों लक्षण उन व्यक्तियों की अभिवृत्ति में भी संभव हो सकते हैं जिनका पारलौकिक शक्ति में विश्वास नहीं होता है। इस सन्दर्भ में हेपबर्ण दो बातों का उल्लेख करते हैं। सर्वप्रथम, निरीश्वरवादी परम्परागत धार्मिक कहानियों को छोड़कर अन्य कथाओं से अनुप्रेरणा प्राप्त कर सकता है और इस युग में अनेक उपन्यास, कविता तथा साहित्य हैं जिनसे वह उन आदर्शों को प्राप्त कर सकता है जिनसे उसे अपनी कार्यनीति के सम्पादन में अनुप्रेरणा प्राप्त हो सकती है (५६)। फिर, हेपबर्ण के अनुसार, यदि निरीश्वरवादी व्यक्ति प्रकृति को व्यक्तित्वपूर्णवत् समझे तो प्रकृति के द्वारा निरीश्वरवादी में अर्धधार्मिक अनुभूति का संचार हो सकता है (६३)। परन्तु इस प्रसंग में 'धार्मिक' अनुभूति की भी व्याख्या होनी चाहिये।

ऑटो ने[४४] धार्मिक अनुभूति को 'न्यूमिबरा' कहा है और बताया है कि यह अनुपम स्वजातीय अनुभूति होती है जिसे स्पष्ट प्रत्ययों के आधार पर सुबोध नहीं किया जा सकता है। इसे उन्होंने अबुद्धिपरक माना है और बताया है कि शुद्ध धार्मिक अनुभूति में आश्चर्य, विस्मय, चकितभाव तथा अद्भुत भय का संचार होता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। धार्मिक व्यक्ति में विवशता तथा विह्वलता का भाव होता है। स्वयं औटो ने माना है कि इस रहस्यमय महान की अनुभूति में पारलौकिक सत्ता की ओर निर्देश रहता है। परन्तु हेपबर्ण के अनुसार शुद्ध धार्मिक अनुभूति एक प्रक्रिया है। परन्तु यह प्रक्रिया पारलौकिक शक्ति से उत्पन्न होती है या किसी अन्य प्राकृतिक शक्ति से उद्भूत होती है, यह सब अर्थनिरूपण और अनुभूति की व्याख्या करने के लिए सिद्धांत बनाया गया है (६३)। इसलिए हेपबर्ण के अनुसार शुद्ध धार्मिक अनुभूति बिना किसी पारलौकिक सत्ता को स्वीकार किये हुए संभव हो सकती है।

प्रैट हेपबर्ण के मत को स्वीकार नहीं करते हैं। सर्वप्रथम, प्रैट का कहना है कि यदि किसी कार्यनीति को अन्तिम निर्णय के रूप में स्वीकार करने को 'धर्म' संज्ञा दी जाय और इस नैतिक कार्यनीति को मनोवैज्ञानिक रूप से अनुप्रेरित करने के लिये किसी भी प्रकार की दंतकथाओं तथा दृष्टान्तों की व्याख्या से मदद ली जाय, तो साम्यवाद तथा अस्तित्ववाद को भी 'धर्म' संज्ञा देनी पड़ेगी। परन्तु प्रैट के अनुसार यह अनुचित होगा। इसका कारण है कि साम्यवाद और अस्तित्ववाद के कुछ प्रकारों में परम्परागत धर्मों की आलोचना करके धार्मिक विचारों से ऊपर उठने की सलाह दी जाती है। अब वे विचारधाराएं जो धर्मों को नहीं स्वीकार करती हैं, उन्हें किस प्रकार 'धर्म' संज्ञा दी जाय? कम से कम प्रैट का कहना है कि स्वयं साम्यवादी साम्यवाद को 'धर्म' नहीं पुकारते हैं (५७)।

समीक्षक की दृष्टि में प्रैट की आलोचना अवास्तविक है। साम्यवाद को परम्परागत 'धर्म' नहीं कहा जा सकता है, पर इससे यह सिद्ध नहीं होता है कि विचार-क्रांति के संदर्भ में साम्यवाद को 'धर्म' नहीं माना जा सकता है। वास्तव में साम्यवाद को अनेक विचारकों ने धर्म की संज्ञा दी है। न तो भौतिकवाद को दर्शन के ही स्तर पर स्वीकार किया जा सकता है और न इसकी द्वन्द्वात्मक विधि को ही वैज्ञानिक माना जा सकता है, तो फिर इस भौतिकवाद को अतर्कबुद्धिपरक सम्पूर्णात्मक धार्मिक व्यवहार क्यों नहीं माना जाय? साम्यवाद को परम्परागत धर्म नहीं कहा जायगा, परन्तु समकालीन युग का यह महत्वपूर्ण धर्म है जिससे लाखों व्यक्ति अनुप्रेरणा प्राप्त कर रहे हैं। यह मानवतावादी तथा ऐहिकतावादी धर्म है। प्रैट प्रभृति पाश्चात्य विचारक बिना ईश्वर की उपासना के किसी भी मत को 'धर्म' संज्ञा देने के लिए तैयार नहीं हैं। चूंकि साम्यवाद में ईश्वर का स्थान नहीं है, इसलिये वे साम्यवाद को धर्म मानने के लिये तैयार नहीं हैं। यह प्रैट का हठवाद है।

प्रैट की दूसरी आलोचना है कि हेपबर्ण की परिभाषा के अनुसार ईसाई धर्म को भी धर्म की संज्ञा नहीं दी जा सकती है। इसका कारण है कि ईसाई के अनुसार वे कथाएं जिनके आधार पर नैतिक कार्यनीति अनुप्रेरित होती है, पुराण कथाएं या दृष्टान्त नहीं हैं। ये कथाएं वास्तविक और सच्ची हैं। प्रैट की यह भी आलोचना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

युक्तिहीन है। प्रश्न यह नहीं है कि ईसाई क्या समझते हैं, पर यह कि इन कथाओं को क्या समझा जा सकता है। यदि प्रैट के विचार को सही माना जाय तो आदिम जातियों की पुराणकथाओं को भी पुराणकथा नहीं कहा जायगा, क्योंकि स्वयं आदिम जातियाँ उन्हें सच समझती हैं। हम आदिम जातियों की धार्मिक कथाओं को इसलिये पुराणकथा कहते हैं कि उनकी उनमें बिना वैज्ञानिक आधार के आस्था होती है। इसी प्रकार कुँवारी के द्वारा जन्म की कथा को भी पुराणकथा कहा जायगा क्योंकि इसका भी कोई आनुभविक तथा वैज्ञानिक आधार नहीं है।

प्रैट की तीसरी आपत्ति है कि हेपबर्ण की विचारधारा में धर्म के लक्षण में उपासना के होने को स्थान नहीं दिया गया है (६१)। 'उपासना' में किसी अतीत सत्ता को स्वीकारना अनिवार्य समझा जाता है। अब चूँकि हेपबर्ण पारलौकिक सत्ता को मान्यता नहीं दे रहे हैं इसलिये उनके लिये उपासना का रहना धर्म का विशेष लक्षण नहीं माना जायगा। अतः प्रैट की आपत्तियों में बल नहीं है।

अफसोस इसी बात का है कि पाश्चात्य विचारक इतने संकीर्ण विचार के हैं कि वे भारतीय धर्मों को समझने की कोशिश ही नहीं करते हैं। निरीश्वरवादी जैन तथा हीनयानी बौद्ध मत में धार्मिक भाव की कोई कमी नहीं है। क्यों नहीं प्रैट और हेपबर्ण स्वीकारते हैं कि पारलौकिक सत्ता को माने बिना भी धार्मिक अनु-भूति प्राप्त हो सकती है? कम से कम इसका प्रतिमान भारतीय निरीश्वरवादी धर्मों में पाया ही जाता है।

प्रैट कम से कम यह स्वीकार करते हैं कि बिना पारलौकिक सत्ता को माने हुए नैतिकता की रक्षा हो सकती है। परन्तु प्रैट के अनुसार बिना ईश्वर को स्वीकार किये हुए जीवन को सार्थक समझने में कठिनाई हो सकती है (६८)।

'जीवन की सार्थकता' का क्या तात्पर्य हो सकता है? प्रायः यहां सार्थकता से जीवन के उद्देश्य के विषय में प्रश्न किया जाता है। अब 'उद्देश्य' शब्द का प्रयोग युक्तिपूर्ण रूप से मानव-व्यवहार तथा किसी भी कर्त्ता के प्रसंग में हो सकता है। फिर, कभी वस्तुओं के लिए भी उनके उद्देश्य के सम्बन्ध में पूछा जा सकता है; उदाहरणार्थ, इस कोठरी में इस दरवाजे को लगाने का क्या उद्देश्य हो सकता है? परन्तु किसी कर्त्ता के विषय में या किसी अन्य वस्तु के विषय में जब कभी उद्देश्य का प्रश्न पूछा जाता है तो अन्त में इन प्रश्नों से पारलौकिक सत्ता ही प्रतिध्वनित होती है। जीवन के उद्देश्य को सृष्टि-कर्त्ता के अस्तित्व से स्पष्ट किया जाता है और इस विश्व की योजना भी असाक्षात् रीति से ईश्वर की कृति की द्योतक मानी जाती है। परन्तु यदि ईश्वर की पारलौकिक सत्ता को नहीं स्वीकार किया जाय तो जीवन के उद्देश्य पर किसी भी प्रकार का प्रकाश नहीं डाला जा सकता है (६८-६९)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यहां कहा जाता है कि जीवन के उद्देश्य को दूसरे अर्थ में स्पष्ट किया जा सकता है। इस दूसरे अर्थ में 'उद्देश्य' से तात्पर्य होता है 'कार्य' का। उदाहरणार्थ, हम प्राय: प्रश्न करते हैं : शरीर के संदर्भ में दाँत का या बाहरी कान का क्या कार्य है ? यहां एक अंग विशेष का उद्देश्य सम्पूर्ण शरीर के संदर्भ में अर्थपूर्ण रीति से पूछा जाता है। इस अर्थ में पूछा जा सकता है कि मानव-जीवन का क्या उद्देश्य है। यहां हमें चाहिये कि मानव-जीवन से अतीत एक व्यापक संदर्भ की ओर संकेत किया जाय जिसमें मानव-जीवन अंग या पक्ष हो। जैसे, सम्पूर्ण सामाजिक जीवन को संदर्भ मानकर हम धार्मिक अनुष्ठान के उद्देश्य के विषय में प्रश्न पूछ सकते हैं। मानव-जीवन का व्यापक संदर्भ शायद प्राणिजगत् होगा जिसका यह एक अंग है। पर क्या जीवन के उद्देश्य का प्रश्न मानव-जीवन के विकास से सम्बद्ध समझा जायगा ? क्या जैविक विकास के अन्तर्गत मानव-विकास को स्पष्ट कर देने से मानव-जीवन की सार्थकता सिद्ध समझी जायगी ?

दार्शनिक चिन्तन की दृष्टि से मानव-जीवन की सार्थकता केवल प्राणिमात्र के संदर्भ से ही नहीं मूल्यांकित होती है, बल्कि समस्त विश्व के संदर्भ में इसकी सार्थकता को स्पष्ट किया जाता है। परन्तु निरीश्वरवादी ऐहिकवादी के लिये इस विश्व से बाहर कोई अन्य सत्ता नहीं है। अत: विश्व की सार्थकता विश्व से अतीत किसी अन्य सत्ता के माध्यम से नहीं आंकी जा सकती है (७०-७१)। तब क्या विश्व में ही अपने को सीमित रखकर हम मानव-जीवन की सार्थकता आंक सकते हैं ?

विज़डम का कहना है कि युक्तिसंगत रूप से हम विश्व की जटिल वस्तुस्थितियों के संदर्भ में मानव-जीवन के उद्देश्य को हल कर सकते हैं। जिस प्रकार किसी लम्बे और जटिल नाटक के विषय में हम कह सकते हैं : भाई ! हमने पूरे नाटक को नहीं समझा, कृपया इसके सम्पूर्ण अर्थ पर प्रकाश डालिये। यहां किसी नाटक को स्पष्ट करने के लिये इसके अन्तर्गत सभी घटनाओं को आद्यन्त कालक्रम में हम प्रस्तुत करते हैं। इस रूप में नाटक से परे और अतीत किसी अन्य संदर्भ की आवश्यकता नहीं होती। यहाँ एक घटना का दूसरी घटनाओं के साथ केवल आपसी आन्तरिक सम्बन्ध स्थापित किया जाता है (७१-७२)। परन्तु ब्रैट का कहना है कि इस रूप में भी जीवन की सार्थकता को नहीं स्पष्ट किया जा सकता है। जीवन को ऐहिकवादी नाटक नहीं स्वीकारा जा सकता है। नाटक की अर्थपूर्णता अन्त में नाटक के रचयिता पर निर्भर करती है। यदि इस विश्व को एक कला के रूप में मान लिया जाय तो इससे परिलक्षित होता है कि इस विश्व का भी कोई कलाकार रचयिता है। परन्तु ऐहिकतावादी निरीश्वरवाद में विश्व-रचयिता की बात नहीं उठती है। अत: अपारलौकिकवादी विश्व को कला या नाटक समझकर जीवन की सार्थकता विषयक प्रश्न का हल नहीं कर सकता है (७२)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुछ निरीश्वरवादी लेखक, उदाहरणार्थ अस्तित्ववादी कामू, बताते हैं कि विश्व का कोई उद्देश्य नहीं है और विश्व बेतुका (एब्सर्ड) है। परन्तु 'बेतुका' से भी आपादित होता है कि इसका भी कोई अर्थ है। बेतुकी बात से भी किसी विषय पर प्रकाश पड़ सकता है, छिपी गहनता निखरित हो सकती है। अतः 'बेतुका' मत भी उद्देश्यपूर्ण हो सकता है (७३)। अन्त में विश्व को 'बेतुका' संज्ञा देने से अभिप्राय होता है कि मानव अपनी इच्छा के अनुरूप इस विश्व को समझना चाहता है। स्पष्टता प्राप्ति की धुन में अयुक्तिपूर्ण सत्ता से मुठभेड़ तथा भिड़न्त में बेतुकापन का विकास होता है। इस रूप में बेतुकापन को सम्पूर्णतया अर्थहीन नहीं समझा जा सकता है (७४)।

अब यदि विश्व और समस्त जीवन के विषय में उद्देश्यपूर्णता का प्रश्न नहीं पूछा जा सकता है तो क्या व्यष्टि के जीवन के विषय में यह प्रश्न पूछा जा सकता है? चूँकि अपारलौकिकवादी के लिए मानव-जीवन से परे कोई अन्य अतीत सत्ता नहीं है इसलिये किसी भी व्यक्ति-विशेष के जीवन का कोई उद्देश्य नहीं हो सकता है। परन्तु व्यक्ति-विशेष से अतीत उसके समाज का एक व्यापक संदर्भ है और इस व्यापक संदर्भ में व्यक्ति-विशेष के जीवन का उद्देश्यपूर्ण कार्य या स्थान हो सकता है। वह अपने जीवन को लोकहित के लिए, समाजवाद के लिये, काम में लगा सकता है और इस व्यापक संदर्भ में अपने जीवन को सोद्देश्य समझ सकता है (७५)। परन्तु यदि कोई व्यक्ति-विशेष न तो पारलौकिक सत्ता को ही स्वीकार करे और न कोई सामाजिक संदर्भ को ही अपनाये, तो उस व्यक्ति-विशेष के जीवन की सार्थकता किस प्रकार स्थिर की जा सकती है? यदि ऐसा व्यक्ति अपने जीवन को निरर्थक समझता है तो इससे ध्वनित होता है कि वह अपने जीवन का अपना कोई निजी मूलभूत उद्देश्य नहीं मानता है। इस प्रसंग में विज़डम और कामू की रचनाएं उपादेय मालूम देती हैं।

विज़डम का कहना है कि यदि कोई व्यक्ति अपने से अतीत सत्ता को (वह पार-लौकिक हो या ऐहिक, उदाहरणार्थ लोकहित, समाजसेवा) नहीं भी माने तो भी उसकी अपनी कुछ प्रक्रियाएं स्वतन्त्र और मूलभूत रीति से मूल्यपूर्ण मानी जायंगी। स्वास्थ्य-लाभ, गरमी में ठंडे की बहार, बसंत की मादकता इत्यादि ऐसी हैं जिन्हें हम मूलभूत रीति से मूल्यपूर्ण स्वीकार कर सकते हैं। अतः, जीवन को सार्थक मानने के लिये पारलौकिक सत्ता को या जीवन से अतीत व्यापक संदर्भ को स्वीकार करना आवश्यक नहीं मालूम देता है। व्यक्ति-विशेषों की अपनी ही प्रक्रियाएं तात्त्विक रीति से अर्थपूर्ण समझी जा सकती हैं (७५-७६)।

इसी प्रकार कामू ने बतलाया है कि जीवन की सार्थकता को आंकने के लिए किसी अतीत सत्ता एवं संदर्भ को मानने की आवश्यकता नहीं है। सिसिफस एक नायक है जिसका काम है कि वह बड़े पत्थर को पहाड़ के नीचे से लुढ़का कर चोटी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तक पहुंचा दे, किन्तु जैसे ही पत्थर चोटी पर पहुंचता है उसका पत्थर फिर पहाड़ के नीचे लुढ़क आता है। सिसिफस का यही काम है कि प्रतिदिन, प्रतिमास, प्रतिवर्ष और सब दिन वह पत्थर को नीचे से लुढ़काकर ऊपर चोटी तक पहुँचाता रहे। क्या सिसिफस इस प्रतिदिन के एकरूप काम से ऊब जाता है ? नहीं। कामू का कहना है कि सिसिफस अपने काम में आनन्द प्राप्त करता है,—पत्थर की प्रत्येक क्षणिक प्रभा से वह आह्लादित हो उठता है। उसका पत्थर का लुढ़काना स्वलक्ष्य, मूलभूत रीति से सार्थक मालूम देता है (७६-७७)।

अब प्रट अपनी पुस्तक के अंत में बताते हैं कि जीवन की सार्थकता पारलौकिकवादों के लिये स्पष्ट मालूम देती है और शायद यह बात भी ठीक है। परन्तु ऐहिकवादी भी समाज के व्यापक संदर्भ में लोक-कल्याण, समाज-विकास इत्यादि को ध्यान में रखकर अपने जीवन को सार्थक मान सकता है। परन्तु यदि व्यक्ति से परे और अतीत शक्ति एवं संदर्भ को नहीं भी स्वीकारा जाय तो भी व्यक्ति अपनी प्रक्रियाओं को स्वलक्ष्य मानकर सिसिफस के समान अपने जीवन को सार्थक मान सकता है।

मगध विश्वविद्यालय, गया

उद्धरण-निर्देश

1. Harvey COX : The Secular City, SCM 1965, Pelican, 1968.
2. B. Wilson : Religion in Secular Society, 1966, Penguin, 1969.
3. Harvey COX, ibed-P.P. 18-27
4. H. COX : ibid, P.P.75-77
5. H. COX : ibid, P.P.82-91
6. D. Z. Phillips : 1. The Concept of Prayer (Routledge & Kegan Paul 1965)
   2. Religion and Understanding, Blackwell, Oxford 1967.
7. A. MacIntyre : Secularisation and Moral Change, Oxford University Press, 1967.
8. H. COX : ibid P.P.253-258.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

9. Harry Blamires : The Christian Mind, SPCK 1963.

10. A. Flow and A. MacIntyre : New Essays in Philosophical Theology, SCM Press, 1953.

11. W. T. Stace : Religion and the Modern Mind, Macmillan, 1953.

12. A. J. Ayer : Language, Truth and Logic, Victor Gallancy, First published 1936, P. 113.

13. 1. J. Wisdom : Philosophy and Psychoanalysis, Blackwell 1953, 1969.
    2. J. Wisdow : Paradox and Discovery, Blackwell 1965.

14. A Flew : New Essays, P. 967.

15. R. B. Braithwaite : **An Empiricist view of the Nature of Religious Belief,** Reproduced in J. Hick (ed.), **The Existence of God.** The Collier Macmillan 1964.

    आर० बी० ब्रेथवेट के मत की समीक्षा के लिये देखें :

या. मसीह (1) समकालीन धर्मदर्शन, बिहार ग्रंथ अकादमी, पटना।
(2) धर्म दर्शन : प्राच्य एवं पाश्चात्य भारती भवन, पटना।
(3) Introduction to Religious Philosophy, Motilal Banarsidass, Patna & Delhi.
(4) The Nature of Religious Knowledge, Santiniketan.

16. The Existence of God, P.P. 239,241, 249.

17. वही : P.P. 244.

18. वही : P.P. 246-247.

19. E. L. Mascall : Words and Images, A Libra Book, 1968 (First published 1957) pp 49-62.

20. वही : P.P. 58-59.

21. Paul Van Buoen : **The Secular Meaning of the Gospal,** SCM Press 1963, Pelican 1968.

22. E. L. Mascall : **The Secularisation of Christianity,** first published 1965, Libra Edition 1967.
    (2) J. A. T. Robinson, Honest to God, SCM, 1963.
    (3) John Cogley, Religion in a Secular world, Encyclopaedia Britannica, 1968 (Mentor Book).
    (4) William Nichollas, The Pelican Guide to Modern Theology, Vol. I, Penguin Books, 1969.

23. P. Van Buren : वही–P.P. 17, 18, 19, 105,व 106.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

24. P. Van Buren : वही–P.P. 30, 33, 74.

25. I. T. Ramsey : Religious Language, SCM press, 1957. R. M. Hare, New Essays in Philosophy & Theology.
A. Flew and A. MacIntyre (Ed.) P.P. 99-105.
हेयर और रामज़े के मत की व्याख्या के लिये देखें, या० मसीह, समकालीन धर्म-दर्शन ।

26. P. Van Buren : The Secular Meaning, P. 159.

27. वही : P.P. 142,154.

28. The Secular Meaning,-P.P. 146, 155.

29. E. L. Mascall : The Secularisation of Christianity, Chap. II -P.P. 40-105.

30. T. J. J. Altizer and William Hamilton : Radical Theology and the Death of God, Penguin Books, 1968.

31. W. Hamilton, first published 1966, ibid p. 58.

32. W. Hamilton : ibid P.P. 49, 52, 58-59, 60,61.

33. T. J. J. Altizer : ibid P. 176.

34. T. J. J. Altizer : ibid P. 188.

35. W. Hamilton : ibid P. 53.

36. J. Wisdom, **Gods, Philosophy and Psychoanalysis,** first published in 1944-1945, Aristotelian soc. Proceedings.

37. D. Z. Phillips : Wisdom's Gods, philosophical Quarterly XIX January, 1969.

38. P. Winch : The Idea of a Social Science, Routledge & Kegan Paul, 1958.

39. W. and L. Pelz : **'God is no more'** Victor Gollancy 1963, Pelican 1968.

40. J. A. T. Robinson : Honest to God SCM Press, 1963.
जो बहुत प्रचारित और लोकप्रिय पुस्तक सिद्ध हुई है ।

41. W & L Pelz : ibid P.P. 33,81, 111.

42. JAT Robinson : ibid P.P. 48, 50, 52, 55, 87.

43. R. W. Hepburn : Christianity and Paradox, Watts, London, 1958.

44. R. Otto : The Idea of the Holy, Eng. Trans. 1917, Pelican 1959.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दर्शन तथा इतिहास-बोध*

गोपालबिहारी माथुर

गैली की प्रस्तुत पुस्तक न केवल विवेचनात्मक इतिहास-दर्शन के अध्ययन में एक उल्लेखनीय योगदान है अपितु इसमें बड़ी सफलतापूर्वक ज्ञान की इस विधा के मूलभूत प्रश्न को ही एक अभिनव और सुबोध रूप में प्रस्तुत किया गया है। इस पुस्तक में कुल १० अध्याय हैं।[1]

प्रथम पांच अध्यायों में गैली, इतिहास दर्शन में सम्भवतः प्रथम बार, इतिहासिक बोध के स्वरूप का एक शृंखलाबद्ध, सर्वाङ्गीण और सहज बोधगम्य वृत्तान्त देने का प्रयत्न करता है और इसका व्यवस्थित रूप से उस बोध से भेद करता है जो हमें प्राकृतिक विज्ञानों के अध्ययन से उपलब्ध होता है।

अन्तिम पांच अध्यायों में गैली यह दिखलाता है कि जो बोध या दृष्टि हमें इतिहासिक वृत्तान्तों के अनुशीलन से प्राप्त होती है वह किस प्रकार हमारे राजनैतिक जीवन, वैज्ञानिक अनुसंधान, और यहां तक कि दार्शनिक जिज्ञासा, से सम्बद्ध सभी बौद्धिक व्यापारों को एक नया आयाम और परिदृष्टि प्रदान करती है।

यद्यपि विवेचनात्मक इतिहास-दर्शन का विकास अन्य विख्यात विचारकों ने भी किया है तथापि गैली की अपनी विशेषता यह है कि सर्वप्रथम उसने ही इतिहास के विवेचनात्मक दार्शनिक के रूप में इतिहासिक कृतियों में वृत्तान्त(नैरेटिव)का जो विचार सन्निहित है उस पर बल देकर इतिहासिक बोध की कुछ विशेषताओं पर प्रकाश डाला है। इतिहासिक बोध के बारे में वह अपनी अभिनव अन्तर्दृष्टि का उपयोग यह दिखलाने के लिए करता है कि कैसे हम इसके द्वारा स्वयं दार्शनिक विधियों और समस्याओं के बौद्धिक महत्त्व को भी अधिक भलीभांति समझ सकते हैं। गैली का

***Philosophy and the Historical Understanding by W.B. Gallie, Chatto and Windus, London.**

1. **अध्यायों के शीर्षक हैं:– (1) Critical Philosophy of History, (2) What is a Story ? (3) What is History ? (4) The Historical Understanding, (5) Explanations in History, (6) The Uses and Abuses of History, (7) The Historical Understanding and Philosophy, (8) Essentially Contested Concepts, (9) Where Moral Philosophy Rests on a Mistake, (10) Metaphysics as History.**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह दावा है कि दर्शन के इतिहास के क्षेत्र में भी हम अब यह दिखला सकते हैं कि किस प्रकार कतिपय मूलभूत दार्शनिक विचार अपनी उपयुक्त दार्शनिक भूमिका का निर्वाह अनवरत और अनन्त विवाद में उलझे रहकर ही कर सकते हैं।

प्रथम अध्याय में गैली परिकल्पनात्मक इतिहास-दर्शन की तुलना में विवेचनात्मक इतिहास-दर्शन का महत्त्व दिखलाता है। विको, हेगल और मार्क्स जैसे इतिहास के दार्शनिकों ने इतिहास के प्रति अपनी दार्शनिक जिज्ञासा इसलिए अर्पित की थी कि उसके द्वारा वे सम्पूर्ण इतिहास में किसी युक्तिमूलक सोद्देश्य परियोजना का उद्घाटन कर सकते। लेकिन ऐसे सभी प्रयत्न न्यूनाधिक मात्रा में असफल रहे, और स्वयं इतिहासकारों ने उचित ही इन प्रयत्नों की युक्तता पर संदेह प्रकट किया। किन्तु परिकल्पनात्मक इतिहास-दर्शन के विरुद्ध किये गये आक्षेप विवेचनात्मक इतिहास-दर्शन पर लागू नहीं होते।

गैली स्वयं विवेचनात्मक इतिहास-दर्शन की युक्तता को स्वीकार करता है। पर साथ ही वह कहता है कि इतिहास-दर्शन की यह विधा भी अभी तक उल्लेखनीय प्रगति करने में असमर्थ रही है, क्योंकि इसने भी मूलभूत प्रश्न के स्थान पर अपेक्षाकृत गौण प्रश्न को ही पहले उठाया। विवेचनात्मक इतिहास-दर्शन को पहले इस प्रश्न पर विचार करना चाहिए था कि इतिहासिक बोध की रूपरेखा क्या है और उसमें कौन से ऐसे सन्निहित घटक तत्त्व हैं जिनका विश्लेषण हो सकता है। लेकिन दुर्भाग्यवश ऐसा करने से पूर्व ही वह एक दूसरे पचड़े में फँस गया। विवेचनात्मक इतिहास के दार्शनिकों ने अपना सारा ध्यान इतिहासिक ज्ञान के प्रमाणीकरण और सत्यापन की समस्या पर केन्द्रित कर दिया, क्योंकि उन्होंने विधि की दृष्टि से प्रथम प्रश्न की उपेक्षा की। इसलिये वे स्वयं अपने द्वारा उठाये गये प्रश्न का भी कोई सन्तोषजनक समाधान न कर सके।

विवेचनात्मक इतिहास–दर्शन की यह ग़लत दिशा पाश्चात्य दार्शनिक परम्परा में सैद्धान्तिक ज्ञान के प्रति विद्यमान पूर्वाग्रह से ही उत्पन्न हुई। प्लेटो और अरस्तू के समय से ही यह मान्यता रही है कि वास्तव में ज्ञान वही है जिसमें ऐसे सामान्य वाक्य उपस्थित हों जो एक क्रमबद्ध रूप में विन्यस्त हों। अतः इस परम्परा से प्रभावित होकर ज्ञान की सभी विधाओं में हमारा ध्येय सार्वभौमिक सत्यों के ज्ञान की ही प्राप्ति रहा है। उधर इतिहासकार का दावा है कि वह विशिष्ट घटनाओं का ज्ञान उपलब्ध कराता है। अतः परम्परा से प्रभावित विचारकों ने इतिहासिक ज्ञान को या तो अत्यन्त क्षुद्र ठहराया है अथवा भ्रान्ति-मूलक ठहराया है।

पूर्ववर्ती दार्शनिकों ने, जो इतिहास-दर्शन में रुचि लेते हैं, अपने को ज्ञान के स्वरूप के बारे में इस परम्परागत धारणा के प्रभाव से मुक्त नहीं किया है। इसके अलावा उन पर, न चाहते हुए भी, जर्मन विज्ञानवाद के आन्दोलन का एक दुर्भाग्यपूर्ण प्रभाव भी पड़ा है। जर्मन विज्ञानवाद सत्य की सार्वभौमिकता के सिद्धान्त को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानते हुए भी प्राकृतिक विज्ञानों द्वारा प्रदत्त ज्ञान की तुलना में धर्म, तत्त्वचिन्तन और इतिहास द्वारा प्रदत्त ज्ञान की श्रेष्ठता को स्थापित करने में प्रयत्नशील रहा।

लेकिन जर्मन आदर्शवाद से प्रभावित दार्शनिक इतिहासकारों तथा उनके विरोधी विवेचनात्मक इतिहास के दार्शनिकों ने भी स्पष्टतः यह दिखलाने का प्रयत्न नहीं किया कि जिस इतिहासिक ज्ञान के औचित्य-स्थापन का बीड़ा उन्होंने उठाया है वे प्राकृतिक विज्ञानों में प्राप्त ज्ञान से किस प्रकार भिन्न हैं। हेगल के प्रभाव के अधीन इस कार्य के महत्त्व को स्वीकार करते हुए भी, उन्होंने इसे ग़लत रूप में ही ग्रहण किया। अर्थात् उन्होंने यह माना कि उनका लक्ष्य इतिहास का भी, ज्ञान के एक साधारण प्रकार के रूप में, औचित्य-स्थापन करना है। ऐसा करने में उन्होंने इतिहासिक वृत्तान्तों को समझने में निहित बोध की उपेक्षा की।

गैली अपने इस मन्तव्य की पुष्टि डिल्थाई, रिकर्ट, कलिंगवुड जैसे कुछ विख्यात विचारकों की कृतियों का विश्लेषण करके करता है। ये सभी गैली द्वारा बताई विवेचनात्मक इतिहास-दर्शन की मुख्य समस्या के साथ न्याय नहीं कर सके।

उदाहरण के लिए हम कलिंगवुड के दृष्टान्त को लें। ऐसा लग सकता है कि कलिंगवुड तो इतिहासिक बोध का ठीक उसी प्रकार का निरूपण करना चाहता था जिसकी हमें तलाश है। गैली कहता है कि कलिंगवुड वास्तव में इस समस्या के छोर पर ही मंडराता रहा और अन्त में उसने इसके रूप को बिल्कुल भ्रष्ट कर दिया। गैली की टिप्पणी है कि इतिहासिक बोध के बारे में कलिंगवुड का निरूपण हमारी अपेक्षाओं की पूर्ति नहीं करके उल्टे इतिहासिक बोध जैसी किसी चीज़ की उपलब्धि के ही बारे में सन्देह उत्पन्न कर देता है।

अपने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ **दि आइडिया आफ़ हिस्ट्री** में उसने दो मुख्य प्रतिज्ञाएं रखीं यथा, (1) वास्तविक इतिहासिक चिन्तन का स्वरूप किसी वैचारिक गुत्थी को सुलझाने जैसा होता है, तथा (2) यह चिन्तन वास्तव में किसी अन्य बुद्धिमान प्राणी के मन में आये विचारों का पुनः चिन्तन होता है।

कलिंगवुड के इस मत पर गैली के दो मुख्य आक्षेप हैं–यथा (1) कलिंगवुड का सिद्धान्त सत्य के किसी अत्यन्त विषयिनिष्ठ मानक पर आश्रित है, तथा (2) यह मत उस सामान्य सन्दर्भ के महत्व की बिल्कुल उपेक्षा कर देता है जिसमें किसी इतिहासिक समस्या के बारे में अभिनव चिन्तन की अपेक्षा उद्भूत होती है।

फलतः कलिंगवुड, जो इतिहासिक चिन्तन की स्वायत्तता का प्रबल समर्थक था, अन्ततोगत्वा इतिहासिक चिन्तन का विलय वैज्ञानिक शोध और खोज में कर देता है और इतिहासिक वृत्तान्तों को समझने में अनुभव का जो मौलिक पक्ष प्रकट होता है उसकी वह कोई खोज ख़बर नहीं लेता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सारांश यह कि यदि हम प्लेटो और अरस्तू की परम्परा में प्रचलित पदावली और उसकी परिधि में मान्य पूर्वापेक्षाओं को लेकर चलेंगे तो इतिहास के प्रतिभा-सम्पन्न विवेचनात्मक दार्शनिकों के लिए भी उन अत्यन्त परिचित चीज़ों का स्पष्टीकरण करना असम्भव हो जायगा जो इतिहास के लेखक और पाठक अत्यन्त सरल भाव से सदा करते आये हैं।

इस कठिनाई के सम्मुख गैली का प्रस्ताव है कि हम इतिहासिक बोध की समस्या पर लकीर से तनिक हटकर विचार करें। "इतिहासिक बोध क्या है?" इस प्रश्न को उठाने से पहले गैली एक अधिक मौलिक और सरल प्रश्न को उठाता है–यथा "कहानी क्या है?" एवं "कहानी को समझना क्या है?"

द्वितीय अध्याय में गैली ने एक कहानी की तार्किक संरचना और उस बोध का बड़ा कुशल और प्रभावपूर्ण विश्लेषण किया है जिसका परिचय हम कहानी को आद्योपांत पढ़ कर समझने में देते हैं। इसके अतिरिक्त, इस विश्लेषण द्वारा पाश्चात्य दार्शनिक परम्परा के उस दुखद परिणाम का भी पर्दाफाश होता है जिसने आरम्भ से ही इतिहास को ज्ञान के एक स्वतन्त्र और वास्तविक प्रकार के रूप में ग्रहण किये जाने की सम्भावना को नष्ट कर दिया था। गैली पहले ही इस तथ्य की ओर संकेत कर चुका है कि इस परम्परा के सन्दर्भ में तो हर प्रकार के समझ में आ सकने वाले वृत्तान्त में—चाहे वह इतिहास के रूप में हो चाहे कहानी के—एक-अपरिहार्य विरोधाभास आ जाता है। परम्परागत मत के अनुसार तो केवल सामान्य अथवा धर्म (एस्सेंसिज़्) ही युक्तिमूलक बोध के उपयुक्त विषय हो सकते हैं। प्रत्येक विशेष, एक विशेष के रूप में, हमारे लिए अज्ञेय बना रहता है। बुद्धि के लिए वह ज्ञेय तभी बनता है जब उपयुक्त तार्किक विधि द्वारा उसके वैशिष्टय को नष्ट करके उसे किसी सामान्य का दृष्टान्त रूप प्रदान कर दिया जाता है। लेकिन तब तो हमें मानना होगा कि उस विशेष का ज्ञान पहले से उसके सामान्य के ज्ञान में तार्किक दृष्टि से अन्तर्भूत था। परम्परागत ज्ञानमीमांसा के अनुसार, जो विशेष केवल एक आगन्तुक तथ्य (कण्टिन्जेण्ट फैक्ट) के रूप में बना रहता है वह हमारी तर्क-बुद्धि की पकड़ के परे रहता है।

इसके विपरीत, न केवल एक कहानी में बल्कि एक इतिहासिक वृत्तान्त में भी आकस्मिक विशिष्ट घटनाओं की भरमार रहती है। हम कहानी और इतिहासिक वृत्तान्त की इन आकस्मिक घटनाओं के प्रभाव से अलग कोई कल्पना भी नहीं कर सकते और इसलिए कोई भी वृत्तान्त ज्ञान की एक विधा के रूप में हमारी बुद्धि को ग्राह्य नहीं हो सकता। फिर भी कहानी और इतिहास एक कठोर सत्य के रूप में मौजूद हैं। इसलिए पाश्चात्य दार्शनिक परम्परा के अन्तर्गत उनकी सत्ता एक बौद्धिक पहेली बन जाती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस उलझनग्रस्त पृष्ठभूमि में गैली का लक्ष्य यह दिखाना है कि (१) किसी भी ऐसी तार्किक परियोजना में, जिसका उद्देश्य किसी इतिवृत्त की युक्तता को स्थापित करना हो, हमें आकस्मिक घटनाओं को आवश्यक रूप से अवकाश देना होगा, तथा (२) उस संरचना के अन्दर भी हमें कुछ ऐसी आकस्मिक घटनाओं को प्रवेश देना होगा जो उस वृत्तान्त में वर्णित घटना-क्रम को उसके परिणति तक पहुँचाने में तर्क-बुद्धि को स्वीकार्य हों। अतः तर्कशास्त्र अपने इस दायित्व से पलायन नहीं कर सकता कि वह न केवल रोजमर्रा के जीवन में, बल्कि उन वृत्तान्तों में भी, जो उस पर आधारित हैं, छायी रहने वाली आकस्मिक घटनाओं की युक्तता और उनके तार्किक महत्व को निर्धारित करे।

अब गैली के अनुसार, कहानी एक ऐसा वृत्तान्त है जिसमें घटनाक्रम, क्रमिक रूप में प्रकट होने वाली कतिपय आकस्मिक घटनाओं के माध्यम से, न केवल अपने शिरो-बिन्दु तक पहुंचाया जाता है बल्कि पाठक को साथ-साथ यह समझ में आता चलता है कि कैसे घटना-प्रवाह वही हो सकता था जो वर्णित किया गया है। एक कहानी के पाठक को अपने पठन के बीच यह पता चलता रहता है कि वह अन्त, जिसका कहानी के आरम्भ में (पूर्वनिर्धारण) नहीं हो सकता था, तार्किक दृष्टि से उन घटनाओं के संयोग से ही कैसे स्वीकार्य हो जाता है जिनसे वह फलित हुआ। पाठक की यह स्वीकृति उसके द्वारा कहानी की सामान्य दिशा तथा उसके सम्भावित वैकल्पिक अन्तों के ज्ञान से फलित होती है, क्योंकि वर्ण्य घटनाओं की अन्तर्वस्तु ऐसी है जिससे प्रत्येक पाठक अपने दैनिक जीवन में परिचित है।

वैज्ञानिक बोध और इतिहासिक बोध में कुछ न कुछ समानता उपलब्ध होती है। इसके बावजूद इतिहासिक बोध उस बोध से भिन्न है जो वैज्ञानिक ग्रन्थों में दृष्टिगत होता है। विज्ञान में तो परिणाम या निष्कर्ष प्रबन्ध में कथित सामान्य नियमों एवं निर्दिष्ट आरम्भिक परिस्थितियों से अनिवार्यतः परिणत या निगमित होता है। लेकिन कहानी में तो हम वर्ण्य घटनाओं का उनके आरम्भ से अन्त तक उन तमाम आकस्मिक घटनाओं की रेलम-पेल में बोधगम्य अनुक्रम पाते हैं। यह बोधगम्य अनुक्रम उस बोध-प्रक्रिया से सर्वथा भिन्न होता है जिसमें निष्कर्ष को प्रतिज्ञा-वाक्यों से फलित किया जाता है। यह ठीक है कि कुछ साधारणीकरण कहानी के कलेवर में सदैव सन्निहित रहते हैं, लेकिन कहानी का परिणाम उनके अन्त में छिपा नहीं रहता। उनका काम तो घटनाक्रमों को समझने की हमारी सहजबोध-मूलक प्रक्रिया का इस प्रकार मार्ग प्रदर्शित करना होता है जो कुछ भी घटनाएं घटीं वे यौक्तिक दृष्टि से बुद्धि को असंगत और अस्वीकार्य न हों।

कहानी के अवधारण में तीन मुख्य घटक तत्त्व होते हैं, यथा (१) बोधगम्य अनुक्रम, (२) अभिरुचि, (३) परिणाम।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहानी का अन्त कभी भी वैज्ञानिक शोध के अन्त के समान कोई ऐसा निगमित कथन नहीं है जो स्पष्टतः साक्ष्यों पर आधारित हो। हो सकता है कि हमें कहानी के आरम्भ में ही ऐसा कुछ भान होने लगे कि, हो न हो, अन्त अमुक प्रकार का होगा। लेकिन यदि हमें कहानी के आरम्भ में ही उसके अन्त का निश्चित पूर्व-कथन करने की क्षमता प्राप्त हो जाय तो फिर कहानी के लिए यह बड़ा दुर्भाग्यपूर्ण होगा, क्योंकि तब हमारी उसे आखिर तक पढ़ने में कोई रुचि नहीं रहेगी। एक कहानी के कहानी रूप को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए यह आवश्यक है कि यह बात अन्त तक अनिश्चित बनी रहे कि उसका अन्त क्या होगा? यहां हम पाते हैं कि कहानी का अन्त कतिपय प्रतिज्ञा वाक्यों से एक तार्किक निगमन नहीं होता है जिसमें निष्कर्ष पूरी तरह आधार वाक्यों पर आश्रित हो। कहानी की अन्तिम घटना की उसकी शेष क्रमिक पूर्ववर्ती घटनाओं पर एकपक्षीय आश्रितता नहीं होती। इसके विपरीत कहानी की तर्क योजना में परवर्ती घटनाएं पूर्ववर्ती घटनाओं को उतना ही प्रभावित करती हैं जितना कि पूर्ववर्ती घटनाएं परवर्ती घटनाओं को।

कहानी में हमारी अभिरुचि उन विशिष्ट रूप से मानवीय तत्त्वों से उत्पन्न होती है जो लेखक, पाठक और कहानी के पात्रों, सभी की मनोरचना में सामान्य रूप से उपलब्ध होते हैं। कहानी केवल अन्त जानने के लिए नहीं पढ़ी जाती। हमारी अभिरुचि कहानी के आदि, मध्य और अवसान सभी में समान रूप से होती है। यदि हम आरम्भ से ही कहानी के पात्रों के भाग्य-चक्र में उत्साही साझेदार नहीं बनें तो फिर हम यह जानने की प्रतीक्षा नहीं करें कि वर्ण्य कालावधि में उन पर क्या बीती और आखिर में उनका क्या हुआ।

इतना सब होने पर भी पाश्चात्य दार्शनिक परम्परा का यह दुराग्रह है कि हम वृत्तान्तों में उपलब्ध होने वाले आकस्मिक तथ्यों की आकस्मिकता को समाप्त करके उन्हें बौद्धिक दृष्टि से अधिक प्रतिष्ठा-प्राप्त तत्त्वों में रूपांतरित करें। लेकिन इस परम्परा की यह मांग बड़ी बेतुकी है।

वृत्तान्तों की अन्तर्वस्तु के रूप में आकस्मिक तत्त्वों की उपस्थिति एक तार्किक मांग है, क्योंकि उनके द्वारा ही हम कहानी के विकास-क्रम को बौद्धिक रूप से ग्रहण करके यह देख लेते हैं कि कैसे एक ढिलमिल आरम्भिक स्थिति क्रमशः अनेक उतार-चढ़ावों के उपरान्त, एक विशिष्ट निश्चित अन्त तक पहुंची, और कुछ अन्यथा नहीं हुआ।

अनेक आकस्मिक घटनाओं के बीच से गुजर कर उसके पहले से अनिश्चित किन्तु तार्किक दृष्टि से सुसंगत जिस अन्त तक कहानी पहुंचती है उस प्रक्रिया के बौद्धिक अवगमन में प्रयुक्त तार्किक प्रतिमान का भलीभांति विश्लेषण करने के लिए गैली क्रिकेट जैसे किसी खेल को समझने की अपेक्षाकृत मानसिक प्रक्रिया को निदर्श बनाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्रिकेट जैसे खेल में भी क्रिकेट के मान्य नियमों के रूप में एक सामान्य तत्त्व विद्यमान रहता है। और इस खेल में उभय पक्षों में से किसी एक की विजय अथवा हारजीत का फैसला न होना, अथवा खेल का बीच में ही समाप्त कर दिया जाना जैसे कुछ वैकल्पिक अन्त भी खेल के आरम्भ से ही सबको ज्ञात रहते हैं। फिर भी एक खेल को खेल के रूप में समझने के लिए सबसे आवश्यक बात यह समझना है कि वह खेल अनेक आकस्मिक तथ्यों के द्वारा शनैः शनैः अपने किसी अन्तिम परिणाम तक कैसे पहुँचता है। क्रिकेट के खेल का शौकीन यह जानता है कि वे कौन सी अनेकानेक वैकल्पिक घटनाएं हैं जो खेल के अन्तिम फैसले पर निर्णायक प्रभाव डालती हैं। उदाहरणतः क्रिकेट के शौकीन को यह पता रहता है कि कौन घटना कब घटित होने पर खेल के आगामी रूप पर क्या प्रभाव डालेगी, और उसका उभयपक्षों द्वारा किस प्रकार प्रतिकार करने अथवा लाभ उठाने का प्रयत्न किया जायगा। वह खेल को इतनी रुचि से इसलिए देखता जाता है क्योंकि उसे जीतने, एक आसान कैच को नहीं लेने, या किसी खिलाड़ी के घायल हो जाने जैसी, बौद्धिक दृष्टि से स्वीकार्य, आकस्मिक घटनाओं के खेल के ऊपर क्रमिक प्रभाव की कुछ न कुछ जानकारी होती है।

सारांश यह कि एक खेल का बुद्धिपूर्वक अनुसरण भी ध्यान का ऐसा प्रकार है जो प्रयोजनात्मक चिन्तन के द्वारा नियन्त्रित होता है और जिसकी विशेषता यह है कि जिस संभावित अन्त की ओर दर्शक का ध्यान उन्मुख होता है, वह अन्त भी अन्त तक अनिर्णीत ही रहता है।

अब हम देखते हैं कि एक खेल के बुद्धिपूर्वक अनुसरण और कहानी के प्रबुद्ध अनुसरण में कितना साम्य है। यह साम्य पूर्ण नहीं है, क्योंकि एक कहानी की तुलना में एक खेल में संभावित अन्तों की परिधि अधिक सीमित है। यद्यपि कहानी में अपेक्षाकृत कहीं अधिक सम्भावित अन्त हो सकते हैं तो भी कुशल कहानीकार की सफलता इसमें है कि वह जिन आकस्मिक घटनाओं के माध्यम से कहानी को उसके विशिष्ट अन्त की ओर बढ़ाये वे पाठक को तार्किक दृष्टि से असंगत न लगें। अन्यथा पाठक कहेगा कि उसके साथ धोखा हुआ।

अतः एक कहानी में जो आकस्मिकताएं निहित रहती हैं वे उस स्वीकार्य लक्ष्य के सन्दर्भ में, जिसे प्राप्त कराने में उनका योगदान दिखलाया जाता है, भली-भांति बोधगम्य हो जाती हैं।

तीसरे अध्याय की विशेषता इतिहास के स्वरूप के बारे में गैली का अत्यन्त उदारतावादी और सुसंगत विचार है। गैली दिखलाता है कि 'इतिहास' शब्द एक नहीं बल्कि दो दृष्टिकोणों से द्वयर्थक है। जिसके कारण इतिहास के स्वरूप को निर्धारित करने में कठिनाइयां आती हैं। प्रथम उलझन तो यह है कि इतिहास से कुछ लोग तो यह अर्थ लगाते हैं कि वह उन सब शोधों और आलेखों का नाम है जो इतिहास-ग्रन्थों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के रूप में लिखे जाते हैं। लेकिन कुछ अन्य लोग यह मानते हैं कि इतिहास से अभिप्राय उन सभी अतीत घटनाओं से है जो विशेष समयों और स्थानों पर घटित हुई, चाहे उनके बारे में इतिहास-ग्रन्थ लिखे गये हों या नहीं लिखे गये हों।

लेकिन इससे भी बड़ी उलझन एक अन्य प्रकार की है। कुछ लोग मानते हैं कि इतिहास से अभिप्राय उन सभी नाना प्रकार के आलेखों से है जो अलग-अलग घटना-समष्टियों का न्यूनाधिक स्वतन्त्र सर्वेक्षण करते हैं। यह मत इतिहासिक अनेकान्तवाद की धारणा से प्रतिबद्ध है। लेकिन रेके जैसे कुछ अन्य विचारक भी हैं जो यह मानते हैं कि वास्तव में इतिहास वही है जो पृथक्-पृथक् और स्वतन्त्र इतिहासालेखों के स्थान पर हमें एक समग्रीकृत वृत्तान्त दे, जो घटना-क्रम में व्याख्या-सूत्र के एकत्व का दर्शन हो। दूसरे शब्दों में, मूल प्रश्न यह है कि क्या हम अलग-अलग स्वायत्त प्रकार के इतिहासों को मानें अथवा मात्र 'विश्व इतिहास' को ही इतिहास के पद पर आसीन करें।

इस महत्त्वपूर्ण सैद्धान्तिक प्रश्न पर इतिहासकारों और दार्शनिकों के दृष्टि-कोणों में विरोध है। इतिहासकार इस समस्या का समाधान एक दुहरी चाल से करते हैं जिससे समस्या पर पर्दा सा पड़ जाता है। लेकिन दार्शनिकों का दृष्टिकोण अपेक्षाकृत अधिक निष्ठापूर्ण है और वे इतिहास के एकत्व को स्पष्ट रूप से मानने को उद्यत हैं।

इतिहासकार अपना पैंतरा झट से बदल लेते हैं। अपने व्यवहार में तो वे इतिहासिक उदारवाद अथवा अनेकान्तवाद पर निष्ठा रखकर अपने अलग-अलग प्रबन्ध लिख डालते हैं जिनकी परस्पर तुक बैठाना वे अपना आवश्यक दायित्व नहीं मानते। लेकिन दूसरी ओर मूर्धन्य इतिहासकार इस बात पर भी सहमत हैं कि किसी एक इतिहासिक युग के किसी एक अंश का भी सारगर्भित इतिहास लिखने के लिए उनका एक पूरे युग के इतिहास पर, उसकी सम्पूर्ण व्यापकता में, निर्बाध अधिकार होना चाहिये। क्योंकि इस प्रकार की आधिकारिक व्यापक परिदृष्टि के अभाव में वे अपनी कृतियों को सही दिशा नहीं प्रदान कर सकते। इतिहासिक पूर्णताओं के समग्रीकृत ज्ञान के बिना वे उसके किसी अंश के इतिहास के मर्म और महत्त्व को भी बुद्धि-ग्राह्य नहीं बना सकते। लेकिन तब प्रश्न उठता है कि इतिहासिक पूर्णता किस प्रकार की पूर्णता है। दुर्भाग्यवश इस प्रश्न को उठाते ही हमारी सारी होशियारी धरी रह जाती है और हम विवाद के भँवर में फंस जाते हैं। कदाचित् इस उलझन का कारण यह है कि इतिहास लेखन की यह आवश्यक शर्त है कि इतिहासकार बिना किन्हीं पूर्व निर्धारित अभिरुचियों और दृष्टिकोणों के कोई भी इतिहास नहीं लिख सकता। अर्थात् प्रत्येक इतिहासकार अपनी सैद्धान्तिक परिदृष्टि की सीमा के अन्दर और उसके अनुसार ही घटनाओं और तथ्यों का संकलन करने को बाध्य होता है और इसी कारण कोई भी इतिहासकार किसी भी इतिहासिक पूर्णता को पूर्ण रूप से ग्रहण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करने में असमर्थ होता है। इतिहासकार का परिकल्पित आदर्श सदा उसके बूते से बाहर रहता है।

जहाँ साधारण इतिहासकार, इतिहास-लेखन की पद्धति द्वारा निर्धारित सीमाओं के कारण विश्व-इतिहास को उसकी पूर्णता में ग्रहण करने में संकोच करता है, वहां दार्शनिक इतिहासकार अधिक साहस दिखलाता है। शायद इसकी वजह यह है कि उसे इतिहास-लेखन की विधि-मूलक बाध्यताओं से उत्पन्न इतिहासिक कृतियों के कलेवर के विस्तार की सीमाओं का उतना सही ज्ञान नहीं है जितना कि एक इतिहासकार को है। इसीलिए विको, हेगेल और मार्क्स जैसे कतिपय दार्शनिक इतिहासकार यह दावा करते हैं कि इतिहासिक घटना-क्रम को उसकी पूर्णता में देखने पर हमें सम्पूर्ण इतिहास में कोई एक निश्चित दिशा अथवा इतिहासिक युगों की किसी चक्राकार संयोजना का पता चलता है। लेकिन जब हम उनके दावों का विवेचन करते हैं तो पाते हैं कि ये दार्शनिक इतिहासकार सम्पूर्ण इतिहास की दिशा का निर्धारण करने और उसके समर्थक प्रमाणों के बारे में पूरी तरह उलझन में फंसे हैं और इसीलिए पॉपर जैसे विचारकों ने उनके विचार की तीव्र आलोचना करके दावों का युक्तियुक्त खण्डन किया है।

लेकिन दुर्भाग्य यह है कि विद्वान आलोचकों ने भी अबतक इतिहासविषयक उदारवाद और ऐतिहासिकतावाद (हिस्टोरिसिस्म) के बीच संघर्ष का समुचित समाधान नहीं किया है।

इन विद्वानों में कलिंगवुड एक अपवाद है, क्योंकि वह अपने विवेचन में एक स्थल पर समस्या के समाधान के बहुत नज़दीक पहुंच गया था, हालांकि अन्त में समस्या पर उसकी भी पकड़ ढीली हो गयी। कलिंगवुड ने एक स्थान पर इतिहास-ग्रन्थ और उपन्यास के बीच साम्य और अन्तर का संकेत किया है। उसके अनुसार, इन में अन्तर यह है कि इतिहास घटनाक्रम के जिस सुघड़ चित्र को बनाकर प्रस्तुत करना चाहता है उसे, जहां तक सम्भव हो, सत्य भी होना चाहिये। इतिहासिक वृत्तान्तों में सत्यता का जो दावा होता है उसके कारण से इतिहास-प्रबन्धों पर तीन नियम लागू होते हैं, जो उपन्यासों पर लागू नहीं होते। वे हैं—(१)इतिहासकार द्वारा निर्मित चित्र का देश और काल में सुनिश्चित स्थान होना चाहिये। (२) समस्त इतिहास में आत्म-संगति होनी चाहिये क्योंकि जो वास्तव में घटित घटनाएं हैं उनमें परस्पर विसंगति और विरोध संभव नहीं हैं। **दूसरे शब्दों में, सभी इतिहास एक ही इतिहासिक जगत् के ऐसे खण्ड या अंश हैं जो परस्पर गुम्फित होकर उस इतिहासिक जगत् का निर्माण करते हैं।** (३) इतिहासकार द्वारा निर्मित चित्र साक्ष्य-प्रमाणों की भीत पर खड़ा होता है।

गैली के मतानुसार दूसरा नियम इतिहास-लेखन की प्रविधि के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इस नियम के मूल में एक इतिहासिक जगत् का विचार है जो स्वयं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्याख्यापेक्षी है। यह एक इतिहासिक जगत् कोई ऐसी अर्धपार्थिव पूर्णता नहीं होती जिसमें से प्रत्येक इतिहासकार इतिहासिक वृत्तान्तों के छोटे-छोटे खंड काटता चलता है। इसकी अधिक सम्यक् व्याख्या यह होगी कि हम किसी इतिहासकार द्वारा प्रदत्त अतीत मानवीय घटना-समष्टि के विवरण को तभी स्वीकार करेंगे जब वह अन्य घटना-समष्टियों के स्वीकृत इतिहासिक विवरणों से संगत हो। लेकिन तब भी एक कठिन विधिमूलक समस्या शेष रहेगी। वह यह कि हम इस बारे में कैसे आश्वस्त होंगे कि एक इतिहासकार ने एक वृत्तान्त देने से पूर्व सभी प्रासंगिक सामग्री और उपलब्ध साक्ष्यों को देख लिया है।

इसलिए कलिंगवुड ने हमें जो परिदृष्टि दी है उसे दो अलग-अलग दिशाओं से अधिक पूर्ण बनाना होगा। प्रथम तो हमें यह मानना होगा कि जो सम्बन्ध एक इतिहासिक जगत् और इतिहासिक कृतियों में आत्मसंगति की शर्त के बीच है वह आधार-आधेय का नहीं है बल्कि परस्पर-फलन (म्यूचुअल एन्टेलमेंट) का है। द्वितीय, एक इतिहासिक जगत् कोई अर्धपार्थिव पूर्णता न होकर मात्र एक उपयोगी बौद्धिक उपकरण है, जिसकी तुलना हम कांट द्वारा बताये "विचारों के व्यवस्थापक नियमों" से कर सकते हैं।

कलिंगवुड के द्वितीय नियम में द्विविध संशोधन का उपर्युक्त प्रस्ताव तब और भी अधिक युक्तियुक्त हो जाता है जब हम एक अन्य प्रश्न को भी उठाते हैं जिसे स्वयं कलिंगवुड ने नहीं उठाया था, यथा इतिहास कहां से उद्भूत होते हैं ? "अथवा" किन परिस्थितियों में नये इतिहास-चिन्तन की आवश्यकता उत्पन्न होती है ?

गैली ने इस प्रश्न का विस्तृत विवेचन करके कहा है कि सभी इतिहासिक कृतियों का पूर्वाधार एक प्राप्त परम्परागत निधि होता है। यह परम्परागत निधि हमें दन्त-कथाओं, स्मृतियों, आत्मकथाओं, पौराणिक आख्यानों आदि के रूप में उपलब्ध होती है और यह कुछ न कुछ साक्ष्यों द्वारा समर्थित भी होती है। **पुनः**, यह **ऐसी परम्परागत निधि होती है जिसके संरक्षण, संवर्धन और अधिक स्पष्टीकरण में एक पूरे समाज की अविच्छिन्न अभिरुचि होती है।** बिना इस अभिरुचि के तो कोई इतिहासिक शोध आरंभ होगी ही नहीं। लेकिन इस अभिरुचि के अलावा इस बात की भी ज़रूरत होती है कि कोई संवेदनशील और साहसी व्यक्ति इस परम्परागत निधि के किसी अंश से असंतुष्ट हो। जब कोई व्यक्ति पाता हैकि उसके पास कुछ ऐसी जानकारी है जो घटनाओं के घटित होने के उपलब्ध वृत्तान्त से मेल नहीं खाती तो फिर वह परम्परा के उस असंगत अंश को हटाने के लिए नये इतिहास लेखन की ओर उन्मुख होता है।

इस सन्दर्भ में यह द्रष्टव्य है कि कलिंगवुड ने इतिहासकारों के आत्मसंगत होने के जिस दायित्व का उल्लेख किया है वह वास्तव में इस बात की एक बौद्धिक मांग है कि इतिहासकार संकुचित दृष्टि वाले व्यक्ति नहीं होने चाहियें, बल्कि उनमें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संवेदनशीलता इतनी व्यापक होनी चाहिए कि वे अपने विषय से सम्बद्ध सभी सामग्री का अध्ययन करके ही अपनी कोई राय कायम करें। तभी वे पाठक को बता सकते हैं कि वास्तव में क्या हुआ।

लेकिन यह बात कहकर हम फिर एक बार उसी पुराने उभयतोपाश (डायलमा) का साक्षात्कार करते हैं। एक तरफ तो इतिहासकार इस आदर्श-मूलक मांग के प्रति आकृष्ट होता है कि वह एक इतिहासिक जगत् को स्वीकार कर ले, दूसरी तरफ वह इस आदर्श को इसलिए नहीं प्राप्त कर सकता क्योंकि इतिहासिक चिन्तन सदैव चयनात्मक होता है और यदि इतिहासकार चाहे तब भी वह सभी सम्बद्ध सामग्री का सम्पूर्ण निरीक्षण करने में असमर्थ होता है।

लेकिन इस अपरिहार्य विरोधाभास के कारण इतिहासिक कृतियों का लिखना निष्फल नहीं हो जाता। इसका कारण यह है कि हम एक इतिहासिक जगत् के आदर्श को थोड़े सीमित अर्थ में भी ले सकते हैं। तब इससे हमारा अभिप्राय इतिहासकारों के बीच मुक्त वैचारिक आदान-प्रदान द्वारा उस समय उपलब्ध किसी भी इतिहासिक विषय के ज्ञान से संसर्ग प्राप्त करना होता है।

इतिहास की सम्भावना केवल इसलिये नहीं है कि उसकी अध्येय वस्तु मानव के अतीत कार्यों के रूप में उपलब्ध होती है। उसकी सम्भावना इसलिये भी है कि किसी भी पीढ़ी के लोग, अपनी विशिष्ट तात्कालिक अभिरुचियों से प्रभावित होकर, अपने पूर्वजों के कुछ कार्यों को समझना चाहते हैं।

गैली की टिप्पणी है कि 'हमारा' इतिहास वे सब अतीत मानव कार्य हैं जिन्हें, उनमें हमारी व्यापक अभिरुचि के कारण, इतिहासकारों ने उत्तरोत्तर बोधगम्य बनाया है। यह "हम" कोई भी मानव-समुदाय हो सकता है, इससे विशेष समुदाय अभिप्रेत नहीं है। इस प्रकार हम इतिहास-लेखन की चौथी आवश्यकता तक पहुंच जाते हैं और वह है इतिहासिक वृत्तान्तों का सार्वजनिक रूप। इतिहासकार का बार-म्बार आह्वान इसलिए किया जाता है कि वह पाठकों के एक नये समुदाय के लिये, एक नयी पीढ़ी के दृष्टिकोण से, अतीत के उन कार्यों को फिर से व्याख्यायित करे जिनमें वह समुदाय अभी तक रुचि ले रहा है और जिनके प्रचलित वृत्तान्तों में उसे अब दोष नज़र आने लगे हैं।

अतः इतिहासिक चिन्तन का कार्य प्राप्त सामग्री की निरन्तर आलोचना, संशोधन और व्याख्या करना है।

इस प्रकार गैली हमें सभी इतिहासालेखों के दो स्थायी पक्षों का दिग्दर्शन कराता है। इतिहास के एक पक्ष का सम्बन्ध वर्ण्य घटनाओं के विश्लेषण और उनकी आलोचनात्मक व्याख्या से है और इसका दूसरा आवश्यक पक्ष घटनाओं के एक निश्चित समूह से एक ऐसे वृत्तान्त का निर्माण करना है जिसके द्वारा उस घटनाक्रम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की अपने चरम बिन्दु में निष्पत्ति पाठक की समझ में आ जाय। इसलिये इतिहास को कहानी का ही एक प्रकार मानना उचित है।

आक्षेप किया जा सकता है कि इतिहास कहानी नहीं है क्योंकि इसमें कहानी जैसा गठन और एकता परिलक्षित नहीं होती। यह ठीक है कि इतिहास का कलेवर विशाल होता है और उसमें पात्रों और घटनाओं की ऐसी भरमार रहती है जिसे सुघड़ता कठिनाई से ही दी जा सकती है। अधिकांश इतिहास कुछ थोड़े से व्यक्तियों के बारे में नहीं होते। वे तो व्यापक मानव-समुदायों के पीढ़ी दर पीढ़ी चलने वाले संघर्षों के बारे में होते हैं। और उन संघर्षों के विषय भी विशाल और बहुमुखी होते हैं। लेकिन फिर भी इतिहास की मूल–संरचना कथा–मूलक ही है। यदि हम संसार की कुछ विख्यात महान कहानियों को लें तो पायेंगे कि उनकी कथा-वस्तु भी कुछ वैसी ही अतिवैयक्तिक है जैसीकि कुछ इतिहासों की होती है। कहानी और इतिहास दोनों में ही कथ्यों के कुछ रूप ऐसे होते हैं जिनकी अन्तिम निष्पत्ति पात्रों की कई पीढ़ियों में जाकर क्रमशः पूरी होती है और जिसमें प्रत्येक चरण के पात्र अन्य चरणों के पात्रों से किसी एक महान् संयोजक विचार के द्वारा एकता के सूत्र में बांधे गये होते हैं।

इसके अलावा इतिहास और कहानी दोनों में ही हम पाते हैं कि कई अन्तिम स्थितियां अथवा कथित चरम-बिन्दु केवल अस्थायी होते हैं, क्योंकि एक घटना–समूह की निष्पत्ति से दूसरे घटना–समूह की उत्पत्ति सम्भव होती है और इस प्रकार जो एक कथा-धारा का अन्तःस्थल होता है वही दूसरी का आरम्भ स्थल हो जाता है। गैली ने संकेत किया है कि इतिहासिक कृतियों में प्राप्त एकत्व का स्वरूप कथा-साहित्य की उस विधा से मिलता–जुलता है जिसे साहित्यकार 'सागा' कहते हैं।

सम्पूर्ण इतिहास में हम कुछ ऐसे प्रभावपूर्ण मोड़ और प्रवृत्तियां पाते हैं जो अनेक पीढ़ियों के कर्त्ताओं के कार्यों को एक निश्चित रूप देकर उन्हें किसी निश्चित लक्ष्य की प्राप्ति के क्रम के रूप में परिवर्तित कर देती हैं। उदाहरण के लिए, हम 'दि पोलीनीशियन वार' अथवा 'दी डिक्लाइन एण्ड फाल आफ दि रोमन एम्पायर' जैसे इतिहास–ग्रन्थों को ले सकते हैं।

(३) सागा (saga). १२ वीं तथा १३वीं शताब्दियों में आइसलैंड में विरचित ऐसे गद्य वृत्तान्त हैं जिनमें उक्त प्रदेश के इतिहासिक अथवा पौराणिक वीरों की लम्बी जीवन-गाथायें वर्णित हैं।

गैली के अबतक के प्रतिपादन का सारांश यह है कि इतिहास ऐसी घटनाओं का एक क्रमबद्ध वृत्तान्त होता है जिसे इतिहासकार एक कहानी की विधा में रचता है। उसके पाठक इन घटनाओं से पहले से अर्ध–परिचित होते हैं और वह अब इन्हें यथास्थान विवेचनात्मक टिप्पणियों से मण्डित करके पुनः प्रस्तुत करता है। जहां–तक इतिहासिक कृतियों के पाठक का प्रश्न है, वह इतिहासकार से उन घटनाक्रमों के बारे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में, जिनसे वह अशंतः पूर्व परिचित होता है, एक व्याख्या प्राप्त करने की आशा करता है । यह व्याख्या विशिष्ट रूप से इतिहासिक व्याख्या होती है जिसमें साक्ष्य, विश्लेषण आदि का उपयोग पाठक का विश्वास और सहानुभूति जगाने और इतिहासिक संदर्भ को बोधगम्य बनाने में किया जाता है ।

अतः चौथे अध्याय में गैली उन विशिष्ट तत्त्वों का विशदीकरण करता है जिनसे कोई अपरिपक्व कथा-वस्तु एक सटीक इतिहासिक वृत्तान्त का रूप ग्रहण कर लेती है। ये तत्त्व सभी इतिहासिक कृतियों में प्रकट या अप्रकट रूप से पूर्वकल्पित रहते हैं । इन सैद्धान्तिक तत्त्वों का स्वरूप इतिहासिक वृत्तान्तों में दो प्रत्ययों—मानवीय प्रयोजन और घटनाओं की आकस्मिकता—के महत्त्व के विश्लेषण से स्पष्ट हो सकता है ।

साधारणतः इतिहास-चिन्तन का एक प्रमुख तत्त्व व्यक्तियों के प्रयोजनों, संकल्पों और चेष्टाओं का स्वरूप-ज्ञान माना गया है । ये व्यक्ति अलग-अलग अथवा साथ मिलकर अपने निजी अथवा समूहगत लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील हो सकते हैं ।

उपरोक्त मत काफी उपयुक्त प्रतीत होता है । लेकिन गैली के अनुसार अभी तक इस मत का कोई व्यवस्थित और युक्तियुक्त प्रतिपादन नहीं हुआ है । यही नहीं, कुछ लोग उपरोक्त मत को अतिशय नाममात्रवाद के सिद्धान्त से जोड़ देते हैं । इस सिद्धांत के अनुसार इतिहास-विवेचन में सामान्यात्मक वाक्यों के लिए कोई स्थान नहीं है, जबतक कि उनका प्रयोग किसी विशिष्ट घटना की व्याख्या-हेतु किसी युक्ति के मुख्य वाक्य के रूप में नहीं किया जाता । परन्तु गैली के अनुसार अतिशय नाम-वाद समीचीन सिद्धान्त नहीं है, क्योंकि इतिहासिक कृतियों में संस्थात्मक तथ्यों, यथा "प्रशासनिक नीति", "सुधार की प्रगति", "संविधान" आदि-का भी प्रचुर उल्लेख रहता है । और जिस रूप में हम इन संस्थात्मक तथ्यों में होने वाले परिवर्तनों का अनुशीलन करते हैं वह उससे भिन्न है जिसमें हम किसी एक व्यक्ति के विचारों और कार्यों को समझते हैं । लेकिन नामवादी तो इन संस्थात्मक तथ्यों का व्यक्तियों के विचारों और कार्यों में विघटन करके व्याख्यायित करने का निष्फल प्रयत्न करता है ।

फिर भी गैली नाममात्रवाद के विरोधी सिद्धान्त सामान्यमात्रवाद का भी पूर्ण समर्थन नहीं करता । अतिशय सामान्यमात्रवाद के अनुसार, जिसे गैली नहीं मानता, सभी व्यक्तिगत विचार और कार्य संस्थात्मक तथ्यों के माध्यम से ही समझे जा सकते हैं ।

नामवादी तो अपने पक्ष के समर्थन में इस लोक-साधारण सत्य को प्रस्तुत करता है कि वास्तविक सत्ता केवल विशिष्ट वस्तुओं और व्यक्तियों की ही होती है । इसलिए संस्थागत तथ्यों की चर्चा केवल एक ऐसा लाघव है जिसमें हम वास्तव

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में यह इंगित करते हैं कि किस तरह कुछ अलग-अलग व्यक्तियों ने अपनी विचारधारा की दिशा बदल दी ।

सामान्यमात्रवादी भी नामवादी से एक महत्वपूर्ण बात में सहमत हैं । वह यह कि कोई भी मूर्त क्रिया किसी न किसी व्यक्ति के अंगों की चेष्टा के माध्यम से ही सम्भव है । किन्तु इस तथ्य से यह सिद्ध नहीं होता कि परिवर्तन केवल व्यक्ति में होते हैं । सामान्यमात्रवादी के अनुसार सभी विशिष्ट रूप से मानवीय कार्य, चाहे वे व्यक्तियों के निजी लक्ष्यों की पूर्ति के लिए ही क्यों न हों, तभी व्याख्यायित हो सकते हैं जब उन्हें व्यक्तिगत भावों और प्रयोजनों के अतिरिक्त सामान्य रूप से स्वीकार्य कतिपय संस्थागत गतिविधियों की भी अभिव्यक्ति माना जाय । पुनः, इतिहास व्यक्तियों का ही नहीं होता । अधिक महत्वपूर्ण इतिहास तो संस्थाओं जैसी अमूर्त परन्तु वास्तव सत्ताओं का होता है । इतिहासकार इन सत्ताओं के इतिहास का उद्घाटन करके उन्हें भी ऐसा वृत्तान्त रूप दे सकता है जिसका बोधगम्य अनुशीलन किन्हीं व्यक्तिगत अभिकर्त्ताओं के नामों के अभाव में भी किया जा सके ।

गैली नामवादियों से इस बात में तो सहमत है कि हमें अमूर्त सत्ताओं को सजीव रूप देने की प्रवृत्ति को त्याग देना चाहिए । लेकिन वह सामान्यवादियों का भी इस बात में समर्थन करता है कि इतिहास मात्र क्रमागत विशिष्ट घटनाओं का घटाटोप नहीं है और न मानव-क्रिया से हमारा अभिप्राय केवल उन क्रियाओं से है जिन्हें पृथक्-पृथक् व्यक्ति एक-दूसरे का परिहार करते हुए करते हैं ।

फिर भी गैली का झुकाव एक ऐसे संशोधित नामवाद की ओर है जिसमें सामान्यवाद की ठोस युक्तियों को यथोचित स्थान दिया गया हो । वह कहता है कि यह ठीक है कि सामान्यवादी भी यह मानेगा कि किसी भी संस्थागत कार्य को करने वाले तो अलग-अलग व्यक्ति ही होंगे । लेकिन प्रायः हमें उन व्यक्तियों का न तो कुछ अता-पता मालूम होता है और न उनके कार्यों की कोई विस्तृत जानकारी ही उपलब्ध होती है । तो फिर हम यह ढकोसला क्यों करें कि संस्थाओं का इतिहास उनके अनाम सदस्यों का इतिहास है । नामवादी एक युक्ति देने का उपक्रम कर सकता है । वह कह सकता है कि ऐसी परिस्थिति में अनाम व्यक्तियों की ओर संकेत करना मूक चर (डेमी वेरियेबल) के प्रयोग की प्रख्यात विधि को प्रयुक्त करने के समान है । अर्थात् हम किन्हीं ऐसे अनाम व्यक्तियों को किन्हीं कार्यों के करने वालों के रूप में परिकल्पित करते हैं जिनका अता-पता हमें बाद में कभी ज्ञात हो जायगा ।

किन्तु गैली कहता है कि हम इस विधि का इतिहास में ईमानदारी से प्रयोग तभी कर सकते हैं जब हमें पहले से इस बात का सामान्य रूप से पर्याप्त ज्ञान हो कि कुछ संस्थाएं किस तरह कार्य करती हैं । और इस जानकारी का अर्थ यह है कि हम अपने उस कथित मूक चर को अपने पूर्वोपलब्ध ज्ञान-भंडार से कतिपय ऐसे लक्षण प्रदान करते हैं जो उसे कम से कम इतनी मांसलता दे सकें कि वह उस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यक्ति का स्थान ले सके जो 'सरकार का विरोधी', 'अधिनायक' 'जासूस', होने जैसा कोई संस्थागत कार्य एक विश्वसनीय रूप में कर सकने योग्य बनादें। अतः सिद्ध हुआ कि इतिहासकार द्वारा मूक चर की विधि का प्रयोग वास्तव में उसका ठीक उल्टा है जिसका प्रस्ताव नामवादी करता है। इतिहासिक सूझ एक निर्दिष्ट समाज में होने वाले उन परिवर्तनों पर केन्द्रित होती है जिन्हें संस्थाओं की गतिविधियों के बारे में हमारे सामान्य ज्ञान के सन्दर्भ में अर्थमयता प्रदान की जा सकती है।

अब दोनों मतों की ग्राह्य बातों को लेकर गैली कहता है कि इतिहासकार का प्रथम दायित्व तो ऐसे सामाजिक परिवर्तनों का साक्ष्य-समर्थित बोधगम्य निरूपण करना होता है जो विशिष्ट रूप से मानवीय अभिरुचियों के इसलिये विषय होते हैं क्योंकि वे व्यक्तियों के विचारों, योजनाओं, सफलताओं-असफलताओं आदि पर निर्भर करते हैं। परन्तु ऐसा करने के लिए इतिहासकार के लिये यह भी अपेक्षित है कि वह सामाजिक जीवन के बारे में अनेक प्रकार का सामान्य ज्ञान भी प्रस्तुत करे। यद्यपि सभी इतिहासिक कार्य व्यक्तिगत अभिकर्त्ताओं के हैं तथापि वे कार्य ऐसे हैं जिन्हें कोई भी अभिकर्त्ता तभी कर सकता है जब वह उनके द्वारा किसी न किसी संस्थागत भूमिका, यथा एक नागरिक, एक पूंजीपति, एक विद्रोही आदि, होने-का निर्वाह कर रहा हो।

गैली सामान्यमात्रवादियों से एक अन्य बात में भी सहमत है, वह यह कि इतिहासकार को इस बात की जानकारी, कि कोई भी व्यक्ति किसी संस्थागत भूमिका का निर्वाह कैसे करता है, इस ज्ञान से प्राप्त होती है कि अमुक प्रकार की साधारण सामाजिक परिस्थिति में हम व्यक्तियों से साधारणतः किस तरह के व्यवहार की आशा करते हैं।

इतना सब मानने के बाद भी गैली सामान्यमात्रवादियों के अन्तिम निष्कर्ष को नहीं मानता। वह नहीं मानता की इतिहास की मुख्य जिज्ञासा का विषय केवल ऐसे सामाजिक परिवर्तन हैं जिनके बारे में यह दिखलाया जा सके कि वे केवल सामाजिक गतिविधियों के बारे में हमारे साधारण ज्ञान के कुछ दृष्टांत रूप हैं। क्योंकि तब तो आज जिसे हम राजनीतिक इतिहास, सामाजिक इतिहास, आर्थिक इतिहास आदि कहते हैं उनका सम्पूर्ण विलय राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र में हो जायगा। लेकिन यह किसी भी प्रबुद्ध इतिहासकार को अभीष्ट नहीं हो सकता। इतिहासकार का कार्य तो सदा की भांति एक ऐसे वृत्तान्त को प्रस्तुत करना रहेगा जो हमें घटनाओं की किसी समष्टि के उसके ज्ञात अन्त तक पहुँचने को हमारे लिये इस प्रकार बोधगम्य बना दे कि उससे उस घटनाक्रम में हमारी अभिरुचि का अतिक्रमण न हो।

इसी प्रसंग में गैली की एक अन्य उल्लेखनीय टिप्पणी निम्नलिखित है। यद्यपि इतिहासिक अभिकर्त्ताओं के अधिकांश क्रियाकलाप उन सामान्य संस्थागत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विचारों के अन्तर्गत ही बोधगम्य होते हैं जिनके प्रतिनिधि बनकर वे लोग कार्य करते हैं, तथापि इतिहासिक कृतियों की दृष्टि से महत्वपूर्ण बात यह है कि उन अभिकर्त्ताओं ने किस भूमिका से अपनी किसी संस्थागत भूमिका का निर्वाह किया अथवा ऐसा नहीं कर पाए।

अन्त में गैली एकबार फिर इतिहासिक बोध में अनुप्रविष्ट दो महत्त्वपूर्ण लक्षणों का उल्लेख करता है : (१) किसी इतिहासिक वृत्तान्त के अनुशीलन में हम वास्तविक जीवन की उन सब प्रासंगिक घटनाओं पर दृष्टिपात करते हैं जिनके बीच से गुज़र कर कोई घटनाक्रम अपने चरम विन्दु की व्याख्या को न केवल उपयुक्त साक्ष्यों की सहायता से अपितु हर प्रकार के सामान्य सिद्धान्तों की व्यक्त अथवा अव्यक्त स्वीकृति के द्वारा भी प्रस्तुत करता है, बशर्ते कि इस प्रस्तावित व्याख्या से सम्पूर्ण घटनाक्रम की बोधगम्यता में कुछ न कुछ अभिवृद्धि हो।

पांचवें अध्याय में विशेष उल्लेखनीय यह है कि यहां आकर गैली स्वयं यह अनुभव करता है कि उसने इतिहासिक कृतियों और इतिहासानुशीलन की जो रूपरेखा अबतक प्रस्तुत की है उसमें कुछ महत्त्वपूर्ण संशोधनों की आवश्यकता इतिहासिक व्याख्या के बारे में उसके अपने ही मत से उत्पन्न होती है।

हम पाते हैं कि गैली इतिहासिक और वैज्ञानिक व्याख्या के प्रस्तुतीकरण के सन्दर्भों, उनकी तर्क-योजनाओं एवं उनके अभीष्टों में स्पष्ट अन्तर करता है। विशेष-कर गैली इस प्रचलित मत का खण्डन करता है कि इतिहास और विज्ञान में व्याख्या की तार्किक संरचना तो लगभग एकसी है लेकिन तुलनात्मक दृष्टि से इतिहासिक व्याख्या कुछ निकृष्ट प्रकार की सिद्ध होती है। गैली इस मत का प्रबल खण्डन करता है कि एक समान तार्किक संरचना के अन्तर्गत वैज्ञानिक व्याख्या तो पूर्ण व्याख्या है परन्तु इतिहासिक व्याख्या एक संक्षिप्त व्याख्या-मूलक रेखांकन है।

अपनी पूर्वोल्लिखित गवेषणा के सन्दर्भ में गैली बल देकर कहता है कि इतिहासिक व्याख्या की तार्किक संरचना और उसका कार्य दोनों इस बात से प्रभावित होते हैं कि इतिहासिक शोध अनिवार्यतः एक बोधगम्य वृत्तान्त के रूप में प्रस्तुत की जाती है। इतिहासिक वृत्तान्त के अनुशीलन की विशेषता यह है कि तद्विषयक बोध ठीक उसी प्रकार का नैसर्गिक बोध है जिसका परिचय हर साधारण व्यक्ति मानव-जीवन की घटनाओं को समझने में देता है। अतः वृत्तान्त के रूप में उल्लिखित हो जाने से ही घटनाएं आप से आप व्याख्यायित होकर पाठक के समक्ष आती हैं। इतिहासिक कृतियों में जिस वृत्तान्त पक्ष की बहुलता है वह स्वभावतः व्याख्यापेक्षी नहीं है, क्योंकि व्याख्या तो केवल उस घटना की ही अपेक्षित होती है जिसे अभी तक वृत्तांत के तंतुजाल में बुना नहीं जा सका है। फिर भी कुछ न कुछ तथ्य ऐसे होते हैं जिन्हें इतिहासकार सहज भाव से वर्ण्य वृत्तान्त में अनुप्रविष्ट नहीं करा पाता, क्योंकि उनकी तुक शेष घटनाओं से प्रत्यक्षतः नहीं बैठती।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस परिस्थिति में इतिहासकार को इन क्रूर और बेजोड़ तथ्यों को यत्नपूर्वक व्याख्यायित करने की आवश्यकता होती है, क्योंकि उसके व्यावसायिक दायित्व की यह मांग है कि वह न तो उनकी उपेक्षा करे और न वृत्तान्त के प्रवाह से अलग-थलग ज्यों का त्यों छोड़ दे।

यही इतिहासिक व्याख्या के प्रादुर्भाव का व्यावहारिक सन्दर्भ है। अब देखना है कि क्या उस हठीली और बेजोड़ घटना की व्याख्या ठीक उसी तार्किक संरचना के अन्तर्गत सम्भव है जिसका प्रयोग वैज्ञानिक करते हैं? वैज्ञानिक व्याख्या 'आच्छादक-नियम-प्रतिमान' अथवा "प्राक्कल्पित-निगमन-प्रतिमान" के अन्तर्गत होती है जो निम्न प्रकार है :—

प्रयुक्त परिकल्पना अथवा साधारणीकरण

आरम्भिक परिस्थितियों का निर्देश

निष्कर्ष अथवा प्रदत्त तथ्य

परन्तु गैली दिखलाता है कि इस व्यवस्था के अन्तर्गत इतिहासालेखों में कोई भी व्याख्या सफलतापूर्वक नहीं दी जा सकती, क्योंकि इसमें तो व्याख्यापेक्षी व्यष्टि-घटना का सारा वैशिष्ट्य समाप्त हो जायगा। वह सजीव न रहकर मृत हो जायगी। इस अवांछनीय स्थिति से बचने के लिये गैली इस सामान्यतः उपेक्षित तथ्य की ओर ध्यान केन्द्रित करता है कि इतिहासिक घटनाओं की व्याख्या का सदैव कोई न कोई व्यावहारिक (प्रेग्मेटिक) पक्ष होता है।

इस व्यावहारिक दृष्टिकोण को ध्यान से देखने पर पता चलता है कि इतिहासिक वृत्तान्तों में व्याख्या की भूमिका मुख्य न होकर सहायक होती है। अर्थात् इतिहासिक कृतियों में व्याख्या, वर्ण्य घटना-क्रम के सहज प्रवाह को रोककर, बाहर से किया गया निरीक्षण है।

वृत्तान्तों में वर्ण्य घटनाक्रम पाठकों के लिए तत्काल बोधगम्य होता है, क्योंकि उन्हें कुछ ऐसे साधारणीकरणों का पूर्व ज्ञान होता है जिनके द्वारा वह आगामी घटनाओं का "क्रमिक निरीक्षण" (प्रोग्रेसिव ऑब्ज़रवेशन) कर सकता है। लेकिन घटनाओं की इस तात्कालिक बोधगम्यता को उनकी सायास व्याख्या नहीं कहा जा सकता। जब पाठक को कुछ अटपटा या अनहोना ही नहीं लग रहा हो तो फिर उसे व्याख्या की आवश्यकता ही क्या है?

किन्तु फिर भी यह मानना भूल होगी कि प्रत्येक इतिहासिक वृत्तान्त निरपवाद रूप से स्वतः व्याख्यायित होता है। क्योंकि फिर तो इतिहास में व्याख्या अनावश्यक हो जायगी। परन्तु व्यवहार में ऐसा नहीं है, क्योंकि सावधानी से बुना हुआ वृत्तान्त का तन्तुजाल भी अनेक कारणों से कई स्थलों पर अपूर्ण अथवा खण्डित होता है। दूसरे शब्दों में, जिन साधारणीकरणों का प्रयोग घटनाओं के क्रमिक निरीक्षण के लिए किया जाता है वे कुछ घटनाओं को तो मानो निर्वर्तित हो जाते

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं और हमारे बोध में एक रिक्तता आ जाती है। इस स्थिति में संवेदनशील इतिहासकार के लिए सावधान रहना आवश्यक होता है। इसके लिये वह घटनाक्रम पर पुनः दृष्टिपात करके उन अननुविद्ध घटनाओं को अनुस्यूत करने के लिए किसी नये व्याख्या-सूत्र की खोज आरम्भ करता है। तदर्थ इतिहासकार प्रयुक्त साधारणीकरणों में या तो सप्रयोजन संशोधन करके अथवा किसी अन्य साधारणीकरण का प्रयोग कर उन घटनाओं की संगति बैठाता है।

इतिहासिक वृत्तान्त में सहज रूप से अनुप्रविष्ट अनेकानेक व्याख्यात्मक शब्द, जैसे "इसलिए", "कारणवश" आदि वास्तव में व्याख्या-मूलक न होकर मात्र वृत्तान्त मूलक होते हैं। एक उदाहरण लें "राष्ट्रपति के पास यह समाचार अब पहुँच चुका था, इसलिये उन्होंने निम्न आदेश जारी किया"। यहां ऐसा लगता है कि "इसलिए" शब्द से पहले का वाक्यांश उसके बाद के वाक्यांश की व्याख्या है। परन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है। यहां यदि हम "इसलिये" के स्थान पर "तदुपरान्त" शब्द लगा दें तो भी अर्थ वही बना रहेगा, किन्तु तब इस वाक्य के वृत्तान्त-मूलक होने में कोई सन्देह नहीं रहेगा।

जैसाकि प्रायः होता है, कालान्तर में किसी भी घटना-समष्टि का अत्यन्त श्रेष्ठ वृत्तांत भी नयी अपेक्षाओं के सन्दर्भ में अपर्याप्त और असन्तोषजनक हो जाता है। ऐसा दो कारणों से सम्भव है प्रथम, सहयोगी विज्ञानों में प्रगति होने के कारण परवर्त्ती इतिहासकार को कोई ऐसा नया सैद्धान्तिक व्याख्या-सूत्र मिल जाता है जिससे वह या तो एक सम्पूर्ण घटना-क्रम को पहले से अधिक बोधगम्य रूप में प्रस्तुत कर सकता है, अथवा वह पहले उपलब्ध वृत्तान्तों में किसी अव्याख्यायित घटना की व्याख्या कर सकता है। दूसरे, कुछ ऐसे नये प्रामाणिक इतिहासिक तथ्य प्रकट हो सकते हैं जिनके कारण कोई परम्परागत वृत्तान्त अब सदोष प्रतीत होता है।

अतः यह निर्विवाद है कि किसी भी युग अथवा घटना-समष्टि के इतिहासिक वृत्तान्तों को पुनः लिखने की निरन्तर आवश्यकता बनी रहती है। हर युग अपने समय की प्रचलित रुचियों, सैद्धान्तिक मान्यताओं और स्वीकार्य साक्ष्यों के सन्दर्भ में ही अतीत के किसी खण्ड पर दृष्टिपात करने को प्रेरित होता है।

पुस्तक के अन्तिम पांच अध्यायों में दिखाया गया है कि विविध बौद्धिक जिज्ञासाओं, विशेषकर दार्शनिक समस्याओं, के सम्यक् अनुशीलन के लिए उनका इतिहासिक परिप्रेक्ष्य में विवेचन किस प्रकार अत्यन्त प्रबोधक हो जाता है। इन अध्यायों का विशिष्ट महत्व यह है कि उनमें शैली द्वारा प्रतिपादित इतिहासिक बोध के सिद्धान्त को बौद्धिक जिज्ञासा के विभिन्न क्षेत्रों में लागू करके यह दिखलाया गया है कि किस प्रकार उसके समुचित उपयोग से हमें अनेक आसंग घटनाओं के बीच से संक्रमण करती हुई मानव की बहुमुखी साँस्कृतिक सृजनशीलता का अप्रतिम आभास मिलता है। इस प्रकार की समस्या के दृष्टिकोण से हमारे लिए छठे, सातवें और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दसवें अध्यायों का विवेचन अधिक उपयोगी है, और केवल उन्हीं पर विचार किया जायगा।

सर्वप्रथम गैली यह दिखलाता है कि इतिहासिक पद्धति एवं तज्जन्य उपलब्धियों के विभिन्न बौद्धिक क्षेत्रों में सदुपयोग और दुरुपयोग से उसका क्या अभिप्राय है। अन्त में गैली अपने अध्ययन का समापन यह दिखलाकर करता है कि तत्त्वचिन्तन और इतिहास में किस प्रकार का पारस्परिक सम्बन्ध है।

यह हम पहले ही देख चुके हैं कि इतिहासिक बोध का विज्ञान के क्षेत्र में उपलब्ध बोध से घनिष्ठ सम्बन्ध है। दोनों में सामान्य सिद्धान्तों की भिन्न किन्तु महत्त्वपूर्ण भूमिका है किन्तु इतिहासिक बोध साधारणीकरणों की उपस्थिति के बावजूद बोध, स्वायत्त और विलक्षण बना रहता है। इसका कारण यह है कि इतिहासिक बोध में हम किसी भी प्रकार की वैचारिक क्रिया के अन्तिम प्रतिफल को उसकी समस्त क्रमागत पूर्ववर्ती घटनाओं पर विहंगम दृष्टि डालकर ही समझ पाते हैं। अतः इतिहासिक बोध का महत्त्व आगामी घटनाओं की भविष्यवाणी करने में नहीं होता। भविष्यवाणी के लिए इतिहासिक बोध का उपयोग सर्वथा अयुक्त है, क्योंकि उसका क्षेत्र तो केवल व्यतीत घटनाक्रम तक ही सीमित रहता है। इतिहासिक बोध कुछ न कुछ भविष्योन्मुखी भी होता है। साथ ही उसका सम-सामयिक व्यावहारिक महत्व भी होता है। इसके द्वारा हम क्रमशः उभरती मानवीय स्थिति के विविध पहलुओं से, चाहे वे प्रत्यक्षतः कितने ही अप्रत्याशित क्यों न हों, सावधानी और आत्मविश्वास से निबटने के लिए प्रेरित होते हैं। इस दिशा में इतिहासिक बोध तीन प्रकार से सहायक होता है। प्रथम, इससे हमें पता चलता है कि हम वर्तमान में क्या हैं और अतीत में कहां से चलकर यहां आये हैं। द्वितीय, इसके द्वारा न केवल हम अपनी आगामी कठिनाइयों का कुछ आंशिक पूर्वाभास पाते हैं बल्कि जब वे सामने आ खड़ी होती हैं, तब हम अपने को बिल्कुल लाचार नहीं पाते; क्योंकि हमें पता रहता है कि हमारे पूर्वजों ने भी वैसी ही कठिनाइयों से जूझकर उन पर सफलता प्राप्त की है। अन्तिम, इतिहासानुशीलन से हमें यह शिक्षा भी मिलती है कि बदलने से जो मूर्त नैतिक समस्याएं प्रकट होती हैं उनके लिये, नैतिक व्यवहार की दृष्टि से, हमारे लिये क्या करना अथवा नहीं करना अधिक उपयुक्त होगा।

सारांश यह कि इतिहासिक-बोध का स्वरूप भविष्य-निर्धारणात्मक नहीं होने पर भी वह भविष्य-दृष्टि देता है और इतिहासिक भविष्य के विनियोजन में कुशल बनाता है। यह बोध नैतिक निर्णयों में हमारे लिये विशेष रूप से सहायक होता है। इसका कारण यह है कि हमें नैतिकता के व्यापक संस्थागत पक्ष का पर्याप्त ज्ञान इतिहासानुशीलन से ही प्राप्त होता है। एक संस्था की सेवा हम तबतक नहीं कर सकते जबतक उसके नैतिक मूल्य में हमारी निष्ठा नहीं हो। इतिहास ही हमें सिखाता है कि वे कौन सी संस्थाएं हैं जो समय की कसौटी पर बारम्बार खरी उतरी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं—और यह कि महत्त्वपूर्ण संस्थाएं भी तब कैसे विगलित और विनष्ट हो जाती हैं जब उनसे सम्बद्ध सदस्य उन्हें अक्षुण्ण बनाये रखने में पर्याप्त सतर्कता और अध्यवसाय का परिचय नहीं देते। संक्षेप में, विविध मानवीय संस्थाओं की उपयोगिता और उनके मूल्य के बारे में मान्यताएं तभी अधिक पुष्ट होती हैं जब वे पहले से ही इतिहासिक समीक्षा द्वारा स्पष्ट रूप में अभिव्यक्त हो जाती हैं।

सातवें अध्याय में गैली ने इतिहासिक बोध और दर्शन के बीच सम्बन्ध को लेकर प्रचलित भ्रांतियों का निराकरण किया है और फिर उनके यथार्थ पारस्परिक सम्बन्ध का सूक्ष्म विवेचन किया है।

गैली दिखलाता है कि, एक ओर तो कुछ विचारक यह आक्षेप लगाते हैं कि दार्शनिक अपने अध्ययन में इतिहास के भार से आवश्यकता से अधिक दबे रहते हैं और दूसरी ओर यह भी एक तथ्य है कि, कुछ थोड़े से अपवादों को छोड़कर, अधिकांश दार्शनिकों ने सामान्य बौद्धिक जीवन में अपनी इतिहासिक भूमिका के प्रति लगभग पूरी उपेक्षा प्रदर्शित की है। विशेषकर आधुनिक युग के दार्शनिकों ने तो बारम्बार यह घोषणा की है कि वे अपने चिन्तन का आरम्भ पिछले सभी प्रभावों को मिटाकर एक सपाट कागज़ पर कर रहे हैं। दार्शनिकों द्वारा अपने चिन्तन के पूर्ण रूप से मौलिक होने के दावों के उपरान्त भी हम पाते हैं कि पीढ़ी-दर-पीढ़ी हर युग के दार्शनिकों के चिन्तन में चर्चित आधारभूत समस्याओं की दृष्टि से आश्चर्यजनक साम्य रहा है। अतः हम यह पूछने को बाध्य होते हैं कि उन लगभग स्थायी संस्थागत ढांचों (फ्रेमवर्क्स) का उद्भव किस प्रकार हुआ जो सभी दार्शनिकों की चिन्तन-क्रिया में उत्कीर्ण हैं। यह प्रश्न निश्चय ही इतिहासिक है। इसके अध्ययन का मुख्य प्रयोजन स्वयं दार्शनिकों को यह दिखलाना है कि वे कौन से बौद्धिक कार्य हैं जिन्हें वे दार्शनिक-चिन्तन के हेतु प्रायः अभ्यासवश किया करते हैं।

तदुपरान्त गैली दार्शनिक चिन्तन में परिलक्षित कतिपय मौलिक प्रत्ययों एवं मूलभूत समस्याओं के संस्थागत लक्षणों का अनुसंधान करता है जिससे वह दार्शनिक चिन्तन में व्याप्त उस विरोधाभास का स्पष्टीकरण कर सके जिस पर उसने हमारा ध्यान आरम्भ में ही आकृष्ट किया था। संक्षेप में, विरोधाभास यह है कि जहाँ एक ओर दार्शनिक चिन्तन का क्षेत्र उसकी परम्परागत मूल समस्याओं के समाधान के अनेक क्रान्तिकारी दावों से पटा पड़ा है वहां, दूसरी ओर, हर कथित कोपरनिकन क्रान्ति के बाद, वही अनिराकृत समस्याएं लगभग पहले जैसे रूप में लगातार पुनरूज्जीवित होती रहती हैं। इस विरोधाभास की इतिहासिक पृष्ठभूमि के उद्घाटन का यह लाभ है कि हम दार्शनिक चिन्तन के कथित प्रगतिहीन स्वरूप के उपरान्त भी उसकी अनिवार्यता और उपयोगिता को अधिक स्पष्टता से समझ सकते हैं।

पश्चिम में दर्शन मूलतः एक अकादमिक विषय ही बना रहा है। जिन प्रश्नों से इसका सम्बन्ध रहा है वे निर्भर प्रश्न ही माने जाते हैं। अर्थात् वे प्रश्न ऐसे हैं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जो अन्य विज्ञानों या अध्ययनों के मूलभूत प्रत्ययों तथा तज्जन्य बौद्धिक उलझनों पर दृष्टिपात करने से उत्पन्न होते हैं। दार्शनिक अध्ययन का यह निर्भर स्वरूप दार्शनिक चिन्तन के तीनों मुख्य आयामों, तर्कशास्त्र, ज्ञानमीमांसा एवं नीतिशास्त्र में स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

दो हज़ार वर्षों से अधिक के गहन चिन्तन के बाद भी इन तीनों विधाओं में अन्तर्भूत चिन्तन का अप्रगतिशील रूप छिपाया नहीं जा सकता। केवल एक उदाहरण से ही यह बात साफ हो जायगी : पिछले सौ वर्षों में नवीन आकारिक तर्कशास्त्र की अन्यतम उपलब्धियों के उपरान्त भी प्राचीन तर्कशास्त्र के अनुयायी आज भी यह ठीक दावा कर सकते हैं कि अरस्तू के तर्कशास्त्र ने सीमांकन की जिन समस्याओं के समाधान का लगभग निष्फल प्रयत्न किया था वे समस्याएं आज भी पहले जैसे ही खड़ी हैं। गैली के इस कथन के दृष्टांत के रूप में हम बार्टले द्वारा पॉपर के उन दावों के खण्डन को ले सकते हैं जिनमें पॉपर ने सीमांकन की समस्याओं के निर्णायक समाधान की बात कही गयी है (४)

फिर भी दर्शनिक लोग हार मान कर बैठ क्यों नहीं जाते ? यह बात क्यों विचारणीय नहीं है कि दार्शनिक चिन्तन पर भी कभी पटाक्षेप होगा ?

गैली दर्शन के इतिहास की परीक्षा द्वारा दिखलाता है कि दार्शनिक चिन्तन क्यों अभीतक जीवन्त है। पाश्चात्य दर्शन के इतिहास में सुकरात के समय से (और उससे भी पहले से)एक विचार-द्वन्द्व विद्यमान रहा है। यह द्वन्द्व ही दार्शनिक चिन्तन की मूल प्रेरणा का स्रोत बना है। सभी निर्भर या द्वितीय स्तरीय प्रश्न और उनके सम्प्रेषित उत्तर मानो केवल वैकल्पिक अनुसंधानात्मक दृष्टि-बिन्दु हैं जिनका इतिहासिक कार्य बौद्धिक जिज्ञासा के अन्य क्षेत्रों में चिन्तन को व्यवस्थित करके उसे आगे बढ़ाना है। लेकिन यह दृष्टि-बिन्दु अपने-आप में नये ज्ञान की खोज और प्राप्ति के उपकरण नहीं हो सकते। वे मानो पृष्ठभूमि से ही क्रियाशील रहते हैं। क्योंकि इन दृष्टि-बिन्दुओं का किसी प्रायोगिक विधि से सत्यापन सम्भव नहीं है इसलिए यह स्वाभाविक है कि उनके जीवन्त रूप को सुरक्षित रखने के लिए उन्हें बारम्बार चुनौती देकर आलोचना के क्षेत्र में उतारा जाय, उनकी पुनः परिभाषा की जाय और इस परिभाषा को एक बार फिर चुनौती दी जाय। दर्शन का इतिहास इस बात का साक्षी है कि दार्शनिक चिन्तन अपनी विकलता को त्यागकर कभी भी शान्त रूढ़ि में परिणत नहीं हो सकता। दर्शन के अपने विशिष्ट द्वितीय स्तरीय अथवा निर्भर प्रश्न उन सब ज्ञान-विधाओं से सम्बद्ध हैं जो स्वयं प्रगतिशील हैं। इसीलिए, इस प्रगति के फलस्वरूप, हर अकादमीय पीढ़ी के लिए, एक प्रतिक्रिया के रूप में, नयी-नयी दार्शनिक

४. देखिये 'प्राब्लेम्स इन दि फिलॉसफी ऑफ साइंस' में बार्ट्ले का लेख—पृष्ठ ४०-६५.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चुनौतियां उभरती रहती हैं। लगता है कि दर्शन की अपनी अनिराकृत समस्याओं में भी कुछ ऐसा अदम्य आकर्षण है कि वे हर पीढ़ी के बुद्धिजीवियों के लिए वर्त्तमान समस्याएं बनी रहती हैं। दर्शन के मूल में विद्यमान उपरोक्त द्वन्द्वात्मक तत्त्व दो अन्य दिशाओं में भी विकसित हुआ है। प्रथम यह दर्शन के क्षेत्र से आगे बढ़कर, बौद्धिक जिज्ञासा के अन्य सभी क्षेत्रों में भी संक्रमण कर गया है। इसका फल यह हुआ है कि विवेचनात्मक चिन्तन की विधि को अब सभी जगह शीर्ष स्थान प्राप्त है। द्वितीय इस द्वन्द्व और तज्जन्य ज्ञानोपलब्धियों का प्रभाव पुनः दार्शनिक चिन्तन की मूल समस्याओं के प्रतिपादन पर पड़ा है। विशेषकर देकार्त के समय से तो दर्शन ने बारम्बार अपने ज्ञानविषयक सिद्धान्तों को संशोधित करके गणित एवं प्रायोगिक विज्ञानों की आश्चर्यजनक सफलताओं को विशिष्ट व्याख्या-सूत्रों द्वारा समझने का प्रयत्न किया है। फलतः वैज्ञानिक ज्ञान के स्वरूप तथा उसकी सफलता की व्याख्या के बारे में प्रतिस्पर्धी दार्शनिक धारणाओं ने एकबार फिर उस मूल द्वन्द्व को और अधिक उग्र रूप प्रदान किया है। दार्शनिक चिन्तन की इस सतत विक्षोभपूर्ण अवस्था की व्याख्या स्पष्ट रूप से इतिहासापेक्षी है। पहले तो दर्शन ने विज्ञान का हितैषी बनकर उसे, अपनी युक्तियों द्वारा, मध्यकालीन धार्मिक रूढ़िवाद के चंगुल से मुक्त कराया और वैज्ञानिक चिन्तन को व्यावहारिक दृष्टि से स्वायत्तता प्रदान कराई। फिर यही विज्ञान जब आशातीत सफलताएं प्राप्त करने लगा तो स्वयं दार्शनिक चिन्तन को विज्ञान से अपने अस्तित्व की सुरक्षा एवं अपने क्षेत्र की स्वायत्तता के लिये खतरा अनुभव हुआ। इसकी वजह यह थी कि वर्धमान आधुनिक विज्ञान एक उत्साही और ढीठ बालक के समान ज्ञान की एकमात्र युक्त विधा होने का दावा करने लगा। यही कारण है कि दर्शन में विज्ञान की युक्तता और उसके मूल्य के बारे में निरन्तर विमर्श चल रहा है। विज्ञान का बौद्धिक आश्रयदाता होकर भी दर्शन उससे संत्रस्त है और कदाचित् आगे भी रहेगा।

अब हमें इस बात का संकेत मिलता है कि क्यों, स्पष्ट और उल्लेखनीय प्रगति के अभाव में भी, दार्शनिक जिज्ञासा के क्षेत्र में द्वितीय स्तरीय प्रश्नों से जूझना समाप्त नहीं हो सकता। पाश्चात्य चिन्तन में व्याप्त द्वन्द्वात्मक तत्त्व, अपने दोनों परिणतियों सहित, विकास की इतिहासगत परिस्थितियों के प्रभाव से, पाश्चात्य बौद्धिक जीवन की सभी सामान्य प्रत्ययात्मक परियोजनाओं का अभिन्न अंग बन चुका है। मान्य समाधान के अभाव में भी, इस अनिराकृत समस्याओं की निरन्तर चर्चा ज्ञान की शेष सभी प्रगतिशील विधाओं के लिए मानो उर्वरक का कार्य करती है। वैचारिक संघर्ष के बिना तो हम पाश्चात्य बौद्धिक जीवन की कल्पना भी नहीं कर सकते। ये द्वन्द्व न केवल विविध विज्ञानों के अपने-अपने चिन्तन की परिधि के अन्दर ही हैं बल्कि सभी क्षेत्रों में वैज्ञानिक चिन्तन और उनसे सम्बद्ध द्वितीय स्तरीय प्रश्नों के बीच भी है। सारांश यह कि दार्शनिक चिन्तन के इतिहास के अनुशीलन से ही यह पता चलता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है कि दर्शन के वक्ष में व्याप्त विक्षोभ ज्ञान के अन्य क्षेत्रों में हुई प्रगति का कारण और परिणाम दोनों ही होता है। इस विशिष्ट इतिहासिक परिदृष्टि के बिना हमें समस्त दार्शनिक-चर्चा निरर्थक और समय की बरबादी ही प्रतीत होती है।

अन्त में गैली तत्त्वचिन्तन और इतिहास के बीच विवाद को लेते हैं। अपनी-अपनी दृष्टि से दोनों ही अध्ययन ज्ञान की मौलिक, अतिसामान्य और सर्व-व्यापक विधा होने का दावा करते रहे हैं। और इसलिए प्रत्येक का यह प्रयत्न रहा है कि दूसरे प्रकार के अध्ययन का उसमें अन्तर्भाव हो जाय।

तत्त्व-चिन्तन-मूलक सभी कथनों में एक बात सामान्य है : अनुभव के विभिन्न क्षेत्रों की परिधि में तथा उसके सभी क्षेत्रों में परस्पर, तत्त्वचिन्तन की अभिरुचि का विषय इन क्षेत्रों के कथनों की अवगम्यता (इन्टेलिजिबिलिटी) के विभिन्न प्रकारों का स्वरूप-निर्धारण और उनकी बोधगम्यता की मात्रा का अनुमापन होता है। अतः तत्त्व-चिन्तन की इतिहास में भी प्रत्यक्ष अभिरुचि है, क्योंकि वह भी ज्ञान का एक प्रकार है, और उसमें भी अवगम्यता के अनेक स्तर हैं। उधर तत्त्वचिन्तन का सम्पूर्ण कलेवर भी एक विशेष प्रकार की वैचारिक क्रिया का क्रमागत इतिहासिक परिणाम है। अतः इतिहास का भी यह दावा उचित है कि वह तत्त्वचिन्तन की सभी उपलब्धियों को अपनी विशिष्ट अध्ययन विधि से अधिक अवगम्य बना सकता है, जो अन्यथा सम्भव नहीं है।

तत्त्वचिन्तन के इस इतिहासगत स्वरूप के समर्थन में कुछ प्रबल युक्तियां कलिंगवुड ने अपनी पुस्तक 'एससे आन मैटाफिज़िक्स" में दी है। उसके अनुसार तत्त्वचिन्तन कतिपय निरपेक्ष पूर्व-मान्यताओं की प्रस्थापना एवं उनका विवेचनात्मक औचित्यीकरण है। फलतः इस विचार-क्रिया के सम्पादन के लिए विचारक द्वारा इतिहासिक विश्लेषण का आश्रय लेना आवश्यक है। इतिहासिक परिप्रेक्ष्य में ही हम किसी भी तत्त्वचिन्तन-प्रणाली के उस मूलभूत वैचारिक ढांचें का निर्माण कर सकते हैं जिसके अन्तर्गत एक विशिष्ट युग या सभ्यता के सभी महत्वपूर्ण प्रश्न उठाये जाते हैं। क्योंकि तत्त्वचिन्तन वह अध्ययन है जिसका सम्बन्ध सभी निरपेक्ष पूर्व-मान्यताओं के क्रमिक उद्घाटन से है इसलिए, एक युक्त ज्ञान विधा के रूप में, यह अध्ययन इतिहास-विधि के अनुगत ही हो सकता है। इसकी सफलता की कसौटी यह है कि वह दिखला सके कि किन विशिष्ट सांस्कृतिक एवं सभ्यता-मूलक परिस्थितियों में किन्हीं निरपेक्ष पूर्व-मान्यताओं का प्रथम उद्बोध होता है। और यह कि कैसे वे पूर्व-मान्यताएं उन मूल परिस्थितियों के कालान्तर में बदलने से रूपान्तरित होती रहती हैं। गैली कलिंगवुड के उपरोक्त विचार से केवल आंशिक रूप में सहमत है। कलिंगवुड के मत में, तत्त्व-चिन्तन के विकास को प्रभावित करने वाले वास्तविक इतिहासिक तथ्यों के सन्दर्भ में, कई स्थलों पर परिवर्तन की आवश्यकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रथम, गैली के विचार में कलिंगवुड का निरपेक्ष पूर्व-मान्यता का विचार अस्पष्ट है क्योंकि उसने निरपेक्ष और सापेक्ष पूर्व-मान्यताओं के बीच मनमाने रूप से अन्तर किया है।

द्वितीय, वस्तुस्थिति यह है कि तत्त्वचिन्तन के इतिहास में हमें केवल किसी एक निरपेक्ष पूर्व-मान्यता अथवा पूर्व-मान्यताओं के एक पुंज का ही अवगमन नहीं होता है। हम पाते हैं कि एक युग के आरम्भ में ही कई प्रतिस्पर्धी मान्यता-प्रणालियां एक-साथ प्रस्फुटित होती हैं और उनमें एक-दूसरे पर हावी होने के लिए संघर्ष चलता रहता है। तात्त्विक सिद्धान्त की कोई प्रणाली अपने प्रतिद्वन्द्वी से सदा के लिए हार नहीं मान लेती बल्कि प्रत्येक कथित पराजय के बाद वह शनैः शनैः पुनः शक्ति-सम्पन्न होकर फिर मैदान में उतर आती है। अतः तत्त्वचिन्तन की मूल-भूत प्रतिस्पर्धी प्रणालियां एक युग के बदलने पर भी सर्वथा विलुप्त नहीं होतीं। कुछ समय भूमिगत रहने के पश्चात्, नये युग के आरम्भ होने पर, वे ही नयी साज-सज्जा में फिर से प्रस्फुटित हो जाती हैं और उनके बीच का संघर्ष कुछ नयी दार्शनिक पदावलियों के माध्यम से पुनः आरम्भ हो जाता है।

अन्तिम बात और भी महत्त्वपूर्ण है। कलिंगवुड ने किसी युग के तत्त्वचिन्तन में उपलब्ध निरपेक्ष पूर्वमान्यताओं की किसी एक समष्टि और उसी युग में मान्य वैज्ञानिक नियमों के किसी वाक्य-समूह में व्याप्त सम्बन्ध को भलीभांति व्याख्यायित नहीं किया है। यह तो ठीक है कि किसी एक निरपेक्ष पूर्व-मान्यता-मूलक कथन से कोई विशिष्ट वैज्ञानिक परिणाम स्वतः फलित नहीं होता। लेकिन विज्ञान के किसी भी क्षेत्र में जब वैचारिक क्रान्ति का प्रादुर्भाव होता है तो उस क्रान्ति के यथार्थ स्वरूप की अभिव्यक्ति के लिये उपयुक्त तात्त्विक कथनों की आवश्यकता थोड़े समय बाद अनुभव की जाती है और इससे तत्त्वचिन्तन की दिशा में कुछ न कुछ परिवर्त्तन आ जाता है।

उपरोक्त संक्षिप्त विवेचन से स्पष्ट है कि कलिंगवुड के मत में कई व्यापक संशोधन अपेक्षित हैं, ताकि उसका मत विचारों के इतिहास के ज्ञात तथ्यों के अधिक निकट आ जायें।

गैली के मतानुसार, विचारों के सामान्य इतिहास में अनेक तात्त्विक कथन विभिन्न विचार-प्रणालियों की संरचना के आवश्यक गत्यात्मक अंश बनकर उद्भूत होते हैं। यह द्रष्टव्य है कि इन गत्यात्मक अंशों की अन्तर्वस्तु भी ज्ञान की शेष सभी विधाओं में पूर्व-मान्यताओं के रूप में स्वीकृत के विचार होते हैं जो किसी युग में व्यापक रूप में स्वीकार किये जा चुके होते हैं। किन्तु इतिहासिक सन्दर्भ में ये सभी निरपेक्ष पूर्व-मान्यताएं अस्थायी सिद्ध होती हैं। इसलिए तत्त्वचिन्तन में इस बात की आवश्यकता बनी रहती है कि उसमें अन्तर्भूत सभी अस्थायी पूर्व-मान्यताओं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का उस काल के ज्ञान-भंडार पर जो सामान्य प्रभाव हो उसकी सही जानकारी प्राप्त करे। यह प्रभाव एकपक्षीय नहीं होकर अनैकान्तिक है। इसका सम्यक् ज्ञान एक सम्पूर्ण युग की विशिष्ट वैचारिक समस्याओं के व्यापक और विस्तृत विश्लेषण से ही सम्भव है।

अतः तत्त्वचिन्तन न विज्ञान है, न तर्कशास्त्र और न भाषा-विश्लेषण। इसका कार्य सम्पूर्ण चिन्तन-क्रिया का, उसके विभिन्न एवं विशिष्ट वैज्ञानिक सन्दर्भों में, उसी अर्थ में व्यवस्थापन है जिसका प्रतिपादन काण्ट ने अपने विवेचनात्मक दर्शन में किया था। तत्त्वचिन्तन के इस महान और अनेक पक्षीय कार्य को किसी एक संक्षिप्त सूत्र के द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता। उस कार्य को समझने के लिए तीन अन्य बातों का ज्ञान भी आवश्यक है। (१) किसी तत्व-विचारक द्वारा प्रतिपादित किसी भी तात्त्विक कथन का प्रतिद्वन्द्वी कथन क्या है? (२) उस विचारक ने किन विशेष युक्तियों द्वारा उक्त प्रतिद्वंद्वी कथन को खण्डित किया है? तथा (३) इस नये कथन का उपयोग वैज्ञानिकों ने अपनी किसी उल्लेखनीय समस्या को किसी विशिष्ट वैचारिक रूप में प्रस्तुत करने के लिए किस प्रकार किया है?

गैली ने तत्त्वचिन्तन के कथनों को ज्ञान की शेष विधाओं में प्रयुक्त कथनों के व्यवस्थापक के रूप में ही महत्त्व नहीं दिया है। उनका एक अन्य विशिष्ट महत्त्व भी है जिसका ज्ञान भी हमें तत्त्वचिन्तन के इतिहास के अनुशीलन से ही होता है। समस्त तात्त्विक कथनों, और उनसे निर्मित वैचारिक संस्थानों, में हम एक प्रकार की मौलिक भव्यता का भी दर्शन करते हैं। तात्त्विक कथनों के संस्थान एक निश्चित वैचारिक परिदृष्टि को भी बड़े उदात्त और साहसिक रूप में व्यक्त करते हैं। इतिहास बताता है कि, अनेक अन्तर्हित विरोधाभासों के उपरान्त भी, तत्त्वचिन्तन ही ऐसी एकमात्र ज्ञान-प्रक्रिया है जिसमें वे सब विकट संघर्ष प्रतिबिम्बित होते हैं जो मानव-सभ्यता की बारम्बार उच्छ्वसित होने वाली सम्प्रेरणाओं में निहित हैं। इस प्रकार अन्ततोगत्वा हम तत्त्वचिन्तन के द्वारा आत्मातिक्रमण के उस महान् समृद्ध अनुभव को भी प्राप्त करते हैं जो मानव की अपनी अनुपम इतिहासात्मकता के बोध की चरमोपलब्धि है।

अब हम गैली द्वारा प्रस्तुत इतिहासिक सूझ के सिद्धान्त का यथासंभव विवेचन करेंगे जिससे, उसके महत्त्व एवं उसकी युक्तता की समीक्षा हो सके। हम यह भी दिखलाने का प्रयत्न करेंगे कि गैली के अध्ययन में कौन सी अनिराकृत समस्याएं शेष हैं और उनके समाधान की दिशा क्या हो सकती है?

पहले हम गैली के अध्ययन की मुख्य उपलब्धियों की ओर एक बार फिर संकेत करेंगे।

प्रथम बात यह है कि गैली को इस बात का श्रेय दिया गया है कि उसने इतिहासालेखों के वृत्तान्तपरक पक्ष के स्वरूप का सुन्दर विवेचन किया है। गैली ने जिस प्रकार किसी इतिहासिक घटना-क्रम के आरम्भ से अन्त तक पहुंचने की प्रक्रिया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के वर्णन, और उस वर्णन को समझने में प्रयुक्त बोध की विशेषताओं का दिग्दर्शन किया है उससे हमें उन मौलिक संज्ञानात्मक तत्त्वों का पता चला है जो न केवल इतिहासालेखों के प्रस्तुतीकरण और अनुशीलन में समान रूप से मिलते हैं बल्कि जो खेल अथवा कहानी की संरचना में भी सरल एवं स्पष्ट रूप में परिलक्षित होते हैं।

इन मौलिक तत्त्वों के विश्लेषण में गैली ने उस अनुभव-सिद्ध अनैकान्तिक दृष्टि का परिचय दिया है जो अन्यान्य इतिहास-विवेचकों में प्रायः नहीं मिलती है। गैली का मत इसलिए उल्लेखनीय है कि इसमें उस परम्परागत पूर्वाग्रह का परित्याग किया गया है जिसके अनुसार समस्त प्रकार की वैचारिक प्रक्रियाओं की युक्तता एवं वैधता का एक ही तार्किक-रूप होना चाहिये। गैली मानता है कि मानवीय चिन्तन के विभिन्न क्षेत्रों को व्यवस्थित और व्याख्यायित करने के लिए किसी एक सार्वभौमिक तर्क-विधा की आवश्यकता नहीं है। अपितु विभिन्न प्रकार की बौद्धिक जिज्ञासाओं का नियमन और ज्ञापन करने के लिए विभिन्न प्रकार की तर्क-विधाएं अभीष्ट होती हैं। बौद्धिक जिज्ञासा तीन प्रकार के मौलिक विमर्शों में परिलक्षित होती है,यथा सैद्धान्तिक (अर्थात् आनुभविक विज्ञान-मूलक), व्यावहारिक (अर्थात् नीति-विज्ञान-मूलक) एवं इतिहासिक। इन सभी विमर्शों की अपनी अलग-अलग तर्क विधाए हैं जिनके स्वरूप के उद्घाटन पर आधुनिक विवेचनात्मक दार्शनिकों ने पर्याप्त बल दिया है। गैली भी इसी विचार-धारा का समर्थक है और उसने इतिहासिक ज्ञान की विशिष्ट तर्क-विधाओं का, घटना-समूहों में अनुप्रविष्ट आकस्मिकताओं के सन्दर्भ में निर्धारण किया है।

गैली की दूसरी उपलब्धि सब प्रकार की इतिहासिक शोधों में प्रस्तुत व्याख्याओं के विभिन्न प्रकारों एव उनके विशिष्ट सन्दर्भों और प्रयोजनों का विशद विवेचन है। विशेषकर गैली ने व्याख्या के "प्रयोगोपयुक्तता–सिद्धान्त" (एप्लीकेबिल्टी थ्योरी) को इतिहासालेखों पर भी ज्यों का त्यों लागू करने की रूढ़ि को चुनौती दी है। गैली ने यह भी दिखलाया है कि इतिहासिक कृतियों में उपलब्ध व्याख्या-अंश का वही महत्व नहीं है जो आनुभविक विज्ञानों में है। गैली ने इतिहासिक वृत्तान्तों में साधारणीकरणों के विशिष्ट और सीमित उपयोग तथा उसमें व्याख्या-अंश की गौण भूमिका को इतिहास और विज्ञान का एक विच्छेदक लक्षण भी सिद्ध किया है।

अन्त में गैली ने इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया है कि नये-नये इतिहास-ग्रन्थों की रचना एवं उनके अध्ययन का विशिष्ट सन्दर्भ क्या है ? गैली इस समस्या पर विचार करते हैं कि वह "एक इतिहासिक जगत्", जो सभी इतिहासिक-कृतियों की जिज्ञासा का केन्द्र-बिन्दु होता है, इतिहासकार के ग्रहण में पूर्णतः क्यों नहीं आ सकता और स्वयं इतिहास-ग्रन्थों के माध्यम से, सतत निर्माणाधीन रहता है। इस समस्या पर गैली के विचार हमें नयी दिशा में खोज करने के लिए प्रेरित करते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपरोक्त सभी बातें बड़ी सारगर्भित हैं। फिर भी इतिहासिक बोध के बारे में गैली की पर्यालोचना में अनेक कमियां हैं और उसमें कई समस्याएं अनिराकृत रह जाती हैं।

गैली ने इतिहासिक-कृतियों के कथात्मक पक्ष पर आवश्यकता से कहीं अधिक बल दिया है। निस्सन्देह अनेकानेक इतिहासिक वृत्तान्तों में कुछ कथा-पक्ष न्यूनाधिक मात्रा में सामान्यतः उपलब्ध रहता है। किन्तु इस कथा-पक्ष की उपस्थिति के बावजूद इतिहासिक कृति मात्र कहानी नहीं होती। उसमें अन्य अनेक पक्ष भी विद्यमान रहते हैं।

गैली अनेक स्थलों पर ऐसा कहते प्रतीत होते हैं मानो कथा-तत्त्व ही इतिहासिक वृत्तान्तों की आत्मा है और मानो यह कथा-तत्त्व ही वृत्तान्त के माध्यम से इस प्रकार अभिव्यक्त होता है कि घटनाओं का समुचित वर्णन-क्रम आप से आप उन्हें सहज रूप में बोधगम्य भी बना देता है। फिर भी यदि कहीं कोई अटपटी बात रह जाती है तो इतिहासकार थोड़ी देर के लिए वृत्तान्त का प्रवाह रोककर उसमें कुछ व्याख्यात्मक वाक्य भी कहीं-कहीं जोड़ देता है। अन्यथा तो वृत्तान्त के सतत् सहज प्रवाह में कहीं कोई रोक-टोक नहीं आनी चाहिये।

लेकिन यह बात इतिहासिक कृतियों के प्रत्येक रूप और प्रत्येक स्तर पर एक समान लागू नहीं होती। यदि हम कहानी को लें तो पायेंगे कि कुशल कहानीकार प्रायः बहुत कम व्याख्या देने का प्रयत्न करता है। और यदि वह कहीं कोई व्याख्या देता भी है तो वह अत्यन्त झीनी होती है। इसका कारण यह है कि कहानीकार जिन घटनाक्रमों को प्रस्तुत कर रहा होता है उनमें सभी पाठकों की अत्यन्त सहज और प्रबल अभिरुचि होती है, क्योंकि वे घटनाएं पाठकों के जीवन के बहुत ही समीप होती हैं। इसके विपरीत इतिहासिक घटनाएं विशिष्ट रूप से संकलित घटनाएं होती हैं और उनमें साधारण पाठक की कोई प्रबल अभिरुचि नहीं होती। वे घटनाएं प्रायः ऐसी भी होती हैं जो प्रत्येक व्यक्ति के जीवन को एक समान रूप से नहीं छूतीं और जिनके घटित होने के क्रम में कुछ न कुछ बौद्धिक समस्या अवश्य छिपी रहती है। यह समस्या घटना-प्रवाह के कुछ आवश्यक अंशों के अनुपलब्ध होने की हो सकती है, अथवा यह किन्हीं विशिष्ट अभिकर्त्ताओं के अपेक्षाकृत जटिल प्रयोजनों को जानने की ही हो सकती है। अथवा यह ऐसे किसी साधारण कारणता-परक नियम को जानने की हो सकती है जिसके द्वारा घटनाओं का एक पूर्ण समूह अधिक सहज रूप से व्याख्यायित हो सके। अथवा यह समस्या एक भलीभांति ज्ञात घटना समूह के आगे या पीछे होने वाली कुछ अन्य घटनाओं से उसके सम्बन्ध की हो सकती है। सारांश यह कि इतिहासकार बिना किसी प्रकार की समस्या को सामने रखे इतिहास नहीं लिखता। इसके विपरीत कहानीकार का उसके द्वारा प्रस्तुत वृत्तान्त की निजी रोचकता से अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। इतिहासकार अपनी समस्या का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रस्तुतीकरण और समाधान एक कथा-रूप वृत्तान्त के माध्यम से तो करता है। किन्तु वृत्तान्त का यह कथा-रूप इतिहासकार के लिए अपनी विद्वता और ज्ञान के प्रयोग और प्रदर्शन के लिए एक सुविधाजनक माध्यम मात्र है। उसका मुख्य लक्ष्य तो इतिहासिक सत्यों की प्राप्ति होता है। यह सत्य कहानी के माध्यम द्वारा प्राप्त होने पर भी स्वयं कहानी-रूप नहीं होता। इतिहासकार जिस इतिहासिक सत्य की खोज करता है उसके महत्त्व और प्रभाव का क्षेत्र उस विशिष्ट कहानी-रूपी घटनाक्रम से कहीं अधिक व्यापक होता है जिसे उसने अपनी किसी इतिहासिक शोध के निमित्त चुना होता है। यह एक गौण बात है कि इतिहासकार सम्पूर्ण इतिहासिक जगत् के किस खण्ड या अंश का अनुसंधान करता है, क्योंकि उसकी जिज्ञासा का मूल स्रोत तो स्वयंपूर्ण इतिहासिक जगत् होता है। इतिहासकार की अपनी सत्ता भी उस इतिहासिक जगत् के प्रवाह के अन्दर ही होती है जिसकी दिशा का वह अनुसंधान करता है। अतः इतिहासकारों की खोज में यह अपेक्षा सदा सन्निहित रहती है कि वे सब मिलकर उस इतिहासिक सत्ता का दिग्दर्शन करायें जिसने अपनी अभिव्यक्ति के लिए स्वयं इतिहासकारों की जिज्ञासा को उत्पन्न किया है। लेकिन कहानीकारों के द्वारा प्रस्तुत वृत्तान्तों में इस प्रकार की कोई अपेक्षा युक्तियुक्त रूप में प्रस्थापित नहीं की जा सकती। अतः इतिहास को कहानी के वृत्त में रखने के प्राविधिक प्रयत्न की केवल सीमित उपयोगिता ही है।

यदि हम कहानी और इतिहास के स्वरूप का निकट से अवलोकन करेंगे तो पायेंगे कि न तो हर प्रकार के इतिहास में और न विभिन्न कोटियों के इतिहास-कारों के ग्रन्थों में, कहानी-पक्ष की सदा एक सी भूमिका होती है। इतिहासानुगत कहानी गुणात्मक दृष्टि से उस कहानी से भिन्न होती है जो कहानीकारों द्वारा प्रस्तुत की जाती है।

कहानी जबतक मात्र कहानी होती है तबतक उसमें व्यक्तियों की अत्यन्त सार-गर्भित भूमिका रहती है, क्योंकि कहानी उन्हीं के इर्द-गिर्द घूमती है। किन्तु जैसे ही कोई कहानी इतिहासात्मक होती है उसमें तत्काल एक व्यक्ति का, एक व्यक्ति के रूप में, भाग गौण हो जाता है। वे अब भी उन्हीं घटनाओं को भोगते हैं और उसी भूमिका का निर्वाह करते हैं जो वे कहानी के पात्रों के रूप में कर रहे थे। लेकिन इतिहासानुविद्ध होते ही उनमें रूपान्तरण घटित हो जाता है और उनके कार्यों और सुख-दुःखों के बारे में हमारी अभिवृत्ति में आमूल परिवर्त्तन आ जाता है। कहानी के पात्रों के इतिहासानुविद्ध होते ही जो रूपान्तरण होता है व उस बोध या बुद्धि का प्रतिफल है जिसके द्वारा हम उन्हें अब मात्र व्यक्तियों के रूप में नहीं देखकर संस्थागत क्रियाओं और उद्देश्यों के परिचालकों के रूप में देखने लगते हैं।

यह द्रष्टव्य है कि जिस अनुपात में इतिहासिक अधिकर्त्ताओं के क्रिया-कलाप किसी न किसी संस्थागत सन्दर्भ में अतिवैयक्तिक लक्ष्यों की पूर्ति के लिए सुलभ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होते हैं, उसी अनुपात में किसी निर्दिष्ट घटनाक्रम को एक अनजाने लक्ष्य तक पहुंचाने में जो भूमिका है, घटनाओं की आकस्मिकता की जो भूमिका है, उसका ह्रास भी होता जाता है। इसका कारण यह है कि किसी अत्यन्त संकुचित इतिहासिक कृति में भी इतिहासकार की परिदृष्टि केवल कुछ गिने चुने व्यक्तियों के जीवन-क्रम और उनके भाग्य से कहीं अधिक व्यापक होती है। इतिहासकार जब किन्हीं गिने-चुने व्यक्तियों के बारे में बता रहा होता है तो भी वृत्तान्त-लेखन में उसका सन्दर्भ उन व्यक्तियों से बहुत दूर तक आगे और पीछे चला जाता है। इतिहासिक दृष्टिकोण से वे अभिकर्त्ता, जिनके कुछ चुने हुए क्रिया-कलापों का वर्णन किया जा रहा है, इतिहासात्मक होते ही घटनाओं की एक ऐसी विशाल धारा के अंश प्रतीत होने लगते हैं जिसके प्रवाह में उन विशिष्ट अभिकर्त्ताओं के अपने-अपने निजी और अस्पष्ट लक्ष्य खिंच और घुल-मिलकर एक उप-धारा के रूप में बह निकलते हैं। और इस प्रकार उन्हें अपने-आप एक अतिवैयक्तिक अर्थमयता प्राप्त हो जाती है क्योंकि इतिहासिक-कृति का आरम्भ ही अर्थमयता के बारे में किसी नूतन और व्यापक परिदृष्टि से होता है। किन्तु कहानीकार के लिए यह परिदृष्टि तनिक भी आवश्यक नहीं है। यदि हम घटनाओं को केवल व्यष्ट्यात्मक और परस्पर असम्बद्ध इकाइयों के रूप में लेंगे तो उनका कलेवर अत्यन्त विशाल, स्वरूपहीन और इतिहासिक बोध के लिए नितान्त बोझिल हो जायगा। प्रागितिहासिक युगों में भी अभिकर्ता और उनके क्रिला-कलाप प्रचुर मात्रा में थे। परन्तु उस युग का इतिहास इसीलिए दुर्बोध है क्योंकि क्रिया-कलापों के इस विशाल आकारहीन पिण्ड को बोधमय आकार प्रदान करने वाली संस्थागत संरचनाएं एवं मानक तबतक विकसित नहीं हो पाये थे। इससे एक अन्य बात भी स्पष्ट होती है वह यह कि संस्थागत मानकों और कार्यों के प्रारम्भिक निर्माण-काल में कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के क्रिया-कलाप इतिहासिक दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण होते हैं। लेकिन बाद में, जैसे-जैसे संस्थागत लक्ष्यों और उनकी प्राप्ति में संस्था के सदस्यों की भूमिका के बारे में सामान्य जानकारी बढ़ती है, व्यक्तियों की आप-बीती का महत्व इतिहासिक घटनाक्रम को आगे बढ़ाने में कम होता जाता है। आरम्भिक काल में न केवल संस्थात्मक संरचनाएं अधिक लचीली होती हैं बल्कि कुछ अधिक सूझबूझ वाले व्यक्ति उस संस्था के भावी महत्व को अपेक्षाकृत अधिक भलीभांति पहचान कर उस पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने की चेष्टा भी करते हैं। और इस प्रकार उस संस्था के विकास में उनके उद्देश्यों और कार्यों की भूमिका काफी प्रभावपूर्ण रहती है। लेकिन जैसे जैसे समय बीतता है संस्थात्मक संरचनाएं अधिक स्थिर हो जाती हैं, उनकी सदस्य-संख्या बढ़ जाती है और वे सभी सदस्य अपनी संस्थागत भूमिका के महत्व को अधिक भली प्रकार जानकर उसके प्रति अधिक निष्ठापूर्ण हो जाते हैं। इस प्रकार इतिहास के अन्दर ही व्यापक संस्थागत सामूहिक चेष्टाएं क्रमशः बलवती होती हैं। और जब

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऐसा होता है तो इतिहासिक अभिकर्त्ताओं को अधिकाधिक उन प्रतिद्वन्द्वी सामाजिक शक्तियों का ज्ञान होता जाता है जो संस्थाओं को क्षीण या पुष्ट करती हैं। इस प्रकार संगठित सामूहिक क्रिया की भूमिका घनीभूत होती है और जिस सीमा तक मनुष्य सामाजिक परिवर्तनों और चेष्टाओं के सामान्य नियमों को जानकर, और उनसे प्रतिबद्ध होकर, क्रियाशील होते हैं उस सीमा तक आकस्मिकताओं का महत्व घटता जाता है। दूसरे शब्दों में कुछ इतिहासिक परिणाम ऐसे होते हैं जिनकी प्राप्ति के लिए व्यष्टि अभिकर्ताओं के जीवन में घटित कुछ आकस्मिक घटनाएं न तो बड़ी अड़चनें बनती हैं और न उनसे कोई विशेष सहायता ही मिलती है।

सारांश यह कि इतिहास के प्रवाह में, घटनाक्रम के कुछ क्षेत्रों में, गिने चुने व्यक्तियों के जीवन की घटनाएं अन्तिम इतिहासिक परिणाम को कुछ विशेष प्रभावित नहीं करतीं और इतिहासकार भी उन क्षेत्रों का इतिहास लिखते समय विवेचनात्मक अधिक होते हैं वर्णनात्मक कम; जबतक कि हम वर्णनात्मकता की परिभाषा इतनी विशाल न कर दें कि वृत्तान्त और विवेचन में सभी अन्तर मिट जांय।

यह उल्लेखनीय है कि इतिहासिक वृत्तांत में हम अपने सामाजिक लक्ष्यों की क्रमश. घनीभूत और व्यापक चेतना का जिस प्रकार दर्शन करते हैं वह चेतना, यदि उसका आरम्भिक अवतरण आकस्मिक भी मान लिया जाय, क्रमश: बहुसंख्यक अभिकर्त्ताओं के अधिकाँश क्रिया-कलापों को एक अधिक विस्तृत अर्थ प्रदान करती है। और कार्यों की यह अर्थ-संयुक्त चेतना आगे चलकर स्वयं सामाजिक लक्ष्यों के चयन का एक अपरिहार्य घटक तत्व बन जाती है। जब मनुष्यों के बड़े समूह मानव-समाज के सम्भावित भावी स्वरूपों में से कुछ का समर्थन अथवा विरोध करते हुए दूरदर्शिता से कार्य करते हैं, अथवा जब व्यापक वर्गों द्वारा कुछ आधारभूत संस्थाओं के प्रति आकर्षण या विरोध खुलकर सामने आ जाता है, तो फिर इन संघर्षमय चेष्टाओं का अन्तिम परिणाम भी एक सीमा तक पहले से ही निश्चित किया जा सकता है। इसका कारण यह है कि इतिहासिक संघर्ष जब उपरोक्त स्थिति में प्रवेश कर लेते हैं तब एक-दो अभिकर्त्ताओं द्वारा अत्यधिक सशक्त प्रयत्न भी अन्तिम परिणाम को न तो बहुत देर तक टाल सकता है और न उसे ध्वस्त कर सकता है।

उपरोक्त विवेचन के आधार पर हमें यह स्वीकार करने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि जैसे-जैसे मानव-सभ्यता अधिक विकसित होती है इतिहासिक कृतियों के लिए एक ऐसा नया संस्थागत आधार भी उपलब्ध हो जाता है जिसमें इतिहासिक कृतियों का विशुद्ध कथा-पक्ष पृष्ठभूमि में चला जाता है। पुरानी इतिहासिक कृतियों की सामग्री कतिपय महत्वपूर्ण अभिकर्त्ताओं के निजी क्रिया-कलापों के वृत्तांत हैं जिनका प्रमुख प्रयोजन विशेष उद्देश्य से चुनी हुई घटनाओं का विवरणात्मक सम्प्रेषण करना है। लेकिन इस प्रकार की इतिहासिक कृतियों के सफल प्रस्तुतिकरण से ही हम अधिक महत्वाकांक्षी कृतियों की सम्भावना के निकट पहुंचते जाते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जैसे-जैसे हमें मानव-क्रिया-कलापों के अधिक व्यापक और स्थायी संस्थागत लक्ष्यों का बोध होता चलता है वैसे ही हम पाते हैं कि इतिहासकारों में एक नई महत्वाकांक्षा भी प्रकट होती है। वे अब इस बात का प्रयत्न करते हैं कि ऐसी व्यापक इतिहासिक कृतियों की रचना की जाय जिनकी विषय-वस्तु सम्पूर्ण मानव अतीत हो। इन विश्व-इतिहासों में पूर्वोपलब्ध छोटे-छोटे विशिष्ट प्रादेशिक एवं विशिष्ट युगों के इतिहास स्वयं व्यापक कृतियों की सामग्री बन जाते हैं। इस प्रकार के विश्व-इतिहासों में कतिपय संस्थागत प्रत्यय अग्रभूमि में आ जाते हैं और विशिष्ट गिने चुने अभिकर्त्ताओं के निजी भाग्य तथा उन्हें नियंत्रित करने वाली आकस्मिक घटनाएं गौण प्रतीत होने लगती हैं। इस प्रकार की इतिहासिक कृतियों में, जिनका आलेखन अतीत के विभिन्न एवं प्रचुर इतिहासिक स्रोतों से संग्रहीत ज्ञान द्वारा ही संभव है, प्रयुज्यता-सिद्धान्त के अन्तर्गत किया गया अमूर्त विवेचन अधिक सघन रूप में परिलक्षित होता है। इसीलिए विभिन्न प्रदेशों अथवा युगों के सीमित इतिहासों की तुलना में हम विश्व-इतिहास विषयक कृतियों में दार्शनिक अथवा वैज्ञानिक दृष्टिकोण को अधिक गहन रूप में अन्तर्व्याप्त पाते हैं। इन दो प्रकार के इतिहासों में भेद केवल अध्ययन-क्षेत्र के विस्तार का नहीं होता बल्कि सूझ के प्रकार का भी होता है। विभिन्न युगों के इतिहासों में मुख्य व्याख्या सूत्र या तो अभिकर्त्ताओं के निजी व्यक्त अथवा अव्यक्त प्रयोजन होते हैं अथवा कारणतापरक साधारणीकरण होते हैं। दूसरे शब्दों में, प्रयुक्त व्याख्या-सूत्र लोक-संज्ञान में प्राप्त अति-परिचित साधारणीकरण ही साधारण प्रकार के इतिहासों में व्याख्या-सूत्र के रूप में प्रयुक्त होते हैं।

किन्तु जिस बौद्धिक असंतोष की बात गैली ने कही है उस असंतोष की उत्पत्ति का एक बड़ा ही उल्लेखनीय कारण सामाजिक जीवन के परिवर्तन और विकास के नियमों का मनुष्य द्वारा क्रमिक उद्घाटन और संचय है। इस संचित और घनीभूत ज्ञान की पृष्ठभूमि में मनुष्य इतिहास-क्रम में व्याख्या के हेतु उन साधारणीकरणों के क्रमिक प्रयोग की आकांक्षा करने लगता है जो अति सामान्य अथवा सार्वभौमिक होते हुए भी लोक प्रचलित साधारणीकरण नहीं हैं।

निम्न-अथवा-मध्यम-स्तरीय साधारणीकरण, इतिहासिक शोधों में प्रयुक्त तुलनात्मक पद्धति के द्वारा क्रमशः परिष्कृत होकर अधिक व्यापक रूप लेते हैं और इतिहासकारों को व्याख्या के हेतु उनके प्रयोग के लिए नये नये क्षेत्र भी मिलते चलते हैं। इसका एक अच्छा उदाहरण हमें 'इतिहास के अध्ययन में साधारणीकरणों के उपयोग' नामक परिचर्चा में मिलता है जो 'हिस्ट्री एण्ड थ्योरी' नामक पत्रिका में कुछ समय पहले प्रकाशित हुई थी।

साधारणीकरण का यह संवर्धित कार्यक्षेत्र गैली द्वारा बताये व्याख्या के 'प्रयुज्जता प्रतिमान' के बहुत निकट आ जाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इतिहासिक शोध के विकास-क्रम में ही हमें इतिहासिक बोध के दो नवोदित स्तरों का दिग्दर्शन होता है । इतिहासिक कृतियों का आरम्भ तो कथामूलक वृत्तान्तों के रूप में हुआ है लेकिन उनके अधिक विकसित रूप में उनका विवेचनात्मक और व्याख्यात्मक पक्ष उनके कथा-मूलक पक्ष पर हावी हो जाता है—विशेषकर विश्व-इतिहासों की संरचना में । विश्व-इतिहासों में भी निजी अभिकर्त्ताओं की आप-बीती पर और उनके भाग्य पर दृष्टिपात किया जाता है, किन्तु गौण रूप में । यदि हम इतिहासक्रम पर कतिपय महत्वपूर्ण व्यष्टि-अभिकर्त्ताओं की आप-बीती के दृष्टिकोण से विचार करते हैं तो हम एक ऐसी रोचक कथा का निर्माण करते हैं जिसमें वे अभिकर्त्ता आकस्मिक घटनाओं के घटाटोप में से गुज़र कर एक ऐसे लक्ष्य को प्राप्त करते हैं जिसकी उन्हें निश्चित पूर्व जानकारी नहीं थी । इतिहासकार का काम भी व्यष्टि-अभिकर्ताओं के निजी भाग्य को कुछ अतिरंजित रूप से प्रस्तुत करना होता है । लेकिन हम इतिहासिक कृतियों में ही क्रमशः उस स्थल पर पहुंचते हैं जहाँ हम इन व्यष्टि-अभिकर्त्ताओं के निजी भाग्यों और उनसे सम्बद्ध कथाओं को अति-वैयक्तिक एवं व्यापक सामाजिक संस्थानों के परिप्रेक्ष्य में भी देखने लगते हैं । तब हम पाते हैं कि इतिहास का अधिक महत्वपूर्ण पक्ष कतिपय संस्थागत संस्थानों का निरन्तर संघर्ष और विशिष्ट इतिहासिक परिस्थितियों में, उनमें से कुछ की विजय अथवा पराजय है । निश्चय ही संस्थागत संरचनाओं के परस्पर संघर्ष की अन्तिम निष्पत्ति तो कतिपय ज्ञात अथवा अज्ञात सदस्यों के सुचिन्तित अथवा अचिन्तित प्रयोजनसिद्ध कार्यों के द्वारा ही होती है । किन्तु इस अन्तिम प्रतिफल पर अभिकर्ताओं को आकस्मिक प्रतीत होने वाली घटनाओं का वही अनिश्चित प्रभाव नहीं होता जो उन्हें अपने संकुचित दृष्टिकोण से आभासित होता है । व्यष्टि-अभिकर्ताओं को प्राप्त अन्तर्दृष्टि की तुलना में इतिहासकार को उपलब्ध अधिक व्यापक बोध का ही यह परिणाम है कि इतिहासकार अस्तव्यस्त और विशृंखल प्रतीत होने वाली घटनाओं को भी अपनी सुचिन्तित इतिहासिक परिदृष्टि के द्वारा एक संगठित रूप देकर यह दिखा पाता है कि आकस्मिकताओं के अप्रत्याशित घात-प्रतिघात के उपरान्त भी कोई संस्थागत लक्ष्य किस प्रकार निश्चित रूप से प्राप्त हो सका । यदि हम यह मानते हैं कि आकस्मिकताओं के बीच से गुज़र कर भी कोई उपलब्ध इतिहासिक परिणाम मात्र एक क्षणिक संयोग नहीं था तो हमें निश्चय ही उन प्रभावपूर्ण किन्तु भूमिगत शक्तियों के उद्घाटन का सहारा लेना होगा जिनकी क्रियाशीलता से व्यष्टि-अभिकर्त्ताओं के माध्यम से अपेक्षाकृत स्थायी अतिवैयक्तिक लक्ष्य प्राप्त होते हैं । इतिहासकार का काम इन अतिवैयक्तिक लक्ष्यों का स्वरूप-निर्धारण और उन्हें उपलब्ध कराने वाली इतिहासिक शक्तियों का क्रमिक उद्घाटन भी है । इसके लिए उसे व्यष्टि-अभिकर्त्ताओं के भाग्य-चक्र के कथन से परे जाना ही होगा । इतिहासिक कृतियां न केवल विभिन्न व्याख्यात्मक अपेक्षाओं से लिखी जाती हैं बल्कि एक ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इतिहासिक कृति में भी दो प्रकार की व्याख्यापेक्षाएं एकसाथ क्रियाशील होती हैं। अपने वृत्तान्त के किसी स्थल पर इतिहासकार की रुचि उन विशिष्ट आन्तरिक मनोवैज्ञानिक अनुबन्धों (बोन्ड्स) की खोज करना होती है जो विशिष्ट प्रतीत होने वाले किसी घटना-समूह को बोधगम्य बनाते हैं। लेकिन वह किसी अन्य स्थल पर इन आन्तरिक मनोवैज्ञानिक अनुबन्धों का अधिक साधारण आधार भी खोजता है। और यदि वह इसमें सफल होता है तो फिर वर्ण्य घटना-समूह की अद्वितियता पहले की भांति अक्षुण्ण नहीं रह जाती।

किन्तु विश्व-इतिहास से हमारा अभिप्राय अतिवैयक्तिक प्रत्ययों द्वारा संचालित कठपुतली का कोई ऐसा खेल नहीं है जिसमें अलग-अलग व्यक्तियों को कभी मंच पर बांध लाया जाता है और कभी वहां से बाहर फेंक दिया जाता है। इतिहासिक कृतियों में जो रोचकता है उसका असंदिग्ध आधार वह कथा है जिसके द्वारा हमें बड़े सजीव रूप से पता चलता है कि किस ज्ञात अथवा अज्ञात व्यक्ति ने कब, कहां और कैसे अपनी उस संस्थागत भूमिका का कितनी खूबी से निर्वाह किया जिसकी भव्यता और महत्व का उसे कोई पूर्ण और निश्चित ज्ञान नहीं था। वस्तुतः कुशल इतिहासकार के वृत्तान्त में रोचकता इसीलिए आती है क्योंकि वह यथास्थान टिप्पणियों द्वारा यह दिखला सकता है कि उसकी नाट्यशाला के मुख्य प्रतिद्वन्द्वियों को उस संघर्ष की वास्तविक स्थिति का पूर्ण ज्ञान नहीं था जिसमें वे भाग ले रहे थे। लेकिन इतिहासकार द्वारा प्रदत्त वृत्तान्त की यह रोचकता भी तभी अधिक स्वीकार्य और प्रभावपूर्ण होती है जब इतिहासकार की परिदृष्टि इतिहासिक पात्रों की परिदृष्टि से भिन्न हो और इतिहासकार की आकांक्षा अपेक्षाकृत अधिक युक्ति-मूलक हो।

उपरोक्त विवेचन से यह भी स्पष्ट होगा कि इतिहासिक सूझ के बारे में गैली का मत इतिहासिक व्याख्या के विभिन्न रूपों के साथ न्याय नहीं करता। गैली का इतिहासिक व्याख्या के बारे में सिद्धान्त एक महत्वपूर्ण बिन्दु पर अस्पष्ट और उलझन-ग्रस्त है। यद्यपि उसने कहा है कि इतिहासिक वृत्तान्तों में प्रयुक्त साधारणीकरण किसी व्यष्टि-घटना को तार्किक रूप से निगमित करने के लिए प्रयुक्त नहीं होते अपितु उनकी भूमिका "क्रमिक निरीक्षणों" को सम्भव बनाने की होती है, तथापि उसने इस बात को पूर्णतः स्पष्ट नहीं किया है कि यह सम्भावना तार्किक दृष्टि से कैसे फलित होती है। पुनः उसने यह भी जाहिर नहीं किया है कि इतिहासिक कृतियों के जो विशिष्ट विवेचनात्मक स्थल हैं उनमें भी साधारणीकरणों का उपयोग आच्छादक-नियम के प्रतिमान अथवा क्रमिक-निरीक्षण-प्रतिमान के अन्तर्गत होता है। यद्यपि इतिहासिक सूझ के दो सम्भावित स्तरों का विचार गैली के मत में स्फुट और अस्पष्ट रूप से मिलता है तथापि गैली ने अपने को कहीं भी इससे प्रतिबद्ध नहीं किया है। यह कमी विशेष रूप से अखरने वाली है। इस बात

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की सम्भावना पर भी विचार किया जा सकता है कि क्रमिक निरीक्षणों की उपयुक्त प्रत्यय द्वारा तथ्यानुबंधित (कोलीगेटेड) कोई समष्टि क्या स्वंय किसी अन्य प्राक्कल्पित-निगमित तर्क-योजना का निष्कर्ष नहीं हो सकती। दूसरे शब्दों में, क्या कोई ऐसी व्यापक प्रयुज्यता-सिद्धान्त-मूलक तर्क-योजना नहीं हो सकती जिसका निष्कर्ष एक व्यष्ट घटना न होकर घटनाओं का एक क्रमिक निरीक्षित समूह हो ?[६]

अन्तिम बात यह है कि गैली ने इतिहासिक सूझ के उपयोग की सीमा अनावश्यक रूप से संकुचित रक्खी है। इसका कारण गैली द्वारा इतिहास के क्षेत्र में आकस्मिक घटनाओं की भूमिका को बढ़ा-चढ़ा कर रखना है। वह भी पॉपर के इस झांसे में आ गया है कि घटनाओं की भविष्यवाणी करना किसी अत्यन्त सीमित और व्यष्ट घटना के घटित होने के स्थान और समय का निश्चित पूर्व कथन है, ठीक वैसे ही जैसे खगोलशास्त्री आगामी चन्द्रग्रहण की भविष्यवाणी करते हैं। लेकिन इतिहास में इस प्रकार की कोई भविष्यवाणी अपेक्षित नहीं है। इसकी वजह यह है कि भविष्य में हमारी रुचि-किसी एक खास घटना के व्यष्ट रूप में घटित होने या न होने से नहीं है। हमारी रुचि घटनाओं के एक निर्माणाधीन समूह में है जिसका एक अंश अबतक बनकर हमें ज्ञात हो चुका है। और हमें यह भी ज्ञात है कि उस घटना समूह की क्रमिक भावी संरचना के पक्ष और विपक्ष की शक्तियों का तात्कालिक संतुलन क्या है। केवल इसी आधार पर हम किसी निर्माणाधीन इतिहासिक संरचना के आगामी रूप की, कुछ शर्तों सहित, भविष्यवाणी करने का उपक्रम करते हैं। यद्यपि इतिहास की कोई भी संरचना एवं उसकी समर्थक शक्ति निरपेक्ष रूप से स्थाई नहीं है तो भी सीमित कालावधियों में उन्हें अपेक्षाकृत स्थाई माना जा सकता है। और इस प्रकार स्थिर और परिवर्तनीय तत्वों के मूर्त-विशिष्ट अनुसंधान के आधार पर इतिहासकार निश्चय ही कुछ निर्माणाधीन घटना-समष्टियों की अन्तिम दिशा की सीमित भविष्यवाणी भी कर सकता है। लेकिन तब हमारे सामने इस भविष्यवाणी की व्यावहारिक उपयोगिता का प्रश्न आजायेगा।

---

६. इस समस्या की कुछ आरम्भिक चर्चा दान्तों ने अपने ग्रन्थ "एनेलिटिकल फिलॉसफी आफ हिस्ट्री" में की है (देखिये पृ. २३३–२५६)। लेकिन इस दिशा में अभी बहुत कुछ अनुसंधान अवशेष है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फिनोमिनोलोजी तथा अस्तित्ववाद*

बसन्तकुमार लाल

I

पुस्तक में जिन लेखों का संकलन किया गया है वे सभी (एक अपवाद-ग्लेन ग्रे का हाईडेगर पर लेख–के अतिरिक्त) जान हापकिन्स विश्वविद्यालय के १९६६ वसन्त में दिए गए भाषण-माला के अंग हैं। इन लेखों का उद्देश्य फिनोमिनोलोजी एवं अस्तित्ववाद से परिचय देना नहीं है, अपितु यहां यह मान लिया गया है कि पाठक इन विचारधाराओं से अपरिचित नहीं है। यहाँ फिनोमिनोलोजी अथवा अस्तित्ववाद का ऐतिहासिक विवरण भी नहीं दिया गया है, यों लेखों के संकलन और उनकी व्यवस्था के पीछे एक बृहत् एवं सामान्य ऐतिहासिक दृष्टिकोण अवश्य है।

मुख्यतः इन लेखों के संकलन के दो उद्देश्य हैं। एक तो यह कि फिनोमिनोलोजी एवं अस्तित्ववाद के कुछ प्रमुख प्रसंगों पर प्रकाश डाला जाय। प्रत्येक लेख इस जटिल विचार शृंखला के किसी विशेष अंग का विश्लेषण करता है और चेष्टा करता है कि उससे-सम्बन्धित सभी समस्याएं प्रकाश में आ जांय। दूसरी बात यह है कि इसी विश्लेषण के द्वारा इन दोनों विचारधाराओं के पारस्परिक सम्बन्ध पर भी प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है। इन विचारधाराओं के संबंध में प्रचलित विचार है कि अस्तित्ववाद फिनोमिनोलोजी से केवल प्रभावित ही नहीं, उस पर आधृत भी है। ऐसा विश्वास है कि मानवीय अनुभव एवं चेतना के विश्लेषण में अस्तित्ववाद फिनोमिनोलोजी की विधि का ही उपयोग करता है। इस सामान्य धारणा में कितना तथ्य है-यह भी स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है।

---

* **Edword N Lee and M. Mandelbaum, Ed., Phenomenology and Existentialism Balfissore, John Hopkins Press. 1969.**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेख-१

ब्रेंटानो और विवरणात्मक मनोविज्ञान एवं विषयापेक्षा[1]

इस लेख में ब्रेंटानो के विषयापेक्षा (इंटेंश्नेलिटी) के सिद्धांत का विवेचन दिया गया है, और इस विवरण में यह दिखलाने का प्रयत्न किया गया है कि इस अवधारणा का विवरणात्मक मनोविज्ञान में क्या स्थान है और यह भी कि कैसे यह स्पष्ट किया जा सकता है कि कौन से भाव अभिप्रेत हैं और कौन से नहीं, और किस आधार पर दोनों में अन्तर किया जा सकता है।

किश्होम का कहना है कि ब्रेंटानो के अनुसार जननिक मनोविज्ञान से विवरणात्मक मनोविज्ञान भिन्न है, क्योंकि यह निश्चित निष्कर्ष देता है। उनके अनुसार, विवरणात्मक मनोविज्ञान का संबंध मूल मनोवैज्ञानिक तथ्यों की समग्रता से है। इसे स्पष्ट करने के लिए इच्छामूलक क्रिया का उदाहरण लिया जा सकता है। इस क्रिया का स्रोत कमी की भावना है, इस कमी को दूर करने के लिए इच्छा जागती है। इच्छा को संतुष्ट करने के लिए संकल्प किया जाता है—एक निर्णय लिया जाता है। इस निर्णय के पीछे यह विश्वास है कि अपने प्रयत्नों से निर्णय को कार्यान्वित किया जा सकता है। तो, इस क्रिया के विश्लेषण में हमें कई तत्त्व मिल जाते हैं—उद्वेग, विश्वास, निर्णय और क्रियाशीलता। इन तत्त्वों को मनोवैज्ञानिक कह सकते हैं, किन्तु, इन सभी तत्त्वों की समग्रता इच्छामूलक क्रिया है। यह विवरण जननिक मनोविज्ञान से भिन्न है, क्योंकि इसमें मानसिक तत्त्वों के अतिरिक्त एक ऐसे तत्त्व का समावेश है जिसे 'अपेक्षित' तत्त्व कह सकते हैं। इस विवरण के अनुसार इच्छामूलक क्रिया में क्रियात्मकता है जिसका कोई अपेक्षित विषय अवश्य होगा।

अब यह प्रश्न उठता है कि क्या किसी विषय का होना आवश्यक है? आरम्भ में ब्रेंटानो ने अपेक्षात्मक अनस्तित्त्व (इंटेंश्नल इनेग्ज़िस्टेंस) की बात की थी और इसी अवधारणा के द्वारा उन्होंने मानसिक एवं भौतिक में भेद करने का प्रयत्न किया था। इसका स्वरूप क्या है?

ब्रेंटानो स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हैं कि मानसिक क्रियाओं का एक अपेक्षित विषय होता है। अपने विश्लेषण में उन्होंने तीन बातों को स्पष्ट किया:[1] हमारी मानसिक क्रिया का कुछ विषय होता है,[2] यह विषय कोई भौतिक वस्तु नहीं होता, और[3] इसका अपना भौतिक वस्तुओं से भिन्न अस्तित्व होता है। यूनीकार्न

१. **R. M. Chisholm, Brentano on Descriptive Psychology and the Intentional.**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(ग्रीक पुराणों का एक सींग वाला घोड़ा) का उदाहरण लेते हुए लेखक कहते हैं, जब यूनीकार्न के विषय में सोचते हैं तब इसे अपेक्षात्मक अनस्ति विषय कहा जा सकता है। विचार के प्रारम्भ होते ही यह अस्तित्ववान् हो जाता है, और विचार के रुकते ही इसका अस्तित्व समाप्त हो जाता है।

तो क्या ब्रेंटानो के अनुसार मन में अपेक्षात्मक अनस्ति विषय को उत्पन्न करने की शक्ति है ? लेखक दिखलाते हैं कि ब्रेंटानो के अनुसार कुछ ऐसी सत्तावान् वस्तुएं हैं जो भौतिक वस्तुओं से भिन्न हैं। लेखक इसे वर्ले की युक्तियों से सहायता लेते हुए स्पष्ट करते हैं। "मैं तुम्हें एक बैल देने का वादा करता हूं" इस निश्चय का कोई विषय तो है, किन्तु वह विषय कोई निश्चित बैल नहीं है। तो, यह कौन सा बैल है ? अब यह मानना पड़ता है कि यह बैल है, किन्तु इसका भौतिक अस्तित्व नहीं है, क्योंकि भौतिक अस्तित्व तो किसी विशेष बैल का ही होगा। यह बैल हमारे मन की भी कृति नहीं है। तो एक विचित्र विषय को स्वीकार करना पड़ता है–जो नहीं है और फिर भी हमारे संकल्प का विषय है। इसे 'अपेक्षात्मक अनस्ति वस्तु' कहा जा सकता है।

किन्तु, बाद में ब्रेंटानो को स्वयं इसे स्वीकारना असंगत प्रतीत हुआ। जिस बैल की बात हो रही है वह कोई विशेष बैल न हो, किन्तु है कोई वास्तविक बैल ही, अस्तित्व-रहित-बैल नहीं। इसी कारण ब्रेंटानो ने कहा कि मैं जो सोचता हूं वह केवल विचार का विषय, कोई वास्तविक विषय या वस्तु है। अपेक्षात्मक अनस्ति वस्तु को स्वीकार करने में निहित कठिनाइयों का उल्लेख करते हुए ब्रेंटानो कहते हैं कि यदि सचमुच 'हैं' शब्द के वास्तविक अर्थ में ऐसी वस्तुएं हैं, तो हर आत्म–व्याघातक विचार और भावना की वास्तविकता स्वीकार कर लेनी पड़ेगी। यदि सोचने की क्रिया अपने 'विषय' को सत्ता दे देती है, तो यदि आत्म-व्याघातक विचार के विषय में सोचें तो उसे भी सत्ता मिल जायगी। फिर, 'ब्रेंटानो' कहते हैं कि, इस विचार को स्वीकार करने से मध्याभाव नियम (लॉ ऑफ एक्स्क्लडेड मिडिल) का उल्लंघन हो जाता है। यदि बैल के उदाहरण में पूछा जाय कि क्या बैल का भार ८१७ पौण्ड है ? और फिर यह पूछा जाय कि क्या उसका भार ८१७ पौण्ड नहीं है ?, तो दोनों प्रश्नों का उत्तर 'नहीं' में ही होगा। इस प्रकार मध्याभाव नियम का उल्लंघन हो जाता है। इन्हीं कारणों से बाद में ब्रेंटानो अपेक्षात्मक अनस्ति वस्तु को स्वीकार नहीं करते।

अब ब्रेंटानो प्रायः निश्चित रूप से कहते हैं कि यदि कुछ है–और 'है'–शब्द के वास्तविक अर्थ में है–तो वह अवश्य ही कोई वस्तु है। यदि भाषा में ऐसे शब्द मिलते हैं जिनसे कोई 'अ–वस्तु' सूचित होती है। जैसे अभावात्मक संख्या (नेगेटिव नंबर) तो ब्रेंटानो उन्हें सुविधाजनक–किन्तु काल्पनिक ही कहेंगे। उदाहरणतः

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'रोटी नहीं है' का अर्थ ब्रेंटानो के अनुसार कोई अभावात्मक अस्तित्व नहीं है, **किसी वस्तु** (रोटी) के अस्तित्व का निषेध है। 'लाली है' का अर्थ है 'सचमुच लाल वस्तुएं हैं'। 'लाल एक रंग है'–इसका वास्तविक अर्थ है–'कुछ वस्तुएं ऐसी हैं जो लाल हैं'।

इस प्रकार ब्रेंटानो सभी निर्देशात्मक वाक्यों (अोस्टेंसिव अटरेंसिज़) को प्रज्ञप्त्यात्मक वस्तुओं में परिवर्तित कर देते हैं। उनके अनुसार भाषा, व्यक्ति और प्रतिज्ञप्ति के बीच संबंध है। "उसे विश्वास है कि लाल घोड़े हैं"–इसका अर्थ बस यही है कि विश्वास करने वाला लाल घोड़े के अस्तित्व को स्वीकार कर रहा है।

ब्रेंटानो के प्रारम्भिक और बाद के मतों के समन्वय का भी प्रयत्न हुआ है। सूरेज ने कहा कि जब हम यूनीकार्न के विषय में सोचते हैं तो सोचने की क्रिया में यूनीकार्न उत्पन्न हो जाता है। इसे अपेक्षात्मक अनस्ति-वस्तु के सादृश्य में समझा जा सकता है, फलतः यह ब्रेंटानो के प्रारम्भिक विचार के अनुरूप है। किन्तु, यह तो कहा ही जा सकता है कि जो यूनीकार्न उत्पन्न हुआ है वह कोई भौतिक वस्तु नहीं बन गया है। यह ब्रेंटानो के बाद के मत के समान है। इस प्रकार के समन्वय का एक दूसरा रूप भी हो सकता है। जब हम यूनीकार्न के विषय में सोचते हैं, तो सचमुच एक अपेक्षात्मक अनस्ति वस्तु बन जाती है, किन्तु तब 'एक अपेक्षात्मक अनस्ति वस्तु है, इस वाक्य का अर्थ बस इतना ही है कि 'हम यूनीकार्न के विषय में सोच रहे हैं'।

किन्तु, लेखक के मत में इस प्रकार के समन्वय में कठिनाई है। एक प्रश्न पर विचार करने से यह कठिनाई स्पष्ट हो जाती है। "राम यूनीकार्न के विषय में सोच रहा है"—इस वाक्य में यूनीकार्न शब्द का प्रयोग किस ढंग से हो रहा है? यह किसी निश्चित वस्तु को सूचित तो नहीं कर रहा, तो क्या यह राम के सोचने की क्रिया का वर्णन है? तो क्या यह राम के संबंध में कथन है? यदि ऐसा है तो फिर प्रश्न उठ जायगा कि यूनीकार्न के संबंध में इस सोचने में राम के संबंध में क्या कहा जा रहा है? इस प्रकार इस कठिनाई का समाधान नहीं हो पाता।

अब, एक समस्या रह जाती है। अपेक्षित अनस्ति वस्तु को मान कर 'भौतिक' और 'मानसिक' का अन्तर किया जा रहा था। अब यदि इस सिद्धान्त को मान्यता न दें तो ब्रेंटानो के दर्शन में इस अन्तर का आधार क्या रह जायगा? कहा जा सकता है कि "मानसिक" के विवरण में प्रयुक्त भाषा के कुछ ऐसे तार्किक लक्षण हैं जो "भौतिक" के विवरण की भाषा में नहीं हैं। कह सकते हैं कि मानसिक के विवरण में अपेक्षा वाचक पदों का व्यवहार आवश्यक है, जबकि 'भौतिक' के विवरण में यह आवश्यक नहीं है। अपेक्षा वाचक वाक्य एक ऐसा निरुपाधिक (केटेगोरीकल) कथन है जिसमें वस्तु-सूचक पदों का व्यवहार तो होता है,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किन्तु, यह स्पष्ट नहीं होता कि सचमुच उन पदों से सूचित कोई वस्तु है या नहीं है। लेखक को अपेक्षा वाचक वाक्य की यह परिभाषा अतिव्याप्ति पूर्ण प्रतीत होती है, क्योंकि इसके अन्तर्गत ऐसे कथन भी आ जाते हैं जिनमें अपेक्षावाचक पद नहीं होते। उदाहरणार्थ—'उस स्त्री का ढांचा शैतान के ढांचे जैसा है'।

तो लेखक अपेक्षावाचक वाक्य का विवरण दूसरे ढंग से देते हैं। उनके अनुसार कोई वाक्य अपेक्षावाचक है यदि उसमें अपेक्षात्मक अभिव्यक्ति है (जैसे, 'विश्वास करता है कि न्यूयार्क का मेयर है') और उनके अतिरिक्त कुछ पदचर तथा परिमाणन (Quantifier) रहें।

लेख–२

हुस्सर्ल का चेतना की अपेक्षात्मकता का सिद्धान्त ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में[२]

इस लेख के दो उद्देश्य हैं। एक तो लेखक यह दिखाना चाहते हैं कि हुस्सर्ल के अनुसार पाश्चात्य दर्शन का मुख्य उद्देश्य क्या रहा है? हुस्सर्ल का अपना दार्शनिक लक्ष्य पाश्चात्य दर्शन के लक्ष्य से सर्वथा भिन्न नहीं है। उनका यही कहना है कि उनसे पहले के दार्शनिक इस लक्ष्य की ओर उचित ढंग से बढ़ नहीं पाए। लेख का दूसरा उद्देश्य यह जानना है कि पाश्चात्य दर्शन की इस असफलता का कारण क्या है? फलत: लेख दो भागों में बंट जाता है। प्रथम भाग में हुस्सर्ल के दर्शन का ऐतिहासिक आधार ढूंढ़ा गया है और दूसरे भाग में हुस्सर्ल के अपेक्षा के सिद्धान्त की रूपरेखा प्रस्तुत की गई है।

लेखक हुस्सर्ल की समस्याओं का आधार ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में ढूंढ़ने की चेष्टा करते हैं, और इस संदर्भ में उनके निष्कर्ष प्राय: निश्चित हैं। उनके अनुसार हुस्सर्ल की समस्याओं के निम्नलिखित स्रोत दिखाए जा सकते हैं:[१] उन्होंने डेकार्ट के विषयी-मुखीन दृष्टिकोण एवं आत्मनिष्ठ विधि को आधार बना कर कुछ सामान्यीकरण किए। डेकार्ट की सन्देह-क्रिया से लेकर आत्म, की स्थापना तक की क्रिया आत्मनिष्ठ क्रिया है। फिर, जब डेकार्ट भौतिक पदार्थ–जैसे लोहे का टुकड़ा–के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं तो वहां भी उसके अस्तित्व का आधार यह अनुभूति है कि वह चेतना से संबद्ध है। चेतना अथवा अनुभव से भौतिक पदार्थ के इसी अनिवार्य संबंध को मूर्त रूप देने का प्रयत्न फेनोमेनोलाजी–दर्शन करता है। यही

---

२. **Aron Gurwitsch, Husserl's Theory of Intentionality of Consciousness in Historical Perspective.**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कारण है कि हुस्सर्ल अनुभव को उसके सभी प्रकृत पूर्वाग्रहों से मुक्त कर परखने का प्रयत्न करते हैं जिसे वे अतिक्रामी स्थगन (ट्रांसेंडेंटल रिडक्शन) कहते हैं।[२] हुस्सर्ल की समस्याओं का दूसरा आधार डेकार्ट का द्वैतवाद तथा उस पर आधृत प्रत्ययात्मक प्रतिनिधित्व का सिद्धांत है। डेकार्ट ने सत्ता को दो भागों में बांट दिया–मानसिक जगत् एवं दैशिक-जगत्। भौतिक पदार्थ इसी दैशिक-जगत् की वस्तुएं अथवा निर्धारण माने गए हैं एवं मानसिक अवस्थाएं चेतना अथवा मानसिक जगत् की घटनाएं अथवा निर्धारण मानी गयी है। दोनों के बीच संबंध किसी माध्यम से ही सम्भव है। फलस्वरूप डेकार्ट कुछ ऐसे प्रत्ययों का उल्लेख करते हैं जो दोनों जगतों को मिलाते हैं। अब हुस्सर्ल के लिए यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि यदि ऐसे प्रत्यय हैं जो चेतन मन एवं दैशिक जगत् के बीच मध्यस्थ हैं, तो उनके ज्ञान एवं उनकी सत्ता का क्या स्वरूप है? (३) बर्कले एवं ह्यूम, (मुख्यतः ह्यूम) ने ऐन्द्रिय संवेदों को प्रतिनिधि नहीं माना, ह्यूम ने कहा कि हमें अपने प्रत्ययों के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु की जानकारी का कोई साधन उपलब्ध नहीं है। फलस्वरूप उन्होंने प्रत्यय को ही ज्ञान-वस्तु माना। ह्यूम के समक्ष अब एक समस्या आ गयी—हम किसी वस्तु का प्रत्यय भिन्न भिन्न समय में प्राप्त करते हैं, कैसे हम यह विश्वास करते हैं कि ये सभी एक ही वस्तु के प्रत्यय हैं। इसी समस्या में हुस्सर्ल को अपना प्रश्न दिखाई दे जाता है—क्या प्रत्ययों में वस्तुओं की ओर इंगित करने की प्रवृत्ति निहित है ?

अब हुस्सर्ल की विषयापेक्षा (इंटेंश्नेलिटी) का प्रयोजन समझा जा सकता है। इसे साधारणतः 'विषयोन्मुखता' के अर्थ में समझा जाता है—जो स्वभावतः किसी लक्ष्य की ओर प्रेरित है। किन्तु, यदि विषयापेक्षा की यह परिभाषा दी जाय तो एक कठिनाई रह जाती है, सम्भव है कि कई क्रियाएँ एक ही लक्ष्य की ओर प्रेरित हों, तो उस लक्ष्य के अभेद की चेतना कैसे होगी ? ऐसा प्रतीत होता है कि विषयापेक्षा के अर्थ में अभिन्नता एक अत्यंत महत्वपूर्ण घटक है। इसे स्पष्ट करने के प्रयत्न में हुस्सर्ल उदाहरण स्वरूप 'पदार्थ के अवगमन' की व्याख्या करते हैं। उदाहरणतः इन पदों को लें—'ऑस्टरलीज का विजेता एवं फ्रांसीसी कानून का जन्मदाता'। ये दोनों एक ही व्यक्ति—नेपोलियन—को सूचित करते हैं। इस प्रकार दोनों पदों के वाच्य में अभेद हैं, किन्तु तब भी दोनों में अन्तर है किन्तु अभेद एवं भेद दोनों 'अभिप्रेत' लक्ष्य पर ही आधृत हैं। दोनों के अभिप्राय में समानता होते हुए भी अर्थ-भेद हैं। यदि 'ग्रीनलैण्ड' का नाम लें, तो मेरा अभिप्राय ग्रीनलैण्ड में रहने वालों के अभिप्राय से भिन्न होगा, और फिर भी दोनों में अभेद हो सकता है क्योंकि अभिप्रेत देश एक ही है। इससे हुस्सर्ल एक महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकालते हैं : अनेक अर्थों की अभिप्रेत-वस्तु एक ही हो सकती है। इससे यह सिद्ध होता है कि कोई 'अर्थ' वस्तु का निरशेषतः ग्रहण नहीं करता। तो इस अर्थ में वस्त्वर्थ एवं वस्तु में भेद किया जा सकता है, इसी वस्त्वर्थ को हुस्सर्ल नाएमा कहते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुस्सर्ल के अनुसार चेतना मनोवैज्ञानिक क्रिया तो है ही, साथ ही यह'नोएमा' भी है, बिना इस गुण के चेतना की अवधि की व्याख्या नहीं हो सकती। यही कारण है कि हुस्सर्ल चेतना एवं अर्थ में आवश्यक संबंध मानते हैं।

अब एक प्रश्न और उठता है, वस्त्वर्थ एवं वस्तु में किस प्रकार का संबंध है? लेखक इस प्रश्न के सभी पहलुओं पर विचार नहीं करते,केवल एक पक्ष पर प्रकाश डालते हैं, और वह यह कि वस्तुओं की स्वायत्तता भी वस्त्वर्थ पर आधारित है। यदि हम एक ही स्थान से एक ही ढंग से किसी एक वस्तु को देख रहे हैं और यदि हम हर पल अपनी आँखों को खोलते हैं और मूंदते हैं,तो वस्तु तो एक ही देखते हैं, किन्तु वस्त्वर्थ भिन्न भिन्न हैं। यदि वस्त्वर्थ भी एक ही होता तो वस्तु को भी आत्मनिष्ठ माना जा सकता था, किन्तु यह अनुभूति कि भिन्न भिन्न वस्त्वर्थों की अपेक्षा एक ही वस्तु है वस्तु को स्वायत्तता दे देती हैं। इस प्रकार लेखक ने यह दिखलाया है कि विषयापेक्षा का सिद्धान्त हुस्सर्ल के दर्शन का मूल स्रोत भी है और उनकी दार्शनिक व्याख्या का आधार भी।

IV

हाईडेगर के सौन्दर्य–सिद्धान्त पर कुछ विवेचनात्मक टिप्पणियां–[3]

इस लेख में हाईडेगर के सौन्दर्य–सिद्धान्त के विवेचन का प्रयत्न किया गया है। दार्शनिक परम्परा ने हाईडेगर के तत्त्व-दर्शन को तो महत्व दिया, किन्तु सौन्दर्य-सिद्धान्त पर ध्यान नहीं दिया। मारले पोन्ती को उससे प्रेरणा मिली थी–लेकिन उसे वे पूर्ण रूप से कार्यान्वित नहीं कर सके। पोन्ती ने सौन्दर्य-बोध में सत्ता भाव की स्पष्ट अभिव्यक्ति देखी, किन्तु यहाँ वे हाईडेगर के विचारों का ऊपरी रूप ही देख सके। हाइडेगर की सत्त्व (बींग) की अवधारणा ही भिन्न है। एक अस्तित्ववार् वस्तु का अस्तित्त्व और सत्त्व एक ही नहीं है, पहला प्रश्न अस्तित्व-मीमांसा (ओंटिक्स) का है, दूसरा सत्ता-मीमांसा (ओंटोलोजी) का।

इसी अन्तर के कारण कुछ लोग कहते हैं कि हाईडेगर का सौन्दर्य-सिद्धान्त पूर्णरूपेण फिनोमिनोलोजिकीय नहीं है, किन्तु सौन्दर्यानुभूति में प्राथमिकता **'देखने'** की है, और देखने का अर्थ प्रदत्त को प्रदत्त-रूप में ही देखना है। इस प्रकार यह विश्लेषण (फिनोमिनलोजिकीय) ही है।

यदि कला की व्याख्या इस ढंग से की जाय तो प्रश्न उठता है, क्या कला सत्य का प्रतिनिधित्व करती है। क्या वस्तुओं के अनुभव को, जिस रूप में उनका

---

३. **E. F. Kaelin, Notes toward on Understanding of Heidegger's Aesthetics.**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुभव हुआ है, उसी रूप में प्रतिबिम्बित करना कला है ? इसे समझने के लिए पहले हाईडेगर के अनुसार सत्य के स्वरूप को समझें और तब कला को । हाईडेगर ने १९३५–३६ में 'कला-कृति के उद्‌भव' पर तीन भाषण दिए थे । हाईडेगर के अनुसार अस्तित्व की अनुभूति में सत्त्व की अनुभूति भी होती है । मानव-अस्तित्त्व परिवेशात्मक है ।

मानव और परिवेश के संबंधों को तीन प्रकार से समझा जा सकता है—भावनात्मक सम्बन्धों, निर्णय-बुद्धिमूलक बोध और भाषा के द्वारा । हाईडेगर भावनात्मक सम्बन्धों को सर्वाधिक महत्व देते हैं और निर्णय-बुद्धि अथवा भाषा को भी उसी के अनुरूप बना देते हैं । इसी भावनात्मक बोध में चिन्ता, क्लेश, उदासीनता, तटस्थता आदि की अनुभूति होती है । निर्णय-बुद्धि, भाषा और भावना—इन्हीं के द्वारा सत्ता का रूप प्रस्फुटित होता है । और इसी प्रकार सत्ता के रूप के स्फोट में सत्य की अभिव्यक्ति होती है ।

हाईडेगर के अनुसार 'सत्य' का मौलिक रूप तार्किक या वैज्ञानिक नहीं है—बल्कि तात्विक है, और उसके तात्विक होने के कारण भाषा-प्रयोग में सत्य 'तार्किक भाव'बन जाता है और ज्ञानात्मक बोध में वैज्ञानिक भाव । किन्तु,प्राथमिक रूप में,सत्य किसी भी खुले चेतना-क्षेत्र में सत्ता के व्यक्त रूप का दर्शन है । इस प्रकार सत्य मानव-अस्तित्व से ही संबंधित है ।

हाईडेगर का कहना है कि कला में सत्य ही **घटित** होता है । इसे समझने के लिए कल्पना करें कि कैसे कोई दृश्य वस्तु कलात्मक हो जाती है । कुछ सौन्दर्यशास्त्री कहते हैं कि यह द्रष्टा की मनोवृत्ति एवं दृष्टिकोण पर निर्भर करता है, किन्तु, हाईडेगर के अनुसार यह ठीक नहीं है, क्योंकि दृष्टिकोण से कलात्मक वस्तु कलात्मक नहीं बनती, बल्कि उस वस्तु से दृष्टिकोण बनता है । हाईडेगर का कहना है कि कलात्मक वस्तु अपने को वस्तु रूप में—पर रूप में—व्यक्त करती है, बल्कि यह कि जब उसका कलात्मक रूप निखरता है तो उसका वस्तुरूप नष्टप्राय: हो जाता है । वस्तु का कलात्मक रूप उसके साधारण अर्थ-संदर्भ से ऊपर उठ जाता है ।

इस स्थल पर एक आपत्ति उठायी जा सकती है—कलाकार के कलात्मक कार्य का माध्यम तो साधारण, गोचरगत वस्तु ही है । तो, यदि कला-रूप के निखरने के लिए वस्तु-रूप का हनन आवश्यक है, तो कला का माध्यम ही नष्ट हो जाता है । हाईडेगर के अनुसार इसमें कोई विरोध नहीं है, कलाकार की भावनाएं किसी स्थूल माध्यम से व्यक्त अवश्य होती है, किन्तु कला-बोध में माध्यम का स्थान गौण हो जाता है । कला के रूप में कला की **सम्भावना-मात्र** रहती है, जब वह सम्भावना प्रस्फुटित होती है स्थूल रूप दिखाई ही नहीं देता । कला में सत्त्व-धर्म (एस्सेंस आफ बींग) प्रकट होता है—दृश्य जगत् से अलग, उससे ऊपर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह एक अलग संसार है। हाईडेगर बैन गो के 'किसान के दो जूतों' के चित्र का उदाहरण लेकर इस तथ्य को स्पष्ट करते हैं। उस चित्र की कलात्मक अनुभूति में 'वस्तु-जूते' का कोई महत्व नहीं रहता, मज़दूर के परिश्रमी पैर और धरती पर उस पैर की शक्ति का आभास मिलता है। इस बात को स्पष्ट करने के लिए कलात्मक इमारत का उदाहरण भी लिया गया है—"पायेस्टम के हेरा मन्दिर" का चित्र दिया गया है। इस चित्र में एक ओर धरती दिखाई देती है और दूसरी ओर एक नया संसार। धरती के अनुभव में मिट्टी और ईंटों का अनुभव नहीं—शांति का अनुभव है, विचित्र एकान्त का अनुभव है, ग्रीक सभ्यता का अनुभव है। और 'नये संसार' की अनुभूति में यह मन्दिर ईश्वरीय प्रतीक बन जाता है। इस प्रकार सौन्दर्य का अर्थ, कला कृतियों में सत्य का प्रस्फुटन है। यह सत्य स्थूल सत्य नहीं—रंग रूप–आकार का सत्य नहीं, **तात्विक** सत्य है, और इसी तात्विकता की अनुभूति सौन्दर्य-बोध है।

इस सौन्दर्य-बोध का फिनोमिनोलोजिकीय विश्लेषण सम्भव है। कहा जा सकता है कि कला की अनुभूति में वस्तुओं का स्थूल रूप अप्रस्तुत (ब्रेकेटेड-कोष्ठगत) हो जाता है, और अनुभूति रूप मुख्य हो जाता है। किसी भी अभिव्यक्ति में अनुभव कुछ व्यक्त करता है तो कुछ छिपा भी देता है। अनुभव में जो 'स्पष्ट' रूप में प्रदत्त हैं वह तो व्यक्त है, किन्तु उसी प्रदत्त ने अनुभव-क्षेत्र के अन्य पहलुओं को छिपा दिया। सौन्दर्य-बोध में वस्तुओं का अस्तित्व रूप (ओंटिक्स) छिप जाता है और उसका धर्म प्रस्तुत हो जाता है। यही कारण है कि हाईडेगर के सौन्दर्यशास्त्र का आधार सत्ता मीमांसात्मक (ओंटोलोजिकल) है।

इसके सदात्मक होने का एक और कारण है जो हाईडेगर के अस्तित्ववादी दृष्टिकोण से सम्बन्धित है। सौन्दर्यबोध की सत्प्रतिष्ठा इसी में है कि वह मानव-अस्तित्व को प्रभावित करता है, एक निश्चित दिशा देता है। साधारणतः मनुष्य अपने साधारण अर्थ-संदर्भ में रहता है। कलात्मक अनुभूति में एक नए संदर्भ का मार्ग खुल जाता है मानव-अस्तित्व को अपने सदात्मक अस्तित्व की अनुभूति हो जाती है।

कवि और विचारक–मार्टिन हाईडेगर के दर्शन में उनके कार्य की अनुरूपता[४]

ग्लेन ग्रे ने अपने लेख में हाइडेगर के दर्शन के एक विशेष पक्ष पर विचार किया है। साधारणतः दर्शन काव्य की अपेक्षा विज्ञान की ओर अधिक झुकता रहा

---

४. **J. Glern Gray, Poets and Thinkers: Their Kindred Rolex in the Philosophy of Martin Heidegger.**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। दर्शन की परम्परा समझती रही है कि विज्ञान 'सत्ता' का विश्लेषण करता है, जबकि काव्य व्यक्ति की वैयक्तिक मनस्थिति पर निर्भर करता है। फिर भी, जर्मनी में सदा से कवि और विधायकों के बीच कुछ सम्बन्ध रहा है। हाईडेगर भी उस परम्परा का निर्वाह करते हैं। उनके अनुसार भी कवि एवं विचारक में एक निकट सम्बन्ध है, एक को दूसरे के दृष्टिकोण से जांचा जा सकता है। इस लेख में इसी तथ्य को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है।

किन्तु, इसके स्पष्टीकरण के लिए भी यह तय कर लेना आवश्यक है कि दर्शन का उद्देश्य क्या है। हाईडेगर के अनुसार यह धारणा ग़लत है कि दर्शन किसी भी देश का सांस्कृतिक आधार है। वे यह भी नहीं मानते कि दर्शन विज्ञान, संस्कृति, जीवन आदि की मूल अवधारणाओं का स्पष्टीकरण है। हाईडेगर के अनुसार दर्शन मानव की सृजनात्मक प्रवृत्तियों एवं मानव-कर्त्तृत्व की सम्भावनाओं की रूपरेखा खींचता है। यह किसी दूसरे अनुशासन या अध्ययन पर आधृत नहीं है और न यह किसी समाज की संस्कृति का सृष्टा है। दर्शन पुरानी पद्धतियों एवं भावों पर पुनः विचार करने की एक प्रेरणा है—और केवल इसी अर्थ में यह नया मार्ग–निर्देश करता है। दर्शन का एक ही लक्ष्य है–मनुष्य को सतत विचारशील रखना। विचार की गति में अवरोध मानव-अस्तित्व के लिए घातक है। यही कारण है कि हाईडेगर आधुनिक दार्शनिकों से अधिक प्राचीन ग्रीक दार्शनिकों को महत्व देते हैं, वे सोचने से कभी थकते नहीं थे। और, उन दार्शनिकों का जीवन विचारमय भी था और काव्यमय भी।

कहा जा सकता है कि प्राचीन ग्रीक दार्शनिकों के विचार का विषय-वस्तु भौतिकी था। यह ठीक है, किन्तु यह द्रष्टव्य है कि उस भौतिकी का आधार स्थूल जगत् का अनुभव नहीं था—उसका आधार वह अनुभव था जिसे वे 'सत्य का अनुभव, कहा करते थे। उनका यह अनुभव ज्ञानात्मक भी था और भावनात्मक भी, बौद्धिक भी था और काव्यात्मक भी। यही कारण था कि उनकी भौतिकी में धरती भी थी और स्वर्ग भी, जीव भी थे और अजीव भी। उनकी भौतिकी में सत्त्व का प्रस्फुटन था। इस प्रकार दर्शन सत्त्व का द्रष्टा है–सत्य का द्रष्टा है, दार्शनिक जीवन उस अनुभूति की झलक है।

विचारक का लक्ष्य सत्ता की सम्भावनाओं को व्यक्त करना है। इसके लिए आवश्यक है कि वह सत्ता की अनुभूतियों को ग्रहण करने के योग्य हो। इस कारण विचारक में निरीक्षण–शक्ति एवं ग्रहण–शक्ति का विकास अनिवार्य है। उसके लिए अनुभूति–प्रवण होने की सीख आवश्यक है।

और यहीं विचारक के लिए काव्य सहायक हो जाता है, क्योंकि काव्य में यह शक्ति है कि वह सत्ता की अनुभूति कुछ इस ढंग से करा दे कि पाठक या श्रोता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के विचार एवं भावनाऐं आलोड़ित हो जांय। ध्यान देने की बात यह है कि अपने इस विचार में हाईडेगर काव्य के कला–पत्र पर ज़ोर नहीं दे रहे हैं–उसके तात्त्विक पत्र पर ज़ोर दे रहे हैं। काव्य में तत्त्व–दर्शन की शक्ति निहित है। इस अर्थ में, हाईडेगर के अनुसार, काव्य और दर्शन का लक्ष्य एक ही हो जाता है।

कवि इस अनुभूति का निर्देश स्पष्ट एवं साक्षात् ढंग से कर देता है, क्योंकि काव्य का ढंग रहस्यात्मक नहीं, भावनात्मक रूप से विचारोत्पादक है। यही कारण है कि ग्रीक दार्शनिकों ने 'होमर' को महत्त्व दिया। हाईडेगर का कहना है कि सच्चा काव्य युग की वास्तविक अनुभूतियों को रूप और अभिव्यक्ति देता है। विचारक का निर्लिप्त मन, जो साधारणतः इनसे उदासीन रहता है, काव्यमय चेतना के आविर्भाव से अपनी अनभिज्ञता से मुक्त हो जाता है और अस्तित्व के मूल धर्मों पर विचार करने की सामर्थ्य पा लेता है।

इस प्रकार काव्य मानव एवं जगत् की स्पष्ट अनुभूति जगा कर विचारक को जाग्रत कर देता है। विचारक को सत्ता–बोध तर्क के द्वारा नहीं हो सकता, व्यावहारिकता या उपयोगिता के चक्कर में नहीं हो सकता; हो सकता है तो सत्ता की अनुभूति में, जो काव्य के द्वारा सम्भव भी है और सरल भी। तब यह अवश्य है कि **सत्ता–बोध विचारक की प्रेरणा है, बौद्धिकता, विचारक का जीवन।**

अस्तित्ववाद के द्वारा हेगेल और मार्क्स की खोज[५]

जार्ज क्लाइन ने अपने लेख में अस्तित्ववाद के दर्शन में हेगेल एवं मार्क्स को ढूंढ़ने का प्रयत्न किया है। अस्तित्ववाद से वे प्रायः सार्त्र का अस्तित्ववाद ही समझते हैं और दिखलाते हैं कि कैसे सार्त्र के दर्शन की कुछ मुख्य अवधारणाऐं हेगेल तथा मार्क्स के दर्शन से ली गयी हैं।

लेखक के मत में सार्त्र हेगेल के दर्शन के प्रारम्भिक पक्ष को ही महत्त्व देते हैं–विशेषतः उनके "फिनोमिनोलोजी आफ दि माइंड" पर। लेखक ने अपने इस अध्ययन को कई खण्डों में विभक्त किया है। प्रथम दो खण्ड तो ऐतिहासिक हैं, जिनसे ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर वे हेगेल एवं मार्क्स के विचारों का सार्त्र पर प्रभाव तथा उन विचारों से सार्त्र के विचारों की समानता दिखलाते हैं। इस संदर्भ में वे उन लेखों का उल्लेख करते हैं—विशेषतः ऐसे लेखों का जो १९३० से १९४० के बीच प्रकाशित हुए थे–जिनमें अस्तित्ववादी दर्शन ने हेगेल एवं मार्क्स का उल्लेख कर उन्हीं से अपने सृजनात्मक विचारों की सामग्री ली थी।

---

५. **George L. Kline, The Existentialist Rediscovery of Hegel and Marx.**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस संदर्भ में क्लाइन यह भी दिखलाने का प्रयत्न करते हैं कि अस्तित्ववाद ने कुछ अर्थों में हेगेल एवं मार्क्स का भी 'अस्तित्ववादीकरण' कर दिया है। जैसा कि हर्बर्ट मार्कूस ने कहा है, सार्त्र का 'बींग एंड नथींगनेस' हेगेल की 'फिनोमिनोलोजी आफ दि माइंड' एवं हाईडेगर के 'बींग एंड टाइम' का मिश्रण है। यही कारण है कि सार्त्र के दर्शन की कुछ अवधारणाएें–जैसे चेतना, आत्म–चेतना, सत्त्व एवं असत्त्व आदि हेगेल के दर्शन से ही ली गयी प्रतीत होती हैं। यह अवश्य है कि हेगेल के भावों के वे पूर्ण-परिवर्तित रूप हैं। उदाहरणतः हेगेल के अनुसार निजता में सत्त्व (बींग इन इट्सेल्फ) एवं निजार्थ सत्त्व (बींग फार इट्सेल्फ) बौद्धिक प्रगति के दो अमूर्त क्षण हैं, दोनों अपूर्ण हैं. एकाँगी हैं, दोनों का समन्वय किसी अन्य संश्लेषण में आवश्यक है किन्तु सार्त्र के अनुसार, यह समन्वय असम्भव है। उनके अनुसार भी निजता में सत्त्व एवं निजार्थ सत्त्व का अन्तर असत् ही है। किन्तु, यह असत् हेगेल का निषेध–भाव नहीं है।

इस संदर्भ में स्वामी–दास के द्वैत का उदाहरण लिया गया है। हेगेल के समान सार्त्र भी स्वीकार करते हैं कि दोनों के बीच प्रारम्भिक विरोध एवं संघर्ष है, हेगेल के समान वे यह भी मानते हैं कि यह विरोध शाश्वत नहीं है–यह टूट जाता है। किन्तु हेगेल के समान वे यह नहीं मानते कि इस टूटने का आधार तार्किक (डायलेक्टिकल), अनिवार्यता है। इस विरोध का निराकरण असत्त्व में है। यहां मार्क्सवाद की झलक मिलती है, साथ-साथ असत्त्व की महत्ता इस बात को स्पष्ट कर देती है कि मार्क्सवादी स्वामी-दास-सिद्धांत को सार्त्र के दर्शन में अस्तित्ववादी रूप दे दिया गया है।

अस्तित्ववादी विचारधारा में हेगेल एवं मार्क्स की खोज में लेखक 'अलगाव' (एलिअनेशन) एवं विषयकरण (ऑब्जेक्टीफिकेशन) के भावों के विश्लेषण में उलझ जाते हैं। हेगेल का कहना है कि व्यक्ति अपनी स्वाभाविक शक्तियों का विकास संस्कृति के अनुरूप करता है। संस्कृति के विभिन्न पहलू सार्वभौम भावों के रूप में व्यक्ति के मन को प्रभावित करते हैं जिससे उसका व्यक्तित्व निखरता है। हेगेल के अनुसार, ये भाव वैयक्तिक नहीं, सार्वभौम हैं। मानव संस्कृति से प्रभावित तो होता है, पर अपनी वैयक्तिक अनुभूति में उसे उन सार्वभौम रूपों से अपनी पृथकता का बोध होता है। यही मनुष्य का 'अलगाव' है। मार्क्स ने हेगेल के इस विचार की सराहना की है, किन्तु, साथ साथ यह भी कहा है कि हेगेल ने 'अलगाव' एवं विषयकरण के सूक्ष्म अन्तर को नहीं समझा। मार्क्स के अनुसार, अलगाव का भाव केवल पूंजीवादी समाज में ही उत्पन्न होता है। किन्तु, हर समाज में अर्थपूर्ण सामाजिक कार्य संस्कृति पर प्रभाव डालते हैं और यह प्रभाव 'विषयगत' होता है। इसी प्रकार के विषयगत प्रभावों के फलस्वरूप पूंजीवादी समाज के समाप्त होने की संभावना उत्पन्न होती है। मार्क्स का कहना है कि पूंजीवाद के मिटने के बाद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'अलगाव' की भावना लुप्त हो जाती है। सार्त्र ऐसा नहीं मानते, उनके अनुसार अलगाव की भावना मानव-अस्तित्व में निहित है, उसके लुप्त होने का प्रश्न ही नहीं उठता। मानव-अस्तित्व की चेतना में योजनाओं की विफलता एवं कार्यों की निष्प्रयोजनता की चेतना है। फलतः जीवन-पर्यन्त मनुष्य को अलगाव में भावना रहती है।

अपने लेख में क्लाइन सार्त्र के बाद के विचार का भी उल्लेख करते हैं जिसमें सार्त्र मार्क्सवादी बन जाते हैं। अपनी हाल की पुस्तक में सार्त्र ने मार्क्सवाद को 'युग का दर्शन' कहा है और अपने अस्तित्ववाद को मार्क्सवाद में मिलाने का प्रयत्न किया है। लेखक के मत में सार्त्र का मार्क्सवाद आधुनिक पदावली में प्राचीन भौतिकवाद ही है। एक अन्तर और है। सार्त्र के विचार मार्क्स के समान मूलतः आर्थिक विश्लेषण पर आधृत नहीं हैं बल्कि समाजशास्त्रीय विश्लेषण पर आधृत है। यही कारण है कि सार्त्र अपने मार्क्सवादी विचारों में सामाजिक, ऐतिहासिक मानव-परिस्थिति की वस्तुनिष्ठता इस परिस्थिति के विकास–क्रम की अनिवार्यता पर ज़ोर देते हैं। अपने प्राचीन वैयक्तिक स्वतंत्रता के सिद्धान्त को उन्होंने सामाजिक–ऐतिहासिक–मानव–परिस्थिति (सोश्योहिस्टारिकल पेरेक्सिस) के सिद्धान्त में लीन कर दिया है।

सार्त्र : फिनोमिनोलोक दार्शनिक तथा अस्तित्ववादी मनोवैज्ञानिक के रूप में[६]

इस लेख में सार्त्र के दर्शन के दो पक्षों (फेनोमेनोलाजी एव मनोविश्लेषण) पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है। इसके लिए लेखक एक विशेष विधि अपनाते हैं। वे सार्त्र के चेतना–सिद्धान्त को अपना केन्द्र बिन्दू बनाते हैं, उसकी परीक्षा में सार्त्र की विधियों को स्पष्ट करते हैं और उनके परिणामों को भी। पहले हम सार्त्र की फिनोमिनोलोजी पर विचार करेंगे।

अपने फिनोमिनोलोजिकीय विश्लेषण में सार्त्र सत्ता की व्याख्या चेतना के स्वरूप के आधार पर करते हैं। लेखक के अनुसार सार्त्र की चेतनअनुभूति का प्रत्यय दो प्रत्ययों के बीच झूलता रहता है, और वे दोनों प्रत्यय डेकार्ट एवं हुस्सर्ल के विचारों से प्रभावित हैं। ये दो प्रत्यय हैं — (क) वैयक्तिक चेतना में स्वतंत्रता की अनुभूति, जिसमें किसी निश्चित वस्तु–रूप में ढल जाने के भय से त्राण की भावना निहित है, और (ख) यह पहचान कि चेतना का कोई निश्चित स्वभाव–धर्म नहीं है, इसे इसके विभिन्न रूपों में समझना आवश्यक है।

---

६. **Games M. Edie, Sartse as Phenomenologist and as Existentialist Psychoanalyst.**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'क' की व्याख्या में ही असत् की अनुभूति का प्रश्न भी उठ खड़ा होता है। चेतना की स्वतंत्रता पर आघात निजता में सत्त्व की ओर से होता है। सार्त्र ने अपनी कृति 'नौसिया' में 'चेस्टनट वृक्ष की जड़' का जो चित्र खींचा है और उसकी चेतन-अनुभूति का जो चित्रण किया है उसमें चेतना स्थूल, निष्प्राण एवं निरर्थक 'सत्' से घिर जाती है। सार्त्र के अस्तित्ववादी दर्शन में विवेचन किया गया है कि कैसे चेतना अपने को इस 'घेरे' से बचाने में समर्थ होती है और कैसे फिर अपनी स्वतंत्रता को महत्व दे देती है। इस बच निकलने का साधन 'असत्' की चेतना है। जब व्यक्ति की चेतना स्थूल सत् से घिर जाती है तो उसे अपना अस्तित्व अर्थहीन प्रतीत होता है। इसी 'अर्थहीनता' के बोध का सार्वभौम रूप असत् की चेतना है। इसी कारण चेतना की परिभाषा देते हुए सार्त्र कहते हैं, **"यह वह नहीं है जो यह है, और यह वह है जो यह नहीं है।"**

यह वाक्य शब्द-जंजाल नहीं है, सार्त्र के अनुसार, यह बड़ा ही महत्वपूर्ण वाक्य है। इसे समझने के लिये इसके दोनों भागों की व्याख्या आवश्यक है।

पहले भाग को देखें। चेतना क्या है? साधारणतः चेतना से विषयी, मानसिक स्थितियां, इसके परिणाम आदि को ही समझा जाता है। सार्त्र के अनुसार चेतना यह सब नहीं है। सार्त्र चेतना के स्वरूप से इन सभी विकल्पों को अलग कर देते हैं। हुस्सर्ल ने अपनी अनुभव-व्याख्या में अनुभव से सभी विकल्पों को अलग कर अनुभव को शुद्ध प्रदत्त रूप में समझने की चेष्टा की थी। सार्त्र, हुस्सर्ल से एक कदम और आगे बढ़ जाते हैं और दिखलाते हैं कि चेतना से विषय, विषयी, अहं, मन-इन सभी को पृथक् करना है। चेतना में सत् का अंश नहीं है। यही कारण है कि चेतना सत् में (अथवा अहं में भी) न कुछ जोड़ पाती है न उसे किसी अर्थ में प्रभावित कर पाती है। तो, पहले भाग का अर्थ यही है, कि चेतना 'यह सब' नहीं है।

अब दूसरे भाग को देखें। चेतना वह है जो वह नहीं है। सार्त्र इसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं कि चेतना "है"। यह निजता में सत्त्व के अर्थ में अस्तित्ववान नहीं है बल्कि अपनी निषेधात्मक क्रियाओं में ही इसका अस्तित्व है। इन्हीं क्रियाओं में चेतना मानव-जगत् की भी सृष्टि कर लेती है। चेतना का प्रादुर्भाव **"ना"** से होता है। हर क्रिया का प्रारम्भ इसी 'ना' से है। दास की अपने स्वामी के प्रति प्रथम प्रतिक्रिया 'ना' की है। जगत् के प्रति हर चेतना की प्रथम प्रतिक्रिया 'ना' की है।

इसे एक दूसरे ढंग से समझा जा सकता है। हर चेतन-अनुभव में अनुभव-वस्तु की चेतना के पहले सभी अन्य वस्तुओं का-शेष जगत् का-'निषेध' आवश्यक है। उदाहरणतः, मैं एक कैफे में जाता हूं। मुझे वहां अपने मित्र श्याम से मिलने की आशा है। मैं चारों ओर देखता हूं और 'उसकी अनुपस्थिति का अनुभव' करता हूं। उसकी अनुपस्थित का अनुभव किसी विशेष स्थल पर नहीं हुआ है, मैं पूरे कैफे को देखता हूँ, पीयरे सम्पूर्ण कैफे से अनुपस्थित है। कैफे और कैफे की सारी सामग्रियां अपने में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अस्तित्ववान हैं; किन्तु मेरी चेतना में—श्याम की अनुपस्थिति के अनुभव में—सम्पूर्ण कैफे एवं उसकी सारी सामग्रियों का **निषेध** हो गया है। यह निषेध ही श्याम की अनुपस्थिति के अनुभव का आधार बन जाता है। इसे सार्त्र 'असत्' का अनुभव कहते हैं। असत् का यह अनुभव सत् के अनुभव का एक आवश्यक अंग है। यह असत् शून्य नहीं है, अनस्तित्व नहीं है, यह चेतना की निषेधात्मक क्रिया का विषय है।

इस प्रकार, सार्त्र के फिनोमिनोलोजी के निष्कर्ष प्रायः निश्चित हो जाते हैं। चेतना का अपेक्षित विषय होता है। यह विषय कोई भावात्मक एवं अस्तित्ववान सत्ता नहीं होता, बल्कि निषेधात्मक क्रिया का विषय होता है। इसी से असत् भाव उत्पन्न होता है। इसी असत् की अनुभूति में स्वतंत्रता की अनुभूति निहित है, क्योंकि अपनी निषेध-क्रिया में चेतना स्थूल सत्ता से अपने को मुक्त कर लेती है। यही कारण है कि सार्त्र निज में सत्त्व (बींग इन इट्सेल्फ) निजार्थ सत्त्व (बींग फार इट्सेल्फ) में अन्तर करते हैं, और इस अन्तर का आधार असत् की अनुभूति को मानते हैं।

अब हम सार्त्र के मनोविश्लेषण के विषय में विचार करेंगे। लेखक के अनुसार सार्त्र अपनी फिनोमिनोलोजी में ज्ञानात्मक स्वतंत्रता स्थापित करते हैं। किन्तु, जब व्यक्ति अपने से बाहर उठता है, जब व्यक्ति और परिवेश, व्यक्ति और अन्य, तथा व्यक्ति और भौतिक जगत् के सम्बन्धों का प्रश्न उठता है, तब चेतना को एक नयी अनुभूति होती है। वह फिर अपने को तथ्यों तथा परिस्थितियों से घिरा पाता है, फिर यहां उसकी स्वतंत्रता प्रकट होती है। इस स्वतंत्रता का रूप ज्ञानात्मक नहीं है, **क्रियात्मक है**। अपने मनोविश्लेषण में सार्त्र इसी **क्रियात्मक स्वतंत्रता** का विवरण देते हैं।

सार्त्र का मनोविश्लेषण मनः चिकित्सा की कोई नई विधि नहीं है। यहां तो यह तय करने का प्रयत्न किया गया है कि मनुष्य के मूल निर्णयों या निश्चयों का स्वरूप क्या है। मनुष्य अपने को व्यवस्थित एवं संगठित करने की योजनाओं में सतत संलग्न रहता है सार्त्र उन्हीं योजनाओं के माध्यम से मनुष्य को समझने का प्रयत्न करता है। सार्त्र स्वयं कहते हैं कि उनका प्रमुख उद्देश्य एवं उत्कट अभिलाषा 'मनुष्य' को समझने की है।

इस विश्लेषण में एक तथ्य तो प्रायः स्पष्ट ही है, मनुष्य को किसी पूर्व निश्चित अथवा सामान्य रूप में नहीं ढाला जा सकता। मनुष्य की विशेषता उसकी विशिष्टताओं में है न कि उसके सामान्य गुणों में। व्यक्ति मौलिक रूप में स्वतंत्र है, इसी कारण सार्त्र अपने मनोविश्लेषण को मानवीय स्वतंत्रता का अध्ययन मानते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सार्त्र कहते हैं कि मनुष्य अपने कार्यों में समग्रतः नियुक्त होता है। इसी कारण अपने मनोविश्लेषणात्मक अध्ययन में सार्त्र व्यक्ति, उसकी योजनाओं एवं योजनाओं की स्थिति इन तीनों को एक एकक के रूप में लेते हैं और जांचने का प्रयत्न करते हैं कि मनुष्य के कौन से मौलिक निर्णयों से यह एकक पूर्ण रूपेण प्रभावित होता है।

सार्त्र फ्रायड के अचेतन विषयक सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते। क्योंकि फ्रायड ने अपने अचेतन को रहस्यमय बना दिया है। सार्त्र स्वीकार करते हैं कि हर क्रिया के कुछ निहितार्थ होते हैं जिनसे व्यक्ति स्वयं अनभिज्ञ रहता है। किन्तु, उन अर्थों की खोज भूत में निरर्थक है, क्योंकि व्यक्ति की सभी योजनाएं उसे आगे की ओर खींचती हैं। भूत मेरा जीवन नहीं है बीते हुए जीवन की अनुभूति है। मेरा जीवन तो मुझसे आगे आगे चलता है। मैं जो हूं वह पूर्व निश्चित नहीं, स्वनिर्मित है, और इसलिये मैं अभी जो कर रहा हूं वह मेरा भविष्य रूप है। एक दृष्टिकोण से अभी तो मैं 'असत्' हूं, क्योंकि मैं भविष्य में ही रहता हूं। सार्त्र के अनुसार व्यक्ति योजनाओं का संगठन है, उसकी क्रियाएं उसके अपने निर्णयों के फलस्वरूप हैं। तो, निर्णयों की प्राथमिकता, स्वतंत्रता की अनुभूति, योजनाओं का जीवन और इन सब में निहित अस्तित्व की चिन्ता–इन्हीं के द्वारा वैयक्तिक जीवन को, समझा जा सकता है। लेखक के अनुसार, सार्त्र का यह विश्लेषण मूलतः नैतिक है क्योंकि यह क्रियात्मक पक्ष पर ही बल देता है।

लेखक सार्त्र के इस विश्लेषण को सार्त्र के ही एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं—यह दिखलाते हुए कि कैसे किसी विशेष जीवन–योजना का अर्थ इस विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है। यह उदाहरण "**जैनेट**" का है। जैनेट के जीवन की कहानी में ही सार्त्र के मनोविश्लेषण की कहानी प्रतिविम्बित होती है। लेखक के मत में जेनेट हमारे सम्मुख 'दर्पण रख देता है, हम उस दर्पण में अपने आप को देख सकते हैं।

मर्ले पोन्ती के दर्शन की एक केन्द्रीय प्रतिज्ञा[७]

इस लेख में लेखक ने मर्ले पोन्ती के दर्शन की सामान्य दार्शनिक पृष्ठभूमि को ध्यान में रखते हुए उनके प्रत्यक्ष–सिद्धान्त का एक समीक्षात्मक विवरण दिया है।

साधारणतः मर्ले पोन्ती को अस्तित्ववादी कहा जाता है, किन्तु उनका दर्शन प्रचलित अस्तित्ववादी का एक और उदाहरण मात्र नहीं है। उनके दर्शन में युवा

७. **F. A. Olafson, A Central Them of Merbeau-Ponty's Philosophy.**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अस्तित्ववाद की उच्छृङ्खलता नहीं है, यूरोपीय दार्शनिक परम्परा का गाम्भीर्य है। उसका एक विशेष कारण है। अन्य अस्तित्ववादियों के समान पोन्ती उन्नीसवीं शताब्दी के दर्शनों के भावनात्मक पक्ष से उतने प्रभावित नहीं हैं। उनका अपना दृष्टिकोण कुछ स्वतंत्र सा है, यहां तक कि हुस्सर्ल (जिनके विचारों और पोन्ती के विचारों में अनुरूपता भी है) के विरूद्ध भी पोन्ती अपना स्वतंत्र मत देते हैं और उसकी पुष्टि दार्शनिक युक्तियों के द्वारा करते हैं।

साधारण अस्तित्ववादी विचारधारा से मर्ले पोन्ती के दर्शन का अन्तर अन्य दो कारणों से भी है। मर्ले पोन्ती का विज्ञान तथा मनोविज्ञान से परिचय था। यों, सार्त्र तथा हाईडेगर के संबंध में भी कहा जाता है कि उनकी सूझ मनोवैज्ञानिक थी। किन्तु, उन लोगों ने मनोविज्ञान के शोध–परिणामों को अपने दर्शन में कभी महत्त्व नहीं दिया। लेकिन मर्ले पोन्ती ने **गेस्टाल्ट** मनोविज्ञान के प्रयोगों का अपने प्रत्यक्ष–सिद्धान्त में उपयोग किया। वे तो भौतिक विज्ञान तथा दर्शन के बीच भी अनिवार्य सहयोग–संबंध मानते थे, उनके अनुसार इन दोनों के बीच विरोध का प्रश्न ही नहीं है। दूसरी बात, जिसे मर्ले पोन्ती के दर्शन की एक विशिष्टता कहा जा सकता है, वह यह है कि उनके अनुसार दार्शनिक विचार में भी सामाजिक समस्याओं का महत्व है। इसकी पुष्टि सार्त्र ने भी की है और कहा है कि मर्ले पोन्ती तो अपने विचार की प्रारम्भिक अवस्था में ही राजनैतिक एवं सामाजिक यथार्थवादी थे। समाज-संबंधी समस्याओं को यह महत्त्व अन्य अस्तित्ववादी दर्शनों में नहीं मिला है।

लेखक के मत में, इन अन्तरों के रहते हुए भी कहा जा सकता है कि मर्ले पोनती ने बहुत–सी ऐसी समस्याओं पर प्रकाश डाला है और उनका सरलीकरण किया है जो अस्तित्ववादी दर्शन की पृष्ठ भूमि तैयार करता है। यह ठीक है कि कुछ अर्थों में मर्ले पोन्ती को स्वयं हुस्सर्ल से प्रकाश मिला, किन्तु उन्होंने हुस्सर्ल की समस्याओं पर अपने ढंग से विचार किया, अपने ढंग से जांचने का प्रयत्न किया कि कैसे डेकार्ट के दर्शन की कुछ मूल भूलों को दूर किया जा सकता है।

सच पूछा जाय तो फिनोमिनोलोजी और अस्तित्ववादी दर्शन प्रत्ययवादी दर्शन के विरुद्ध प्रतिक्रियाएं हैं। मर्ले पोन्ती का "फिनोमिनोलोजी ऑफ पर्सेप्शन" भी इसका अपवाद नहीं है। किन्तु, इनके विरोध का केन्द्र समीक्षात्मक प्रत्ययवाद क्रिटिकल आइडिअलिज़्म है, और इस विरोध का आधार तार्किक अथवा ज्ञानमीमांसात्मक है, नैतिक, धार्मिक या तात्विक नहीं। इस लेख में मर्ले पोन्ती के प्रत्यक्ष-सिद्धान्त को 'मॉडल' बना कर यह दिखलाया गया है कि कैसे वे समीक्षात्मक प्रत्ययवाद की आलोचना करते हैं और उसी आलोचना के आधार पर अपने प्रत्यक्ष-सिद्धान्त की रूप रेखा बनाते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समीक्षात्मक प्रत्ययवाद ऐन्द्रिय अनुभव एवं 'बौद्धिक विचार' के द्वैत को मान कर चलता है। यह प्रदत्त से आरम्भ तो करता है, किन्तु दिखलाता है कि ऐन्द्रिय–प्रदत्त (सेंस डाटम) का अनुभव 'वस्तु' का प्रत्यक्ष नहीं है। वस्तु–भाव तो बौद्धिक क्रिया का परिणाम है। बौद्धिक क्रिया, जैसा कि कांट ने कहा है, इन्द्रियों से प्राप्त 'प्रदत्त' को 'निर्णयों' में बदल देती है। निर्णय करने की शक्ति एक विशिष्ठ मानसिक शक्ति है जो मन में निहित है।

मर्ले पोन्ती ने समीक्षात्मक प्रत्ययवाद के इस सिद्धान्त का खण्डन किया है। यदि इस सिद्धान्त की विवेचना की जाय तो यही निष्कर्ष निकलता है कि यह निर्णय ऐन्द्रिय प्रदत्त तथा बौद्धिक क्रिया–दोनों से परे किसी 'वस्तु' की ओर इंगित करता है। किन्तु, यहां एक तार्किक कठिनाई उपस्थित हो जाती है। कैसे ये क्रियाएं अपने से 'परे' चली जाती हैं? शायद इसी कारण हुस्सर्ल ने अपने विषयापेक्षा–सिद्धान्त का प्रतिपादन किया और इस बात पर जोर दिया कि चेतना स्वरूपतः विषयापेक्षात्मक है।

समीक्षात्मक प्रत्ययवाद के इस सिद्धान्त में मर्ले पोन्ती को एक और दोष दिखाई देता है। उनके अनुसार यह सिद्धान्त प्रदत्त या बौद्धिक क्रिया की व्युत्पत्ति अथवा विकास की व्याख्या नहीं कर पाता। इस प्रकार के सभी सिद्धान्त प्रत्यक्ष-वस्तु की सत्ता एवं स्वरूप को मान कर चलते हैं और उसी मान्यता के अनुरूप बौद्धिक या मानसिक क्रिया की व्याख्या करते हैं। फलतः वे प्रत्यक्ष को आदिम और अविश्लेष्य नहीं मानते।

पोन्ती प्रत्यक्ष–प्रक्रिया का एक अपना विवरण देते हैं जिसे समीक्षात्मक प्रत्ययवादी तथा भौतिकवादी विवरणों का मध्यवर्ती कह सकते हैं। इसे समझने के लिए पोन्ती ने प्रत्यक्ष के बौद्धिक विवरणों की आलोचना की है और अपनी आलोचना में प्रत्यक्ष से संबंधित **तीनों** प्रमुख तत्वों को ध्यान में रखा है—(क) वस्तु का प्रत्यक्ष, (ख) शरीर का प्रत्यक्ष और (ग) अन्य के मन का प्रत्यक्ष।

पोन्ती का कहना है कि इन सिद्धान्तों के तर्कों के आधार पर ही कहा जा सकता है कि वे **वस्तु के प्रत्यक्ष** की सफल व्याख्या नहीं कर पाते। यह तो सभी मानते हैं कि यदि हम सचमुच किसी वस्तु को देख रहे हैं तो उसके कुछ पक्ष ही मेरी दृष्टि में हैं–अन्य पक्ष 'छिपे' रहते हैं। अब यदि इस तर्क को आगे बढ़ाएं तो कहना होगा कि जिसे हम वस्तु कहते हैं वह किसी विशेष प्रत्यक्ष का परिणाम नहीं, परिप्रेक्ष्यों के क्रम का परिणाम है। इसका अर्थ हो जाता है कि कोई 'वस्तु' हमारे प्रत्यक्ष का विषय नहीं रह जाती, जो वस्तु रूप हम देखते हैं वह कुछ अनुभवों के संबंधों का परिणाम है। एक विचित्र बात हो जाती है, हमें ऐसे अनुभव तो मिलते हैं जो किसी ओर संकेत करते हैं (ऐक्ट्स आफ रेफरिंग), किन्तु उनका कोई संकेतित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषय उपलब्ध नहीं होता। इस प्रकार यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि कैसे किसी विशेष 'वस्तु' का प्रत्यक्ष होता है। मर्ले पोन्ती कहते हैं कि इन सिद्धान्तों के बल पर हम प्रत्यक्ष-अनुभव के विषय की व्याख्या नहीं कर पाते, अधिक से अधिक इतना ही कह सकते हैं कि इन अनुभवों का विषय भविष्य के कुछ **'अनुभव-क्रम'** हैं।

'शरीर' वे प्रत्यक्ष के संबंध में भी उसी प्रकार का निष्कर्ष निकल आता है। शरीर के जो हमारे साधारण अनुभव हैं वे शरीर के बौद्धिक अनुभव से भिन्न हैं, और इसी कारण इन बौद्धिक सिद्धान्तों को मान्यता नहीं मिल पाती। मर्ले पोन्ती के अनुसार वस्तुओं का प्रत्यक्ष शरीर की 'क्रिया' पर आधृत है। 'शरीर' में विश्वास आदिम एवं सहज विश्वास है और इसी कारण 'शरीर' का प्रत्यक्ष रूप गौण हो जाता है।

'अन्य मन' के संबंध में मर्ले पोन्ती प्रायः निश्चित रूप से ही कहते हैं कि 'अन्य मन' से साक्षात् होता है। यह प्रत्यक्ष भले न हो, साक्षात्कार अवश्य है। साधारणतः इस सिद्धान्त को समझने में कठिनाई होती है, क्योंकि लोग अपने और शरीर के संबंध की ही व्याख्या नहीं कर पाते। किन्तु यदि 'शरीर' में विश्वास कर लिया जाय तो शरीर के माध्यम से ही यह भी समझा जा सकता है कि 'मैं' एवं 'मेरा अनुभव-जगत्' किसी 'अन्य' के भी अनुभव के अंग हैं।

अन्त में, लेखक मर्ले पोन्ती के प्रत्यक्ष संबंधी विचार और आधुनिक भाषा-दर्शन के एतत्संबंधी विचार के बीच समानता दिखलाते हैं। उनके अनुसार दोनों गोचर-जगत् के गोचर-रूप को महत्त्व देते हैं। भौतिकी में भी कभी-कभी कहा जाता है कि प्रत्यक्ष-वस्तु का तथ्य उनके प्रत्यक्ष-रूप में नहीं, अपितु भौति क अणु-रूप तथ्यों में है जिनके संघात-भौतिक पदार्थ हैं। लेखक का मत है कि इस स्थल पर मर्ले पोन्ती भी 'नूतन विट्गेन्स्टाइनीय' के समान यह तर्क देते हैं कि एक दृष्टिकोण से भौतिकी के द्वारा बताए तथ्य वस्तुओं के गोचर रूप पर ही निर्भर करते हैं, क्योंकि यदि हमें भौतिक जगत् का भान ही न हो तो इन तथ्यों की बात हमारे लिए निरर्थक होगी।

ऐसी समानताएं दिखाने का यह तात्पर्य नहीं है कि लेखक दोनों विचारों की भिन्नताओं अथवा विषमताओं को भुला देते हैं। नहीं, वे स्पष्ट कहते हैं कि दोनों विचारधाराओं में कम से कम दो मौलिक बातों में अन्तर है। पहली बात तो यह है कि मर्ले पोन्ती यह स्वीकार नहीं करते कि उनके विवेचन का उद्देश्य शुद्ध रूप में तार्किक या भाषा-विश्लेषणात्मक है। दूसरी बात, भाषा-दर्शन के विपरीत, मर्ले पोन्ती के दार्शनिक विवेचन की प्रेरणा मानव-आन्तरिकता (ह्यूमन सब्जेक्टिविटी) का विचित्र स्वरूप है जिसकी झलक मानव-अनुभव के विश्लेषण में मिलती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुस्सर्ल एवं विट्गिन्स्टाइन के भाषा-संबंधी विचार[७]

प्रारम्भ में ही लेखक यह स्पष्ट कर देते हैं कि उनका उद्देश्य कोई नयी 'खिचड़ी' तैयार करना नहीं है। वे सतर्क हैं कि हर दर्शन के स्वरूप एवं विकास की उसकी अपनी पद्धति होती है। फिर भी, इस प्रकार के दो दार्शनिक विचारों को एक साथ देखने पर एक को दूसरे के द्वारा समझने का प्रयत्न किया जा सकता है और इस आदान-प्रदान के फलस्वरूप कुछ नयी समस्याओं को प्रकाश में लाया जा सकता है।

अपने इस तुलनात्मक अध्ययन को लेखक दो भागों में विभक्त कर देते हैं। पहले भाग में हुस्सर्ल के 'लाजीकल इन्वेस्टीगेशंस्' और विट्गेन्स्टीन के 'ट्रक्टेटस' के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर भाषा के स्वरूप पर विचार किया गया है, और दूसरे भाग में भाषा के स्वरूप पर विचार विट्गेन्स्टीन के (इन्वेस्टीगेशंस्) और हुस्सर्ल के अन्तिम लेखों के तुलनात्मक अध्ययन पर आधृत है।

हुस्सर्ल 'लाजिकल इन्वेस्टीगेशंस्' में एक अर्थ–सिद्धांत प्रतिपादित करते हैं। इसके पहले 'प्रोलेगोमेना' में उन्होंने एक तार्किक सिद्धान्त की रूपरेखा खींची थी और कहा था कि तार्किक तथ्य मनोवैज्ञानिक तथ्यों से पूर्णतया स्वतन्त्र है। तार्किक तथ्य से उनका आशय प्रतीकात्मक चिह्नों की व्यवस्था से है। अतः तार्किक तथ्य भाषा के तथ्य हैं क्योंकि ये'चिह्न' भाषा के ही भिन्न स्तरीय चिह्न हो सकते हैं। किन्तु, हुस्सर्ल के अनुसार भाषा के कथन तो विषयापेक्षा पर आधृत हैं, क्योंकि भाषा जिन क्षेत्रों को घेरती है (जैसे, प्रत्यक्ष, कल्पना, इच्छा, संकल्प आदि) वे सब विषयापेक्षा के ही अंग हैं। तो, अब भाषा के स्वरूप को समझने के लिए दो स्तरों में अन्तर करना आवश्यक है। एक तो भाषा का **आदर्श** होगा, दूसरा उसका **आधार**। हुस्सर्ल के अनुसार, भाषा का आदर्श उन चिह्नों की तार्किकता है, अर्थात्, इनकी बौद्धिक अर्थ–पूर्णता है। भाषा का आधार यह चेतना है जिससे भाषा उत्पन्न होती है। हुस्सर्ल के अनुसार भाषा का वास्तविक स्वरूप इन दोनों स्तरों का **मध्यवर्ती** है। तार्किक दृष्टिकोण से भाषा तक दोनों ओर से पहुंचा जा सकता है, ऊपर से आदर्श की ओर से, और नीचे से–चेतन आधार की ओर से। अपने में भाषा दोनों के बीच है। इन चिह्नों की तार्किकता और विषयापेक्षी चेतना के बीच।

लेखक के मत में इस सिद्धान्त और विट्गेन्स्टीन के 'चित्र–सिद्धांत' में एक दृष्टिकोण से भिन्नता है तो दूसरे दृष्टिकोण से समानता है। यदि हम दोनों के संदर्भ पर विचार करें तो दोनों एक–दूसरे से भिन्न हैं। प्रथमतः हुस्सर्ल तार्किक सत्यों की निरपेक्षता से ऊपर उठना चाहते हैं और विट्गेन्स्टीन पुनरोक्ति की अर्थहीनता से। फिर, ट्रैक्टेटस विश्व से संबंधित प्रतिज्ञप्तियों से आरम्भ करता है, इसी

७. **Paul Ricoeur, Husserl and Wittgenstein on Language.**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कारण वहां तथ्य, वस्तु आदि का विवेचन चित्र की व्याख्या के पहले ही है। चित्र स्वयं तथ्य का ही चित्र है। फिनोमिनोलोजी में संदर्भ सर्वथा भिन्न है। ट्रैक्टेटस के जो प्रारम्भिक विवेचन हैं, वे हुस्सर्ल के अनुसार, फिनोमिनोलोजी परक विवेचन के विषय हो ही नहीं सकते, क्योंकि वह विवेचन मानव की प्राकृतिक अभिवृत्ति (नैचुरल एटीट्यूड) के अनुसार किया गया है।

फिर भी, दूसरे दृष्टिकोण से इन दोनों विचारों में समानता है। विट्गिंस्टाइन का 'चित्र' और हुस्सर्ल का 'अर्थ', जिन्हें ये भाषा के लिए आवश्यक तत्त्व मानते हैं, एक दृष्टिकोण से एक ही हैं। दोनों की व्याख्या में भाषा के सभी रूपों पर (कथन, चिह्न, नक्शे, रेखा-चित्र, फोटोग्राफ आदि) ध्यान देना आवश्यक प्रतीत होता है। फिर, एक दृष्टिकोण से कहा जा सकता है कि **चित्र जो कहता है वही उसका अर्थ** है। इस प्रकार दोनों में समानता दिखाई जा सकती है। किन्तु, लेखक के मत में यहां भी एक भिन्नता है। चित्र उस वस्तु को सूचित कर सकता है जिसका रूप चित्र में है, किन्तु **चित्र-रूप** (पिक्टोरियल फोर्म) को सूचित नहीं करता, उसका प्रदर्शन करता है। चित्र और अर्थ की पूर्ण समानता को स्वीकार नहीं किया जा सकता। चित्र से पूर्ण अर्थ का निर्देश नहीं होता, उसका **चित्र-रूप** उसका अर्थ नहीं है।

अब दूसरे स्तर में हुस्सर्ल और विट्गिन्स्टाइन के भाषा-विचार का अध्ययन करें। हुस्सर्ल ने अपने अन्तिम लेखों में भाषा के रूप पर पुनः विचार किया है। उसके अनुसार चिह्न तो चिह्न है, इसलिए रिक्त है। अब कैसे इन रिक्त चिह्नों को पूरित किया जा सकता है? हुस्सर्ल के लिए इस 'पूर्णन' की समस्या (प्राब्लम आफ फुल्फिलमेंट) एक नवीन समस्या हो जाती है। यहां पुनः हुस्सर्ल अपने निरोधन अथवा स्थगन (रिडक्शन) तथा प्रश्न के सिद्धान्त को प्रतिपादित करते हैं। इन रिक्त चिह्नों की पूर्ति अनुभव के मूल रूप से ही सम्भव है, किन्तु, अनुभव के मूल रूपों तक हम इन्हीं चिह्नों एवं निर्णयों के द्वारा ही पहुंच सकते हैं। साधारण भाषा में, इन चिह्नों की रिक्तता भरने के लिए भाषा को फिर पीछे लौटकर देखना पड़ता है—उन मौलिक अनुभवों की ओर देखना पड़ता है जिनकी ओर भाषा संकेत करती है। इस प्रकार हुस्सर्ल तार्किक भाषा से पुनः **पीछे** चल पड़ते हैं—साधारण भाषा की ओर।

विट्गिन्स्टाइन ऐसा नहीं करते। अपने 'इन्वेस्टीगेशंस्' में वे साधारण भाषा पर प्रत्यक्ष रूप में आते हैं, परोक्ष ढंग से नहीं। उनका संदर्भ अर्थ नहीं, व्यवहार है। एक प्रकार से उनके इस व्यवहार की तुलना हुस्सर्ल के 'डोक्सा' से की जा सकती है। अन्तर यही है कि विट्गिंस्टाइन भाषा के साधारण एवं वास्तविक व्यवहार का विश्लेषण करते हैं, किन्तु, हुस्सर्ल इस व्यवहार के अतिक्रामी (ट्रांसेंडेंटल) उपादानों का विश्लेषण करते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विट्गिंस्टाइन की दृष्टि में एक लाभ है। इसके अनुसार किसी निश्चित निदर्श (मॉडल) की आवश्यकता नहीं रहती। फलतः भाषा के अनगिनत व्यवहार दिखाई दे जाते हैं, भाषा में खेल के अनुरूप व्यवस्था और निर्बन्धता आ जाती है। 'भाषा के खेल' पर जोर देने में विट्गिंन्स्टाइन एक और तथ्य पर प्रकाश डालते हैं। वे भाषा-व्यवहार को भी जीवन की एक क्रिया मानते हैं, यह जीवन का अंग है। हुस्सर्ल के भाषा–सिद्धान्त में जीवन–जगत् परोक्ष रूप से देखा जाता है, इस जगत् की ओर तार्किक-सत्य संकेत करते हैं। किन्तु, विट्गिंन्स्टाइन दैनिक अनुभव-जगत् में आ उतरता है और भाषा-व्यवहार को खाने-पीने-सोने के समान जीवन-क्रिया बना देता है।

मनोविज्ञान के लिए फिनोमिनोलाजी दर्शन की प्रासंगिकता[८]

इस लेख का एक विशेष संदर्भ है। कुछ विचारक मनोविज्ञान तथा फिनोमिनोलोजी के बीच आवश्यक संबंध मानते हैं, लेकिन कुछ अन्य विचारक दोनों को सर्वथा भिन्न मानते हैं। इसी मतभेद के कारण लेखक दोनों के पारस्परिक सबंध की सम्भावनाओं पर विचार करते हैं।

इस का एक ढंग तो यह हो सकता था कि दोनों के ऐतिहासिक संबंध का निर्देश कर दिया जाता। दूसरा ढंग इनकी मौलिक अवधारणाओं तथा प्रयोजनों का विवेचन कर इन में अनुरूपता और संबंध देखना हो सकता है। यह दूसरा ढंग ही अधिक उपयुक्त तथा दार्शनिक है। इसी कारण लेखक दोनों के मूल अवधारणाओं तथा मान्यताओं का तुलनात्मक अध्ययन करता है।

लेखक के अनुसार एक दृष्टिकोण से मनोविज्ञान फिनोमिनोलोजी को मान कर चलता है। इसे स्पष्ट करने के लिए लेखक एक विशेष उदाहरण लेते हैं। इस उदाहरण की व्याख्या तो बाद में होगी किन्तु, रुचिकर बात यह है कि दोनों को पारस्परिक सहयोग की सम्भावना का ज्ञान नहीं है। प्रारम्भ में तो हुस्सर्ल ने स्वयं फिनोमिनोलोजी को विवरणात्मक मनोविज्ञान (डिस्क्रिप्टिव साइकोलोजी) कहा था, किन्तु, बाद में इसका खण्डन किया। बाद में फिनोमिनोलोजी को उन्होंने चेतना के अनुभव का विज्ञान कहा। उनके अनुसार चेतना के अनुभव के अन्तर्गत केवल चेतना ही नहीं, बल्कि अपेक्षा विषय भी आ जाते हैं। लेख में फिनोमिनोलोजी को उसके इसी अर्थ में लिया जा रहा है और उसके इसी अर्थ में मनोविज्ञान के लिए इसकी प्रासंगिकता का प्रश्न उठाया जा रहा है।

---

८. **Herbert spiegelberg, the Relevance of Phenomenological philosophy for psychology.**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेखक के अनुसार कोई विश्वास किसी अन्य के लिए निम्नलिखित ढंग से प्रासंगिक हो सकता है (क) सबसे सशक्त प्रासंगिकता तब आती है जब कोई किसी का **आवश्यक एवं पर्याप्तकारण** हो। उदाहरणतः रसेल के अनुसार गणित में तर्क शास्त्र की प्रासंगिकता इसी प्रकार की है। (ख) **कारण आवश्यक हो, किन्तु पर्याप्त नहीं** हो। ऐसी प्रासंगिकता भौतिकी के लिए गणित की है। (ग) इसमें कुछ कमज़ोर प्रासंगिकता आती है यदि **कारण आवश्यक नहीं हो किन्तु पर्याप्त हो**। जैसे, किसी भाषा के अध्ययन में, उसमें निहित सिद्धांत के निरूपण की प्रासंगिकता। यह अंतिम प्रासंगिकता का सबसे प्रचलित रूप है। 'क' 'ख' के लिए न आवश्यक है न यथेष्ठ, फिर भी 'क' की उपस्थिति से 'ख' की परिस्थिति में **एक महत्वपूर्ण अन्तर पड़ जाता है**। तो कहा जा सकता है कि 'ख' के लिए 'क' प्रासंगिक है।

लेखक प्रासंगिकता के इन चारों उपादानों में उलझते नहीं हैं, उनका उद्देश्य यह दिखलाना है कि यदि किसी प्रकार यह सिद्ध किया जा सके कि फिनोमिनोलोजी के मनोविज्ञान के लिए अनिवार्य नहीं होने पर भी वह मनोविज्ञान को प्रभावित करती है–उसमें कुछ अन्तर ला देती है, तो मनोविज्ञान में फिनोमिनोलोजी की प्रासंगिकता सिद्ध हो जाती है।

हुस्सर्ल ने **मनोवैज्ञानिकतावाद** (साइकोलोजिस्म) का बड़ा सशक्त खण्डन किया था। किन्तु, लेखक के अनुसार इससे हुस्सर्ल का मनोविज्ञान के प्रति विरोध सिद्ध नहीं होता, क्योंकि उन्होंने मनोविज्ञान के उस रूप के विरुद्ध आवाज उठायी थी जिसमें तर्कशास्त्र को भी मनोविज्ञान का अंग बनाने का प्रयत्न किया गया था। सच पूछा जाय तो हुस्सर्ल के अनुसार भी फिनोमिनोलोजी तथा मनोविज्ञान में आवश्यक संबंध है। लेखक के मत में कई स्थलों पर हुस्सर्ल ने कुछ ऐसे विश्लेषण किए हैं जो मनोविज्ञान के लिए महत्त्वपूर्ण हैं, जैसे, हुस्सर्ल के **'आईडीन'** में प्रत्यक्ष का विश्लेषण, हाईडेगर के द्वारा सम्पादित **भाषणों** में काल की चेतना का विश्लेषण आदि। इनमें सबसे स्पष्ट मनोवैज्ञानिक महत्त्व **चेतना की विषयापेक्षा वृत्ति** के विश्लेषण का है। अनुभव की चेतना, उसके द्वारा अपेक्षित विषय, तथा इन दोनों का आवश्यक संबंध आदि के विश्लेषण से मनोवैज्ञानिक अध्ययन में योगदान मिलेगा ही।

लेखक आधुनिक मनोवैज्ञानिक अध्ययनों का उदाहरण लेते हैं और दिखलाते हैं कि ये हुस्सर्ल के फिनोमिनोलोजी से प्रभावित हैं। गोटीन्जेन के युवा मनोवैज्ञानिक **काट्ज** ने स्वीकार किया है कि उन्होंने जो धरातलीय रंग एवं फिल्मी रंग में भेद किया वह हुस्सर्ल के प्रत्यक्ष के विश्लेषण से प्रभावित था। फिर, **कुल्पे** के शोध–कार्यों में हुस्सर्ल का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है। कुछ **गेस्टाल्ट** मनोवैज्ञानिकों ने भी हुस्सर्ल के कार्यों की सराहना की और उनका उपयोग अपने अध्ययन में किया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन ऐतिहासिक प्रभावों के अतिरिक्त लेखक ने यह भी दिखलाया है कि फिनोमिनोलोजी-दर्शन में कुछ ऐसी बातें निहित हैं जिनसे मनोविज्ञान अछूता नहीं रह सकता। प्रथमतः, यह तो स्वीकार करना ही है कि अनुभव के मनोविज्ञान में चेतना-वृत्तियों की व्याख्या आवश्यक है। चेतना अनिवार्यतः विषयापेक्षात्मक है। विषयापेक्षा की व्याख्या फिनोमिनोलोजी में ही उपलब्ध है। फिर, अनुभव-मनोविज्ञान कुछ मूल भावों तथा मानसिक क्रियाओं (जैसे, व्यवहार, प्रत्यक्षीकरण, अवगति आदि) को मान कर चलता है। किन्तु, इनका स्पष्ट विवरण मनोविज्ञान नहीं दे पाता; बल्कि, इनके मनोवैज्ञानिक विवरण तो इन भावों के साधारण भाषा-प्रयोगों पर आधृत रहते हैं। फिनोमिनोलोजी इनके मूल अनुभव-प्रदत्त रूप की व्याख्या करता है। स्पष्ट है कि ऐसी व्याख्या मनोविज्ञान के लिए महत्त्वपूर्ण होगी ही। एक बात और है, मनोवैज्ञानिक अध्ययन यह स्पष्ट कहीं कर पाते कि कैसे चेतना के विभिन्न विषय अनुभव में संगठित होते हैं। मनोविज्ञान के पास इस ज्ञान का कोई साधन नहीं है। यहां फिनोमिनोलोजी-दर्शन मनोविज्ञान की सहायता कर सकता है। हुस्सर्ल कहते हैं कि कम से कम **तीन** क्रियाओं के स्पष्टीकरण के बिना मनोविज्ञान निश्चित विज्ञान नहीं हो सकता—शुद्ध वैयक्तिक अनुभव का विवरण, अनुभव के आवश्यक तत्त्वों का निरूपण, और अनुभव-जगत् के संगठन का निर्देश। फिनोमिनोलोजी का उद्देश्य ही इनका स्पष्टीकरण है, और इस कारण फिनोमिनोलोजी विधि मनोविज्ञान के लिए प्रासंगिक हो जाती है।

अपने इस मत को एक उदाहरण के द्वारा पुष्ट करने के उद्देश्य से लेखक प्रत्यक्ष के क्षेत्र-सिद्धान्त (फील्ड थीयरी) का उदाहरण लेते हैं, और दिखलाते हैं कि कैसे इस अध्ययन में फिनोमिनोलोजी एवं मनोविज्ञान के सहयोग की सम्भावना है। आधुनिक मनोवैज्ञानिक अध्ययन में प्रत्यक्ष-क्षेत्र के संबंध में अनेक अवधारणाएं प्रकाश में आयी हैं। सबसे प्रमुख तो **संवृत्ति-जगत्** (फिनोमिनल वर्ल्ड) का भाव है। इससे **विषयगत-प्रत्यक्ष-क्षेत्र** में अन्तर किया जाता है। कुछ मनोवैज्ञानिक इसी आधार पर **'अनुभव-जगत्'** की बात करते हैं। सौल रोजेन्ज़्वीग ने तो व्यक्ति की क्रियाशीलता को अनुभव के संगठन का आधार माना है। इन सभी भावों में अनुभव-क्षेत्र की अनुभव निरपेक्षता को गौण बना दिया गया है और क्षेत्र की वास्तविकता अनुभवगत संबंधों से सिद्ध की गयी है। लेखक का कहना है कि हुस्सर्ल का लेख 'यूरोपीय विज्ञानों का संकट एवं अतिक्रामी-फिनोमिनोलोजी' (क्राइसिस आफ दि यूरोपियन साइंसिस एण्ड ट्राँसेंडेंटल फिनोमिनोलोजी), जो उनके मरणोपरान्त प्रकाशित हुआ, यह स्पष्ट करता है कि कैसे इन मनोवैज्ञानिक अवधारणाओं के स्पष्टीकरण में फिनोमिनोलोजी सहायक हो सकती है। इसमें जीव-जगत् की व्याख्या की गयी है, जिस व्याख्या का केन्द्र अनुभवकर्त्ता है। इस लेख में कुछ ऐसे भावों की व्याख्या की गयी है और उन्हें अनुभव में स्थान दिया गया है जिनकी व्याख्या वस्तु-निष्ठ विज्ञान वस्तु-निष्ठ ढंग से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर ही नहीं सकता-जैसे दूरता-निकटता, ऊपर-नीचे, दांए-बांए आदि का प्रत्यक्ष। इस लेख में अनुभव के उन भावनात्मक लक्षणों का भी उल्लेख हुआ है जिनकी ओर विज्ञान देखता भी नहीं, जैसे आत्मीय-पर, प्राचीन-नवीन, परिचित-अपरिचित आदि। स्पष्ट है, मनोविज्ञान की नवीनतम अवधारणाओं (जैसे विषय-जगत् अथवा संवृत्ति-जगत्) के अध्ययन में हुस्सर्ल के इस प्रकार के विवेचन से बड़ा ही महत्त्वपूर्ण सहयोग प्राप्त होगा।

अस्तित्ववाद तथा मानव–अलगाव[९]

लेखक के अनुसार आधुनिक संस्कृति के विश्लेषण में 'अलगाव' की भावना का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अपने लेख में लेखक पहले 'अलगाव' के शाब्दिक अर्थ और उसकी विषमताओं का वर्णन करते हैं, फिर इस भाव के आवश्यक लक्षण का स्पष्टीकरण करते हैं, और अन्त में, यह दिखलाते हैं कि 'अलगाव' की भावना का अस्तित्ववादी विचारधारा द्वारा मानव के स्वरूप विवेचन में क्या स्थान है। अपने इस उद्देश्य की परिपूर्ति वे एक सामान्य ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में करते हैं, जिसके प्रथम भाग में हेगेल, मार्क्स एवं टानीस के विचारों का विवरण दिया गया है, और दूसरे भाग में कुछ प्रमुख अस्तित्ववादी विचारकों – सार्त्र, हाईडेगर एवं यास्पर्स-के विचारों का।

'एलिअनेशन' शब्द लैटिन **'एलियेनेसिया'** अथवा इसके क्रिया-रूप **'एलियेनो'** से निकला है। लैटिन में इस शब्द के विभिन्न अर्थ बताए गए हैं—अपने से अलग तनाव, मानसिक विकृति, आदि। विशेषण रूप में लैटिन शब्द **'एलियनस-अम'** है जिसके अर्थ विपरीत, विरोधी, असंगत आदि हैं। धीरे धीरे इस शब्द के तीन प्रकार के सहचारी हो गए--(क) सम्पत्ति का हेरफेर, (ख) तनाव या कमी, और (ग) पागलपन या मानसिक विकृति। स्पष्ट है, दर्शन की परम्परा में (ख) को ही महत्त्व दिया गया है।

इस भाव के दार्शनिक इतिहास के सिंहावलोकन में लेखक सर्वप्रथम **हेगेल** का उल्लेख करते हैं। हेगेल अपने 'फिनोमिनोलोजी' में 'अलगाव' को **तात्विक** अर्थ-देते हैं। विषयी और विषय के द्वैष में अलगाव-भाव को स्थान दिया गया है। प्रथमतः विषयी अपने को एक स्वतंत्र सत्ता के रूप में समझता है और अपने अन्तर में किसी द्वैत की अनुभूति नहीं करता। किन्तु, उसकी चेतना उसे 'विषय' की ओर ले चलती है। अब उसकी आत्म-चेतना में विषय की चेतना प्रवेश कर जाती है। पहली चेतना को प्रथम पक्ष (थीसिस) कहा गया है और दूसरी चेतना उसका प्रतिपक्ष (एंटीथीसिस) है। हेगेल के अनुसार यह विरोध

---

९. **Albert W. Levi, Existentialism and the Alienation of Maur.**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शाश्वत नहीं है, इसके दोनों पद एक उच्च संश्लेषण में समाविष्ट हो जाते हैं। किन्तु इस विरोध की अपनी वास्तविकता है, और इसी विरोध में 'अलगाव' की अनुभूति होती है। हेगेल के अनुसार यह अलगाव दो ढंगों का है। एक तो चित् अपने अन्तर में ही अलगाव अनुभव करता है, और फिर यह अनुभूति बाह्य विषय-चेतना में भी होती है। प्रथम प्रकार के अलगाव की अभिव्यक्ति कला-कृतियों अथवा सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों में होती है, और दूसरे की विषय-जगत् में। हेगेल यह भी समझते हैं कि अलगाव-भाव में स्थायित्व नहीं है, जब विषयी और विषय का द्वैत एक उच्च संगठन में समाविष्ट हो जाता है तो अलगाव का भाव समाप्त हो जाता है।

मार्क्स ने इस भाव की विवेचना अपने प्रारम्भिक लेखों में की है। उनकी विवेचना तात्विक नहीं है, **आर्थिक संदर्भ** में है। मार्क्स के अनुसार अलगाव-भाव पूंजीवादी समाज में ही रहता है। सर्वहारा-वर्ग मजदूरी करता है, किन्तु वह अपनी मजदूरी के फल से वंचित रहता है। एक तो यही अलगाव है। इससे अधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि पूंजीवादी 'मज़दूर एवं मज़दूरी' को अपनी पूंजी बढ़ाने का एक साधन बना लेता है, अर्थात्, मज़दूर के व्यक्तित्व तथा मनुष्यत्व का अपहरण कर लेता है और उसे मात्र 'साधन' बना देता है। परिणाम यह होता है कि उसे अपने कार्यों से, कार्यों के फल से, अपने आप से 'अलगाव' की अनुभूति होती है। 'पूंजी' अब मनुष्य से अलग एक मूल्य बन जाता है और पूंजीवादी समाज उसकी पूजा करता है। मार्क्स भी, हेगेल के समान, अलगाव को स्थायित्त्व नहीं देते। उनका भी कहना है कि पूंजीवादी समाज के नाश के साथ ही यह भावना समाप्त हो जाती है।

अलगाव-भाव के इतिहास में लेखक **फर्डिनाण्ड टौनीस** को भी एक विशिष्ट स्थान देते हैं। उनका विवेचन हेगेल के समान तात्त्विक नहीं है और न मार्क्स के समान अर्थ-संदर्भ में है। वे अलगाव की व्याख्या समाज शास्त्रीय दृष्टिकोण से करते हैं। उन्होंने समुदाय तथा समाज में भेद किया है। समुदाय, जिसका उदाहरण समाज की प्राचीन व्यवस्था में मिलता है, पारस्परिक प्रेम, सहानुभूति, विश्वास, रक्त-संबंध आदि पर आधृत रहता है। इसके विपरीत आधुनिक समाज कुछ समझौतों, कुछ प्रयोजनों के सूत्र से व्यक्तियों को एक साथ सूत्रित कर देता है। यही कारण है कि प्राचीन ढंग के समुदाय में **'अपनेपन'** का भाव रहता है, आधुनिक समाज में **'अलगाव'** का।

इस ऐतिहासिक विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि 'अलगाव' का एक विशिष्ट अर्थ है जो किसी न किसी रूप में अपने हर विवेचन में वर्तमान है। 'अलगाव' विमूल्य (डिस्वेल्यू) है, एक निषेधात्मक वाक्य का उद्देश्य है, कुछ मूल्यों के ह्रास को सूचित करने का संकेत है। लेखक के मत में, अलगाव से मुख्यतः निम्नलिखित मूल्यों का निषेध होता है, एकता (हेगेल में), मानवीय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संगठन (मार्क्स में) और सहजता (टौनीस में)। हर अलगाव की भावना में द्वैत-भाव रहता है। पहले में एकता एवं विषमता का द्वैत है, दूसरे में मानवीय संगठन एवं अमानवीयकरण का द्वैत है, और तीसरे में सहजता एवं कृत्रिमता का द्वैत है।

अलगाव के इस अर्थ को ध्यान में रखते हुए इसके अस्तित्ववादी विवेचन पर विचार किया जा सकता है। हेगेल, मार्क्स आदि के विचारों से अस्तित्ववादी विचार में एक मौलिक अन्तर है। हैगेल, मार्क्स आदि ने अलगाव को मानव-स्थिति का तथा स्थायी लक्षण नहीं माना. अस्तित्ववाद के अनुसार यह मानव-अस्तित्व का अनिवार्य स्थायी गुण है, इसके निषेध अथवा इसे मर्यादित करने का प्रश्न ही नहीं उठता।

सार्त्र के दर्शन में अलगाव की भावना कई रूपों में प्रकट होती है। विश्वास, भावनात्मक मनोवृत्ति, क्रियाशीलता अथवा क्रिया-रूप इनमें से किसी भी रूप में अलगाव भाव उत्पन्न हो सकता है। आन्तरिक विक्षोभ, स्वतंत्रता पर आक्षेप, विश्व की अर्थहीनता, योजनाओं की विफलता-इन सब से अलगाव-भाव उत्पन्न हो सकता है। संक्षेप में, व्यक्ति के अशुभ विश्वास (bad faith) का अलगाव-भाव एक आवश्यक लक्षण माना गया है। व्यक्ति अपने आन्तरिक संघर्षों में इस विश्वास से ऊपर उठने की चेष्टा करता है, किन्तु, उस चेष्टा में 'अलगाव' का निषेध नहीं होता, उसका रूप बदल जाता है।

सार्त्र के दर्शन में एक अन्य स्थल पर भी 'अलगाव' की व्याख्या की गयी है– जहाँ सार्त्र व्यक्ति और अन्य के संबंध की विवेचना करते हैं। अन्य की दृष्टि में "मैं" एक 'वस्तु' बन जाता हूँ। व्यक्ति का वस्तु बन जाना व्यक्ति से व्यक्ति के मानव-रूप का अलगाव है।

हाइडेगर ने भी अलगाव को व्यक्ति और अन्य के संबंध के संदर्भ में ही रखा है। 'अन्य' भी अपने ढंग से मानव-अस्तित्ववाद का आधार है। यह अन्य कोई निश्चित व्यक्ति नहीं, अन्य के अन्तर्गत सामान्य ढंग से **'वे सभी'** आ जाते हैं। इस समाजिकता का अर्थ है उस स्तर तक वैयक्तिक जीवन का ह्रास। इस प्रकार मानव-अस्तित्व अन्य से संबंधित हो कुछ सीमा तक अपने को खो देता है, यही मानव-अलगाव है।

वैसे, हाइडेगर अलगाव से 'सत्ता का ह्रास' ही समझते हैं, और इस ह्रसा को मानव-अस्तित्व का अनिवार्य लक्षण मानते हैं। जब जब मानव-अस्तित्व अपने दैनिक जीवन की सहज-क्रियाओं में खो जाता है, जब जब वह मानव-अस्तित्व को जीवन पर उभार कर रख नहीं पाता, तब तब उसकी सत्ता असत्त में डूब जाती है। यह मानव-अस्तित्व का अलगाव है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यास्पर्स ने भी अपने ढंग से अलगाव की विवेचना की है। व्यक्ति की अनुभूति में ऐसी अवस्था आती है जब वह सब कुछ 'टूटता' देखता है। अपनी उपलब्धियों से भी उसे विरक्ति आ जाती है, और उसमें एकाकीपन की भावना जागती है। फलतः यास्पर्स के दर्शन में अलगाव के **दो** संदर्भ हैं—एक सामाजिक, दूसरा विश्व-जनित। एकाकीपन समाज से व्यक्ति को अलग करता है, इसकी भयानकता की अनुभूति अलगाव-भावना है। और फिर, जब अपने एकाकीपन में उसे सब कुछ टूटता-गिरता सा प्रतीत होता है, तो उसे विश्व से अलगाव की अनुभूति होती है। यही कारण है कि यास्पर्स के अनुसार यह भावना सार्वभौमता या ईश्वर की ओर उठने का एक अनिवार्य उपादान माना गया है।

इस प्रकार, लेखक दिखलाते हैं कि अस्तित्ववादी दर्शन 'अलगाव' की व्याख्या में आधुनिक मानव की वर्तमान स्थिति को ही आधार बनाते हैं। उनका यह भी विश्वास है कि यह आधुनिक मानव-जीवन का यथार्थ वर्णन है।

पटना विश्वविद्यालय पटना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्याख्या एवं मानव-विज्ञान*

प्रस्तुत निबन्ध में लेखक ने इस प्रश्न पर विचार किया है कि क्या किसी रूप में मानव-संबंधी विज्ञानों में प्राप्य विवरण व्याख्या की अपेक्षा रखते हैं ? और क्या शुद्ध प्रदत्त (ब्रूट डेटा) की धारणा तथा शुद्ध प्रदत्त को सुस्थिर करने की प्रणाली मानव-संबंधी विज्ञानों को उनके तथाकथित लक्ष्य-सामाजिक वस्तुस्थिति के विवेचन अथवा निरूपण में सहायक सिद्ध होती है ? प्रथम प्रश्न का उत्तर स्वीकार में तथा द्वितीय प्रश्न का उत्तर अस्वीकार में दिया गया है।

इस संबंध में लेखक सर्वप्रथम इस प्रश्न पर विचार करता है कि हर्मेन्यूटिक्स (व्याख्या-विज्ञान) संबंधी सामान्य संप्रत्ययों एवं प्रणाली के तत्त्व मानव-संबंधी विज्ञानों में सन्निहित हैं अथवा नहीं ? किसी मूल ग्रन्थ के भाष्य के संबंध में यह प्रश्न उठ सकता है कि उसकी कोई विशेष व्याख्या समीचीन है अथवा नहीं ? इसका उत्तर अन्ततः यह ही हो सकता है कि किसी एक अंश की पुष्टि में अन्य अंशों पर ध्यान दिया जाय। इन अन्य अंशों का पाठ सही है या नहीं, यह उनसे भिन्न अंशों के पाठ पर निर्भर होगा और यह अन्ततः पूर्ण के अन्तः साक्ष्य के द्वारा ही निश्चित हो सकता है। स्पष्ट है कि इसमें व्याख्या मूलक चक्र अन्तर्हित है। इस संबंध में तीन ऐसी आवश्यकताएं हैं जिन्हें स्वीकार करना पड़ता है: (१) अर्थ, जिसे उन पदों से भिन्न रूप में ग्रहण करना चाहिए जो उनको वाहक हैं, (२) अभिव्यंजक पद, जो अर्थ के वाहक हैं, तथा (३) विषयी-एक अथवा अनेक जिस अथवा जिनके लिए यह अर्थ हो। इन आवश्यकताओं के सन्दर्भ में सामाजिक यथार्थ तथा घटनाओं को अर्थवान माना जा सकता है।

उपर्युक्त व्याख्यामूलक चक्र से बाहर कैसे निकला जाय ? इस संबंध में दो दृष्टियां अपनाई गई हैं प्रथम हिगेलीय अथवा बौद्धिकः पूर्ण के बोध में एक

---

* **Interpretation and sciences of Man, Charls Tayler, The Revieue of Metaphysics, sep. 1971, Vol. 25, No. 4.**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आन्तरिक अनिवार्यता अन्तर्हित होती है, उसी से यह बोध होता है कि स्थिति अन्यथा क्यों नहीं है। द्वितीय अनुभावात्मक: यदि ऐसे प्रदत्तों को निश्चित कर लिया जाय जिनकी पुनः जांच की आवश्यकता न हो, जो अपनी मौलिकता के कारण ही अपरिहार्य हों, तो अन्य पाठों को ग्रहण करने अथवा निर्णयों की अपेक्षा नहीं होगी। मूलतः ये ज्ञान मीमांसीय पूर्वापेक्षाएं अन्वीक्षण प्रणाली पर प्रभाव डालती है। प्रचलित समाज विज्ञान आनुभविक दृष्टि-मूलक हैं। इन पर सत्यापन के उस सिद्धान्त का भी प्रभाव है जो आनुभविक ज्ञानमीमांसा से घनिष्ठ रूप में संबंधित होते हुए भी, बौद्धिक परम्परा के तर्कशास्त्र तथा गणित संबंधी अनुमान की पद्धतियों से युक्त है। इस दृष्टि में ऐसे अर्थ के लिए स्थान नहीं है जो शुद्ध प्रदत्त से अलग पड़ते हैं।

यद्यपि अनुभववादी ज्ञान सीमांसा के केवल संवेद प्रदत्तों को प्रेक्षणीय मानने के कारण संशयवाद और आत्मैकवाद (सौलिप्सिज़्म) अनिवार्य हो जाते हैं, किन्तु तब भी विज्ञान के क्षेत्रों में अभी भी इसीका प्राधान्य है।

बुद्धि के संबंध में कम्प्यूटर से प्रभावित सिद्धान्त इसके आधुनिक परिणाम हैं। इसी प्रतिमान पर मानव-संबंधी विज्ञानों की प्रणालियां रूपायित होती हैं। अपने प्रमुख विषय पर विचार के निमित्त लेखक राजनीति–विज्ञान को चुनते हैं, परन्तु संबंधित विश्लेषण के पूर्व वे इस प्रश्न का उत्तर देने का प्रयास करते हैं कि मानव-संबंधी विज्ञानों में अर्थ का प्रश्न उठाया ही क्यों जाय।

किसी स्थिति, कार्य, मांग अथवा भविष्य से संबंधित आशा का किसी व्यक्ति अथवा किन्हीं व्यक्तियों के लिए अर्थ होता है। यह साधारण बोलचाल तथा वैचारिक स्तर दोनों सन्दर्भों में स्पष्ट हैं। यह आवश्यक नहीं है कि अर्थ के वाहक शब्द ही हों।

व्याख्यात्मक अध्ययन में जहां तीन आवश्यकताओं की अपेक्षा होती है वहां इस सन्दर्भ में चार की होती है : (१) अर्थ किसी विषयी के लिए हैं, (2) वे किसी क्षेत्र में संभव होते हैं, (३) वे चिह्नों में होते हैं, तथा वे जगत् के निर्दिष्ट विषयों से संबंधित होते हैं। जिस भाषा में हम अपने लक्ष्यों, अनुभूतियों आदि का वर्णन करते हैं वह उन अर्थों को भी परिभाषित करती हैं, जो अर्थ वस्तुएं हमारे लिए रखती हैं। ऐसे पदों के अर्थ बोध में व्याख्यात्मक चक्र सन्निहित होता है। उदाहरणार्थ 'लज्जा' के संवेग को अन्य प्रत्ययों के सन्दर्भ में ही समझा जा सकता है परन्तु, इन अन्य प्रत्ययों को ग्रहण करने के लिए लज्जा की ओर संकेत करना पड़ता है।

कर्त्ता का कर्म उस अर्थ के अनुरूप होता है जो स्थिति विशेष उसके लिए रखती है। यहाँ भी व्याख्यात्मक चक्र सन्निहित प्रतीत होता है। किसी स्थिति अथवा कर्म को समझना उसके अर्थ को समझना है, अर्थ उपयुक्त है या नहीं, इसके लिए पुनः उसी स्थिति अथवा कर्म की ओर देखना आवश्यक है। यहां अर्थ तथा अभि-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यक्ति के पार्थक्य का प्रश्न महत्त्वपूर्ण नहीं है। किसी ग्रन्थ विशेष के सन्दर्भ में मूल की व्याख्या मूल से भिन्न अभिव्यक्ति में प्रस्तुत की जाती है। परन्तु यह सादृश्य व्यवहार के क्षेत्र में उपलब्ध नहीं होता। यदि होता है तो वह क्रान्तिकारी नाट्यमञ्च अथवा आतंककारी कर्म के रूप में होता है। ये किसी अर्थ के सूचक होते हैं और किसी समाज के आन्तरिक संबंध को स्पष्ट करते हैं। इस प्रकार का स्पष्टीकरण कोई वैज्ञानिक विवरण नहीं कहा जा सकता। मानवीय अर्थों का विस्तार, संस्कृति के प्रकार तथा स्तर से, तथा बोलचाल की भाषा में प्रयुक्त कोटियों तथा भेदों से संबंधित होता है। इस संबंध को केवल अनुरूपता अथवा चिन्तन के प्रभाव द्वारा स्पष्ट नहीं किया जा सकता। हमें मनुष्य को अपनी व्याख्या और अर्थ स्वयं देने वाला मानना होगा। स्वतः उसके द्वारा की हुई व्याख्या के अतिरिक्त अर्थों की कोई संरचना संभव नहीं। दोनों परस्पराश्रित हैं। उपर्युक्त व्याख्या के लिए उस व्यवहार को देखना आवश्यक होगा जिसमें वह विषयीकृत व्याख्या अन्तर्निहित है।

इस प्रकार जिसकी व्याख्या करनी है तथा स्वयं व्याख्या में असामंजस्य नहीं है यह कर्त्ता के रूप में,यह अपनी स्थिति को किन्हीं अर्थों के रूप में देखना है,और इन अर्थों को एक दृष्टि से "व्याख्या" का प्राग्वर्त्ती कहा जा सकता है। इसकी व्याख्या तथा निरूपण भाषा के द्वारा होता है। लेखक स्थिति अथवा कार्य विषयक अर्थ की संभावना को लक्ष्य कर राजनीति-विज्ञान के सन्दर्भ में अपने प्रमुख प्रश्न के संबंध में विचार करता है।

अनुभववादी परम्परा के अनुरूप अनुभूत अर्थों की उपेक्षा कर, केवल संवेद्य के ग्रहण एवं संवेद्य मूलक प्रमाणीकरण के पूर्वाग्रह का आश्रयण कर मनोविज्ञान व्यवहार को एक रंगविहीन गति के रूप में नितान्त यान्त्रिक ढंग से निश्चित करने का प्रयास करता है। प्रचलित राजनीति-विज्ञान का अध्ययन इतने आधारभूत स्तर पर तो नहीं होता, परन्तु यह तो माना ही जाता है कि प्रदत्तों की अन्य व्याख्या संभव नहीं है। वे आधारभूत हैं। यद्यपि राजनीति वैज्ञानिकों द्वारा प्रयुक्त 'व्यवहार' शब्द मनोवैज्ञानिक संदर्भ पर आधारित नहीं है, उनके लिए 'व्यवहार' के अन्तर्गत आने वाले कर्म ही प्रदत्त हो सकते हैं। कर्त्ता के अभिमत, उसकी सांवेगिक प्रतिक्रियाओं तथा तज्जन्य निर्धारित 'मूल्यों' एवं संस्थागत नियमों द्वारा इन प्रदत्तों को निश्चित किया जा सकता है। इस संबंध में 'अभिमत सर्वेक्षण' तथा 'अंतर्वस्तु (कन्टैन्ट) विश्लेषण' आदि का प्रयोग किया जाता है।

परन्तु प्रश्नावलियों के निर्माण में जिन्हें 'मूल्य' कहा जाता है, अथवा जिन्हें 'लक्ष्यों के रूप में अभिहित किया जाता है, उनके प्रयोग में पहले ही एक व्याख्या सन्निहित होती है। इस व्याख्या को चुनौती देना, प्राप्त निष्कर्षों को भी चुनौती देना होगा। इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि सत्यापन तो किन्हीं प्रतिज्ञप्तियों की स्वीकृति तथा किसी व्यवहार के बीच सह-संबंध से ही संबंधित है। व्याख्या

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का उपयुक्त बोध सह-संबंधों को निश्चित करने में सहायक सिद्ध हो सकता है, परन्तु, विभिन्न व्याख्याओं में मध्यस्थता करना विज्ञान का कार्य नहीं है। 'राजनैतिक व्यवहार' के अन्तर्गत जिन तत्त्वों का समावेश होता है वे हैं शारीरिक रूप में अथवा संस्थागत रूप में व्यक्त कार्य, किसी शाब्दिक अभिव्यक्ति के प्रति स्वीकृति अथवा अस्वीकृति, वाणी द्वारा किसी शाब्दिक अभिव्यक्ति का होना, किन्हीं घटनाओं के प्रति पसन्द अथवा नापसन्द की अभिव्यक्तियां आदि।

प्रश्न यह है कि इस प्रकार का व्यवहार अथवा उसका निर्धारण व्याख्या से कितना युक्त है ? समाज-विज्ञान सामाजिक यथार्थ/वस्तुस्थिति को किन्हीं निरुपाधिक (कैटोगोरिकल) सिद्धान्तों की दिशा में निर्धारित करता है।

अन्तर्विषयीमूलक (इन्टर्सब्जैक्टिव) सामाजिक वस्तुस्थिति के अन्तर्गत शुद्ध प्रदत्त कार्य, संरचनाओं, प्रतिक्रियाओं, अभिमतों, संवेगात्मक प्रतिक्रिया तथा व्यक्तियों की मनोवैज्ञानिक विशेषताओं के रूप में मूल्याँकनों का समावेश होता है। अभिमत तथा कार्य में सहसंबंध से विषयीगत पक्ष का बोध होता है, तथा संस्था एवं मूल्यों के सहसंबंध से वस्तुगत पक्ष का।

कर्त्ताओं के लिए सार्थक सामाजिक यथार्थ को राजनैतिक प्रशिक्षण के अर्थ में भी लिया गया है। आमंत्रु तथा पांवेल इसे राजनैतिक व्याख्या का मनोवैज्ञानिक आयाम कहते हैं। इस मनोवैज्ञानिक आयाम को राजनैतिक व्यवहार के आधार में देखा जा सकता है तथा उसके द्वारा व्यवहार के अर्थ को ग्रहण किया जा सकता है।

परन्तु यहाँ अन्तर्विषयोपरक अर्थों के लिए कोई स्थान नहीं है। सामाजिक यथार्थ को अर्थ के रूप में ग्रहण किया जा सके, इसके लिए कोई अवसर नहीं दीखता। इससे सामाजिक यथार्थ के बोध के रूप में समाज विज्ञानों की सीमा का पता चलता है। प्रदत्त को संस्थागत नियमों के द्वारा सुस्थिर किया है। परन्तु इस प्रक्रिया में कौनसी भाषा प्रयुक्त होती है ? यह वह भाषा है जो विभिन्न सामाजिक कार्यों, संबंधों तथा संरचनाओं में निहित भेद को व्यक्त करने में प्रयुक्त होती है। इन भेदों अथवा अन्तरों को प्रकृति तथा उनका स्वरूप ही इस क्षेत्र में हमारी भाषा की प्रकृति तथा उसके स्वरूप को व्यक्त करते हैं।

उदाहरणार्थ, संधियों के लिए वार्ता (निगोसिएशन) के संबंध में अमरीकियों की जो धारणा है, वह विभिन्न दलों के स्वात्म बोध तथा स्वायत्तता से संबंधित है, परन्तु यदि जापान के ग्राम समाज को लें जिसका उल्लेख टौमस. सी. स्मिथ ने अपनी **'द अग्रेरियन ओरिइन्स आव माडर्न-जापान'** में किया है, तो वहाँ संधि-वार्ता की यह धारणा उपलब्ध नहीं होती। वहाँ सहमति का सशक्त रूप, सामाजिक जीवन, सर्वं सम्मत निर्णय अधिक समझे जाते हैं। यह कहना भी कि समझौते के वर्णन के लिए जिस शब्दावली की आवश्यकता है वह अमरीकियों को उपलब्ध है और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जापानी ग्रामीणों को नहीं है, सम्भव नहीं होगा। यदि अन्तर्विषयीपरक अर्थों को नहीं माना जाय फिर भी भावताव (बारगेनिंग) का जो अर्थ उनके लिए होगा वह अमरीकियों के लिए नहीं होगा। यह अन्तर भाषा का ही नहीं सामाजिक यथार्थ का भी है (२३)। पृथ्वी आकाश आदि की भाँति सामाजिक यथार्थ तत्संबंधित शब्दावली से स्वतन्त्र नहीं होता। सामाजिक प्रथाओं का वर्णन, उनका आवाहन तथा उनका पालन करने के अवसरों पर जो भाषा प्रयुक्त होती है, उससे अलग हटकर उनका स्वरूप निश्चित करना संभव नहीं है। किसी शब्दावली का अर्थ ही नहीं हो यदि संबंधित प्रथाएँ नहीं हों और इसी प्रकार प्रथाएं ही नहीं हों यदि उनसे संबंधित शब्दावली नहीं हो। "यथार्थ भाषा द्वारा संरचित होता है। यथार्थ जो है, उसके स्वरूप के लिए भाषा तात्विक है। इन दो को एक दूसरे से अलग करना तत्त्व की सदा अवहेलना करना है" (२४)। भाषा के प्रयोग के संबंध में जॉन सर्ल ने निदेशनात्मक (रैग्यूलेटिव) नियमों से भिन्न किन्हीं नियमों को संरचनात्मक (कोन्स्टीट्यूटिव) कहा है। शतरंज के नियम संरचनात्मक कहे जा सकते हैं। संरचनात्मक नियम के इस संप्रत्यय में निहित धारणा का विस्तार अनुशासित व्यवहार के संबंध में भी किया जा सकता है। तत्संबंधी भाषा के अन्तरों तथा उसके क्षेत्र को भी संरचनात्मक कहा जा सकता है। यदि वोट देने की संस्था को स्वीकार किया जाय तो किन्हीं अन्तरों अथवा भेदों को भी स्वीकार करना होगा, यथा किसी को चुना जाना है, किसी प्रस्ताव के स्वीकृत होने की संभावना मान्य तथा अमान्य वोट का अन्तर, एवं वास्तविक तथा अवास्तविक चुनाव का अन्तर, जहाँ तक हमारे समाज का संबंध है, स्वतन्त्र तथा बाध्यकरण में अन्तर। दूसरे शब्दों में, किसी प्रथा को 'वोट देना' कहना अंशतः उस शब्दावली से संबंधित है, जो किसी समाज में, उस प्रथा के अवसर पर प्रयुक्त होती है तथा जिसके द्वारा उसका वर्णन होता है। इन प्रथाओं का अर्थ है कि व्यक्ति के कार्यों तथा संबंधों को सद्विश्वास, स्वायत्तता तथा बौद्धिकता जैसे मानकों से संलग्न देखना चाहिए। सभी समाजों में संबंधों तथा मानकों को लोग एक ही रूप में नहीं देखते। जापान के ग्रामवासी को अर्थ का जो विस्तार उपलब्ध है, वह उससे भिन्न होगा जो अमरीकियों को उपलब्ध है। ये अर्थ अन्तर्विषयीपरक हैं, उन प्रथाओं में सन्निहित हैं जो सामाजिक संबंधों तथा कार्यों के भिन्न रूप हैं। इन अन्तर्विषयीपरक अर्थों को सहमति (कनसेन्सस) से अलग मानना चाहिए। सहमति का होना अथवा न होना अन्तर्विषयीपरक अर्थों के द्वारा ही ग्राह्य होता है। रिफॅरमेशन (सुधार), अमरीकी गृह युद्ध आदि को अन्तर्विषयीपरक अर्थों के आधार पर ही समझा जा सकता है। विरोध के दो पक्षों की भाषा यदि एक ही नहीं है तो वह विरोध व्यक्त ही नहीं हो सकता। 'आदर्श' अयथार्थ तथा बाध्य इसलिए प्रतीत होते हैं कि वे प्रचलित प्रथाओं में प्राप्य नहीं होते, और इस रूप में विषयीनिष्ठ होते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ये अन्तर्विषयीपरक अर्थ तथा फलस्वरूप सामाजिक यथार्थ का ग्रहण उन कोटियों के द्वारा संभव नहीं होता जिन्हें प्रचलित राजनीति-विज्ञान प्रयुक्त करता है। सर्वसामान्य रूप में गृहीत अर्थ अथवा समान अर्थ के स्वरूप को ग्रहण करना भी अपेक्षणीय है। समान अर्थों की समानता इस बात में नहीं है कि प्रत्येक व्यक्ति उनमें भागी होता है, अपितु इसलिए है कि वे एक ही जगत् का निर्देश करते हैं। समान अभीप्रेरणाएं, मत, आयोजन इसी रूप में समान हैं। इस प्रकार समान अर्थ समुदाय (कम्युनिटी) के आधार हैं। सामाजिक यथार्थ के विषय में बात संभव हो, तथा किन्हीं मानकों को समान रूप में ग्रहण किया जा सके, इसके लिए भाषा सर्वसामान्य अन्तर्विषयीपरक अर्थों द्वारा प्राप्त होती है। परन्तु समान रूप में निर्दिष्ट जगत् में महत्त्वपूर्ण समान कार्य, आयोजन तथा भावनाओं की संभावना के आधार-समान अर्थ होते हैं। इनमें प्रतीकों द्वारा भाग लिया जाता है। सहमति में किन्हीं मूल्यों की स्वीकृति में भाग तो लिया जाता है, परन्तु समान अर्थों में यह भाग लेना एक ही जगत् से संबंधित होता है। सहमति समान अर्थों से इस रूप में भी भिन्न है कि कभी कभी समान अर्थों के कारण ही सहमति का अभाव होता है। दूसरी ओर अन्तर्विषयीपरक अर्थ तथा समान अर्थ परस्पराश्रित है। समान अर्थों के क्षय होने पर, समाज भिन्न भिन्न समूहों में निर्धारित होता है तथा सामाजिक यथार्थ संबंधी भिन्न भाषाएं विकसित होने लगती हैं। दूसरे शब्दों में अन्तर्विषयीपरक अर्थों में कम भाग लिया जाने लगता है।

समाज विज्ञान में अन्तर्विषयीपरक अर्थों के लिए स्थान नहीं है। अर्थ की दृष्टि से 'हम' का प्रत्यय अनुभववादी मनोविज्ञान के लिए अग्राह्य है। इसका कारण संवेद–प्रदत्तमूलक ज्ञानमीमांसा का दुष्प्रभाव है। यह विचार ही कि सर्व सामान्य जगत् में जो है वह व्यक्ति जगत् के यथार्थ से भिन्न है इस मनोविज्ञान के लिए अग्राह्य है। फलस्वरूप उसके लिए प्रचलित समाज–विज्ञान में कोई स्थान नहीं है।

समाज-विज्ञान को एक ऐसी सामान्य (यूनीवर्सल) शब्दावली की अपेक्षा है जिसके द्वारा समाजों में प्रचलित प्रथाओं के विभिन्न रूपों को एक ही वैचारिक तन्त्र में प्रस्तुत किया जा सके।

संस्थाओं की तुलना के पुराने प्रयासों को आधुनिक विद्वान हेय दृष्टि से देखते हैं। उसके स्थान पर अत्यन्त सामान्य प्रथाओं तथा उनके विभिन्न रूपों को समाज को समझने के लिए आवश्यक समझा जाता है। 'विकासशील (डेवलपमैन्टल) दृष्टि' से, इन्हें फंकशन (व्यापार) कहा जाता है। राजनीतिविज्ञान में यह शंका नहीं उठती कि संभव है इस प्रकार की सर्वगतता संभव न हो, तथा उनमें फंक्शनों में अन्तर्विषयीपरक अर्थ निहित हो।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस अवहेलना का फल यह हुआ है कि अन्य समाजों की तुलना अमरीकी राजनीति वैज्ञानिकों ने अपनी ही कोटियों में की है। संस्थाओं की तुलना की पुरानी अध्ययन प्रणाली को जाति केन्द्रिकता (ऐथनोसैन्ट्रिक) दोष से ग्रस्त माना जाता है, तथा नए प्रस्ताव के अनुसार सभी समाजों की राजनीति को 'हित निरूपण' (इन्टरैस्ट आर्टिक्यूलेशन) तथा 'हित-समुच्चय' (इन्टरैस्ट एग्रिगेशन) के द्वारा समझने का आग्रह किया जाता है। परन्तु, ये संप्रत्यय अमरीकी संधि-विग्रहशील संस्कृति से प्रभावित हैं, अर्थात् उनमें जो अन्तर्विषयीपरक अर्थ सन्निहित हैं वे अमरीकी संस्कृति की विशिष्टता है। अतः उनका अन्य समाजों के संदर्भ में प्रयोग उपयुक्त नहीं है। इस तथ्य की ओर ध्यान नहीं देने से ही अतलान्तीय ढंग की राजनीति (पोलिटी) को सर्वोत्कृष्ठ समझ लिया जाता है।

वैधता (लैजिटिमेसी) के विषय में किंचित आधुनिक धारणाओं पर विचार करते हुए लेखक ने यह स्पष्ट किया है कि तथाकथित शुद्ध प्रदत्त की धारणा के आधार पर उस प्रत्यय की व्याख्या संभव नहीं है। कुछ अन्य संप्रत्यय उससे अनिवार्यतया संलग्न हैं। 'स्वतन्त्रता की सुरक्षा', वैधता का आधार 'स्वीकृत संकल्पों का परिणाम होना,' 'व्यवस्था स्थापित करना', 'विधियुक्त शासन' 'परम्परा', 'राज्य के कुछ विशिष्ट श्रेष्ठ गुण' ये सभी धारणाएं जिनसे इस प्रश्न का उत्तर देने का प्रयास किया जाता है कि बिना अधिक बल प्रयोग के कोई राज्य किस प्रकार अपनी वैधता को स्थापित करता है, उन परिभाषाओं पर निर्भर है जो किसी विशेष समाज अथवा परिस्थितियों में, सामान्यतया मनुष्यों के लिए, महत्वपूर्ण होती हैं। ये उन प्रतिमानक अर्थों की परिभाषाएं हैं जो प्रदत्त मात्र की सूची में नहीं आतीं।

अनुभववादी शब्दावली में इन्हें मूल्यांकनात्मक (इवैल्यूएटिव) कह दिया जाता है। परन्तु मूल्यांकनात्मक तथा वर्णनात्मक (डेस्क्रिप्टिव) का यह अन्तर भी उतना ही शिथिल है जितनी अनुभववादी ज्ञानमीमाँसा। हर्मेन्यूटीय विज्ञान के नाम पर अनुभववादी ज्ञानमीमांसा को चुनौती देना साथ ही, वर्णनात्मक तथा मूल्यात्मक के अन्तर को तथा 'मूल्य तटस्थता' (वैर्टफ्राइहाइट) को चुनौती देना है (३६)। समाज में मनुष्यों के राजनैतिक कार्यों को उन 'मांगों' की प्रक्रियाओं के विभिन्न रूपों में भी ग्रहण किया जा सकता है, जो राजनैतिक जीवन में महत्त्वपूर्ण हैं।

समकालीन समाज में जो तनाव है, सभ्यता की जो टूटन है, जो विध्वंसात्मक कार्यों में व्यक्त होता रहता है, वह जो गहन अलगाव है,-इन सब की व्याख्या के लिए समाज विज्ञान में उपयुक्त विचार कोटियां नहीं हैं। इन स्थितियों को व्यक्तियों की मनःस्थितियों के रूप में ही देखा जाता है, अन्तर्विषयीपरक अर्थों के रूप में नहीं। कारण यह है कि वस्तुनिष्ठ रूप में ऐतिहासिक मनोविज्ञान के लिए समाज विज्ञान में कोई स्थान नहीं है। विरोध की बुद्धिशून्यता को व्यक्ति मनोविज्ञान के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्वारा ही समझा जाता है, उसे संरचित अर्थों के विरोध के रूप में नहीं देखा जाता (४१) ।

स्वतन्त्र लेनदेन संबंधी तथा उत्पादनशील संस्कृति में कुछ ऐसे अर्थ निहित थे जिनके कारण अब वह मान्य नहीं रहा जो पहले मान्य था। ऐसा क्यों ? इसके लिए दो प्राक्कल्पनाएँ दी जासकती हैं :—(१) अधिक उत्पादन अब अर्थहीन हो गया है, तथा (२) तादात्म्य के रूप में कर्म की सभ्यता के द्वारा भविष्य का निर्माण तभी संभव है जब अन्याय तथा कष्टपूर्ण अतीत से विच्छेद हो सके तथा सन्तान के लिए भिन्न अवस्थाओं का निर्माण हो । परन्तु, विकास के किसी बिन्दु पर सन्तान के लिए भविष्य में यह क्षेपण (प्रोजेक्शन) आधार-रहित हो जाता है।

ये दोनों प्राक्कल्पनाएं ही अमरीकी सभ्यता में क्राइसिस (संकट) से संबंधित हैं। किसी दृष्टि से संयुक्त राष्ट्र अमरीका अतलान्तीय उन राष्ट्रों में प्रथम है जो इस क्राइसिस से गुज़र रहा है। इसका कारण केवल अतिसमृद्धि नहीं है अपितु यह है कि यहां संस्कृति कर्म की सभ्यता पर आधारित है। दूसरी ओर यूरोप में परम्परागत समान अर्थ अभी सुरक्षित हैं (४३)। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि अतिसमृद्धिशील तथा संधि-विग्रहशील समाजों में सीमान्तों (मार्जिन) पर जो समूह हैं (काले तथा फ्रांसीसी बोलने वाले कनाडा निवासी) उन में सर्वाधिक अलगाव क्यों होता है। इसका स्वात्म बोध (आइडेन्टिटि) इस सभ्यता से विरोध रखता है। यहां एक नए समझौते की आवश्यकता है, परन्तु समस्या यह है कि आरम्भ कहाँ से हो ?

इन प्राक्कल्पनाओं को प्रस्तुत करने से लेखक का अभीष्ट इतना ही स्पष्ट करता है कि टूटन की स्थिति को समझने के लिए समान तथा अन्तर्विषयीपरक अर्थों को और अधिक स्पष्ट रूप में तथा गहनता से समझने की आवश्यकता है। जब ये अर्थ हमें नहीं पकड़ते तब नवीन की आवश्यकता होती है। परन्तु इस तथ्य के अनुभव के लिए भी, कि संबंधित अर्थों में कोई आकर्षण नहीं रहा, उनका ग्रहण आवश्यक है। यह मानना कि वे राजनैतिक कर्म की केवल पृष्ठभूमि हैं, पर्याप्त नहीं है। मनो-ऐतिहासिक (साइको-हिस्टोरिकल) तथ्यों को व्यक्तिपरक मनोविज्ञान के आधार पर समझना संभव नहीं (४४-४५)।

इस प्रकार, सारांश में, अपने निरुपाधिक अथवा संज्ञानात्मक सिद्धांतों के द्वारा प्रचलित समाज-विज्ञान एक सीमा में बंध जाता है। ये सिद्धान्त अन्ततः अनुभववादी ज्ञानमीमांसा पर आधारित है। फलस्वरूप राजनीति विज्ञान तथा तदनुरूप समाज विज्ञान आज की महत्त्वपूर्ण समस्याओं का अन्वीक्षण करने में असमर्थ रहते हैं। इस सीमा से परे जाने के लिए हर्मेन्यूटीय अंग को स्वीकार करने की आवश्यकता है। कर्त्ता के स्वरूप तथा समाज में उसकी स्थिति को, अन्य शब्दों में, उन अर्थों को जो मनुष्य किसी समाज में प्रथाओं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथा संस्थाओं में देखते हैं जो एक साथ उनकी आत्म-परिभाषा तथा सामाजिक यथार्थ के रूप में संरचित होते हैं, ग्रहण करना आवश्यक है। इस दृष्टि से "मनुष्य-संबंधी विज्ञान का अध्ययन उन विकल्पों की परीक्षा से अपृथक्य है, जिनका मनुष्य वरण करते हैं।" (४८) इस रूप में यह स्वीकार करना पड़ेगा कि समाज विज्ञान में भविष्यवाणियां संभव नहीं। उनका विचारतन्त्र इस रूप में बंद अथवा पूर्ण नहीं है। मानवीय घटनाओं के कुछ क्षेत्रों को बाह्य प्रभावों से पूर्णतया सुरक्षित तथा उसी दशा में बनाए रखना संभव नहीं है। व्याख्या इन विज्ञानों में इतनी सुनिश्चित नहीं हो सकती जितनी प्राकृतिक विज्ञानों में, वस्तुतः यहां कोई व्याख्या चुनौती से मुक्त हो यह नहीं कहा जा सकता। मनुष्य एक ऐसा प्राणी है जो अपनी परिभाषा (किन्हीं विशेष अर्थों का वरण कर) स्वयं प्रस्तुत करता है। संप्रत्ययात्मक अभिनव सर्जन तथा मानवीय यथार्थ के परिवर्तन का यही आधार है।

वस्तुतः मानव-विज्ञान अधिकतर अपने अतीत का बोध है (५०)। भविष्य के संबंध में पूर्व निर्णय कर सकना मानवीय स्थिति को इतनी अच्छी प्रकार समझना होगा कि सांस्कृतिक नवीनताओं तथा परिवर्तनों के लिए कोई स्थान ही नहीं रहेगा। परन्तु इस प्रकार की नवीनताएं तथा परिवर्तन नहीं होंगे, यह संभव नहीं दीखता। व्याख्या विज्ञान का मूल्यांकन उनकी भविष्य संबंधी पूर्व निर्णय की क्षमता के आधार पर नहीं किया जा सकता। वह उन सहज सूझों पर निर्भर है जो हमारे आधारभूत वरण से संबंधित हैं। वे 'मूल्य तटस्थ' नहीं हैं।

अंत में लेखक कहता है कि उसका उपर्युक्त विवेचन कोई नवीन चीज़ नहीं है। अरस्तु ने इसी प्रकार की बात अपने ग्रंथ **एथिक्स** (नीतिशास्त्र) के प्रथम खण्ड में कही है। परन्तु प्रचलित समाज विज्ञान के लिए यह भी मूलतः अग्राह्य तथा आघातकारी है।

—रा. स्व. भटनागर
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पत्रिका-लेखों के सारांश

जेम्स के दर्शन में अर्थ और तत्व मीमांसा[1]

जेम्स की समस्त कृतियों में 'अर्थ' की समस्या एक पहेली बनकर रही है। एक ओर तो वे यह कहते हैं कि किसी प्रतिज्ञप्ति (प्रोपोजीशन) या कथन का अर्थ प्रासंगिक अनुभवात्मक परिणाम होते हैं और दूसरी ओर वे जैसी परम्परागत तत्वमीमांसीय प्रतिज्ञप्तियों या कथनों ('विश्व एक है' और 'परमात्मा ने इस विश्व की रचना की है') को भी सार्थक मान लेते हैं। यद्यपि इनसे कोई 'अनुभवात्मक परिणाम' प्राप्त नहीं होते।

जेम्स के टीकाकारों–जैसे ए. ओ. लवज्वाय और पॉल हैनले (२) का मत है कि जेम्स के अनुसार कोई प्रतिज्ञप्ति केवल तभी सार्थक नहीं होती यदि उसके अनुभवात्मक परिणाम हों अपितु वह तभी सार्थक होती है यदि उसमें विश्वास हमारे जीवन को प्रभावित करते हों। अतः तत्वमीमांसीय कथन प्रथम कसौटी पर खरे न उतरते हुए भी दूसरी कसौटी के अनुसार अर्थवान होते हैं। किन्तु, जबकि लवज्वाय के अनुसार ये कसौटियां समान और संगत नहीं हैं, हैनले के मत में ये 'उसी तरह समंजस हैं जैसे अंडे की जर्दी और सफेदी'। अपनी इन व्याख्याओं द्वारा ये लोग जेम्स के इस मत की पुष्टि करते हैं कि ऐन्द्रिय प्रत्यक्षवाद में विश्वास रखते हुए तत्वमीमांसा को भी ग्रहण किया जा सकता है।

प्रस्तुत लेख में राबर्ट जी. मेयर्स ने यह दिखाने का प्रयास किया है कि लवज्वाय और हैनले की यह व्याख्या दोषपूर्ण है। वे राल्फ बारटन पैरी की उस

---

१. राबर्ट जी. मेयर्स 'मीनिंग एण्ड मेटाफिज़िक्स इन जेम्स' फिलोसोफि एण्ड फिनोमिनोलोजिकल रिसर्च ३ (१९७१), पृ ३६९–३८०

२. ए. ओ. लवज्वाय, 'दी थर्टीन प्रेग्मेटीज्मस' जरनल आव फिलोसोफि, ५ (१९०८) ५–१२ और २९–३९, और पॉल हैनले, 'इन्ट्रोडेक्शन औन विलियम जेम्स' क्लासिक अमेरिकन फिलासोफर्स, एडिटेड बाई एम. एच. फिश (न्यूयार्क १९५१) पृ. ११५–२७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्याख्या का समर्थन करते हैं जिसमें यह दर्शाया गया है कि किसी प्रतिज्ञप्ति या कथन में विश्वास हमारे जीवन पर जो प्रभाव डालते हैं वे उन तर्क वाक्यों के अर्थ के घटक-तत्त्व नहीं होते। इसी मत को मेयर्स यह दिखाकर पुष्ट करना चाहते हैं कि किस प्रकार जेम्स अर्थयुक्तता का एक अतत्वमीमांसीय सिद्धांत मानते हुए भी तत्व-मीमांसा को अपने दर्शन में स्थान दे सकते हैं। विशेषतौर पर मेयर्स की मान्यता है कि जेम्स प्रयोजनवाद को अर्थयुक्तता की ऐसी कसौटी के रूप में प्रयुक्त नहीं करते जो तत्वमीमांसीय सिद्धान्तों का निराकरण करदें, वरन वे उन्हें लोक-संज्ञान के आधार पर अर्थवान् मानकर उनके अर्थ को प्रयोजनवाद द्वारा स्पष्ट करते हैं। लेखक ने अपने लेख को दो खण्डों में बाँटा है। प्रथम में वे लवज्वाय और हैनले की व्याख्या को स्पष्ट करते हैं और फिर प्रासंगिक पाठ से संबंधित और सम्प्रत्ययात्मक कठि-नाइयों की ओर पाठक का ध्यान आकृष्ट करते हैं। दूसरे में वे यह दिखाने का प्रयास करते हैं कि जेम्स अपनी प्रयोजनवादी पद्धति को किस प्रकार अपने सम्पूर्ण दर्शन में प्रयुक्त करते हैं और किस प्रकार विश्वास की उपर्युक्त अवधारणा अर्थयुक्तता के सिद्धाँत को छोड़कर उसके बाकी **दर्शन को** प्रभावित करती है।

एक

> प्रयोजनवादी पद्धति की व्याख्या करते हुए जेम्स लिखते हैं कि : 'किसी वस्तु के स्वरूप का सम्यक् अवगमन उसकी व्यावहारिक संभावनाओं के अनुमान का पर्याय है।' (३)

१९०८ के अपने लेख 'दी थर्टीन प्रेग्मैटिज्म्स' में लवज्वाय जेम्स की पुस्तक 'प्रेग्मैटिज्म' के चौथे अध्याय 'एक और अनेक' की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि परमतत्ववाद इसीलिए अर्थवान है क्योंकि विश्व की एकता में विश्वास उपयोगी परिणामों को उत्पन्न करता है, किन्तु अकेले पूर्णतावाद के सिद्धान्त से कोई संवेदपरक परिणाम उत्पन्न नहीं होते। इससे लवज्वाय यह निष्कर्ष निकालते हैं कि जेम्स के सार्थकता के सिद्धान्त में एक स्पष्ट द्वयर्थकता है। जेम्स 'व्यावहारिक संभावनाओं को कभी तो (१) उस; प्रतिज्ञप्ति के संवेदपरक परिणामों के अर्थ में लेता है, जिस पर चाहे विश्वास किया जाय या न किया जाय और कभी (२) उन संभाव्य अनुभवों के अर्थ में जो तभी घटित होंगे यदि उस प्रतिज्ञप्ति पर विश्वास किया जाय। दो सिद्धान्तों में इससे अधिक और क्या असमानता हो सकती है ? पहली व्याख्या के अनुसार प्रयोजनवादी सिद्धान्त सार्थक प्रतिज्ञप्ति की सीमा बहुत संकुचित कर देता है और दूसरी व्याख्या के अनुसार वह उन सभी प्रतिज्ञप्तियों को सार्थक बना देता है जिनमें कहीं भी, कभी भी, किसी भी व्यक्ति ने विश्वास किया हो।

३. **विलियम जेम्स, प्रेग्मेटिज्म (न्यूयार्क, १९५५) पृ. ४३**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसको समझने के लिए हम एक उदाहरण ले सकते हैं। मान लें कि किसी व्यक्ति 'अ' के लिए ग्रेम्लिन्स[४] का अस्तित्व है' विश्वास सन्तोषप्रद है। अब यद्यपि 'ग्रेम्लिन्स का अस्तित्व है' वाक्य के कोई प्रमाणीकरणीय परिणाम नहीं होते तब भी यह इसलिए अर्थयुक्त होगा क्योंकि इसमें 'अ' का विश्वास अनुभवात्मक परिणामों को उत्पन्न करता है। अतः उक्त (१) के अनुसार यह वाक्य अर्थहीन होगा और (२) के अनुसार यही अर्थयुक्त होगा। इस प्रकार जेम्स के अनुसार यह वाक्य क्योंकि एक साथ ही अर्थहीन और अर्थयुक्त सिद्ध होता है। अतः यह कहा जा सकता है कि जेम्स की ये कसौटियां समान और संगत नहीं हैं।

किन्तु हैनले लवज्वाय की उपर्युक्त व्याख्या को नहीं मानते। उनका मत है कि जेम्स इन कसौटियों को एक साथ नहीं मानते बल्कि विकल्प से मानते हैं। हैनले यहां एक अत्यन्त आवश्यक बात करना चाहते हैं और वह यह कि प्रतिज्ञप्ति 'प' में विश्वास से जो परिणाम उत्पन्न होते हैं वे उसके अर्थ के घटक नहीं होते अपितु उसे केवल अर्थयुक्त बनाते हैं। किन्तु मेयर्स का कहना है कि ऐसी मान्यता से यह फल निकलेगा कि कोई प्रतिज्ञप्ति 'प' अर्थयुक्त तो है किन्तु उसका कोई अर्थ नहीं है। इसे यदि वदतोव्याघात नहीं भी कहा जाय तो भी यह विरोधाभास तो है ही। तो क्या इस विचित्र स्थिति का निराकरण संभव है? लवज्वाय की व्याख्या का आधार जेम्स की पुस्तक प्रेग्मैटिज़्म के आठवें भाषण 'प्रयोजनवाद और धर्म' में निम्न प्रतिपादन है :

............किसी परमपूर्ण निरपेक्ष सत्ता के विचार का उपयोग मनुष्य के धार्मिक इतिहास की सम्पूर्ण परम्परा से सिद्ध होता है। अतः उसके सनातन सशक्त हाथ हमारी रक्षा करते हैं, वे हमें आधार प्रदान करते हैं। विवेकानन्द के आत्मा के उपयोग को याद कीजिए—हालांकि वह उपयोग वैज्ञानिक नहीं है क्योंकि उससे हम कोई संवेदात्मक निष्कर्ष प्राप्त नहीं कर सकते। वह पूर्णतः भावात्मक और आध्यात्मिक है। (५)

यदि जेम्स के विचार की उपर्युक्त व्याख्या ठीक भी हो तो भी यह समस्या तो बच ही रहती है कि जेम्स उन वहुत से सिद्धान्तों को अर्थवान कैसे मानेगा जिनका कोई भी प्रत्यक्षात्मक प्रभाव नहीं है। इसका कोई स्पष्ट और सुसंगत उत्तर तो जेम्स की कृतियों में उपलब्ध नहीं होता, तो भी मेयर्स का कथन है कि उसकी व्याख्या लवज्वाय से अधिक सहानुभूतिपूर्ण है।

---

४. ऐसा काल्पनिक प्राणी जो मज़ाक के तौर पर हवाई जहाजों में गड़बड़ी कर देता है।

५. वहीं, पृ. २७३-७४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रयोजनवादी सिद्धान्त वास्तव में 'अनुभव' को व्यापक अर्थ में लेता है। यही कारण है कि जेम्स सार्थकता की कसौटी अनुभव-प्रमाण को स्वीकार करते हुए भी तत्वमीमांसा और धर्म की भाषा को सार्थक मानते हैं। जेम्स का यही उदारवादी दृष्टिकोण उस समय भी बना रहता है जब वह भौतिकवाद और आध्यात्मवाद के झगड़े पर विचार करता है। उसका मत है कि जहाँ तक विश्व के भूत और वर्तमान का प्रश्न है वहाँ तक तो हम दोनों सिद्धान्तों से जनित परिणामों में कोई विशेष फ़र्क नहीं दिखा सकते, किन्तु जब हम इस बात पर विचार करते हैं कि दोनों सिद्धान्त भविष्य के बारे में क्या भविष्यवाणी करते हैं तो एक मूल भेद प्रकट हो जाता है। जबकि भौतिकवाद अन्ततः विश्व और मनुष्य के विनाश की भविष्यवाणी करता है, आध्यात्मवाद अन्ततः मनुष्य की मुक्ति की उद्घोषणा करता है। यह भेद ही दोनों के अर्थ में अन्तर लाता है। पीटर हेयर ने लेखक को सुझाया कि इसी विधि का प्रयोग जेम्स ने अनन्तता की समस्या को सुलझाने के लिए भी किया है। (६)

जेम्स की ऐसी व्याख्या से हम उसकी 'व्यावहारिक परिणामों' की अस्पष्टता को समझ सकते हैं। (७) आखिर उसने प्रैग्मैटिज़्म को यथातथ्य वृत्ति और कल्पनाशीलता के बीच मध्यस्थता करने वाली विधि के रूप में प्रयुक्त किया था। जेम्स चाहता था कि उसका प्रयोजनवाद विज्ञान और धर्म के बीच मध्यस्थता कर सके और इसीलिए उसने 'व्यावहारिक परिणाम' को एक अत्यन्त विस्तृत अर्थ दिया और इसी कारण उसने ब्रिटिश अनुभववादी चिन्तकों की आलोचना भी की।

यदि जेम्स की उक्त व्याख्या सही मान ली जाय तो फिर यह आसानी से समझा जा सकता है कि जेम्स अर्थ के सिद्धान्त में यथातथ्यवादी होते हुए भी कैसे कल्पनाप्रवण सिद्धान्तों को भी अर्थवान मान पाते हैं।

रमेशचन्द्र
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

---

६. **जेम्स, सम प्रॉब्लम्स आफ फिलॉसोफि (न्यूयार्क, १९१६) अध्याय १० वाँ एवं ११ वां।**

७. **प्रैग्मैटिज़्म, पृ० ६१**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मोक्ष की अवधारणा[1]

इस लेख में प्रो राजेन्द्र प्रसाद ने मोक्ष की अवधारणा का, जो समस्त भारतीय दर्शनों में आधारभूत रही, तार्किक विश्लेषण प्रस्तुत किया है। भारतीय दर्शनों की अवधारणाओं, पूर्वमान्यताओं और निष्कर्षों के तार्किक विश्लेषण का बहुत ही कम प्रयास हुआ है। व्याप्ति, सामान्य, विशेष, समवाय, कर्म, अविद्या आदि कुछ ऐसी अवधारणाएं हैं जो प्रायः सभी भारतीय दर्शन-सम्प्रदायों में प्रयुक्त हुई हैं तथा कुछ ऐसी अवधारणाएं हैं जो किसी विशिष्ट सम्प्रदाय में मूलभूत हैं, जैसे अद्वैत वेदान्त में माया या ब्रह्म। परन्तु तार्किक विश्लेषण के अभाव में न तो उनका सर्वमान्य एवं सुस्पष्ट अर्थ स्थिर किया जा सका है और न यह जानने का ही प्रयास हुआ है कि किस उद्देश्य को लेकर इन अवधारणाओं का प्रयोग किया गया है और कहां तक अपने उद्देश्य की प्राप्ति में ये उपयुक्त या सफल रही हैं। यदि हमें भारतीय दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों को उनके सही परिप्रेक्ष्य में समझना है या उनका मूल्यांकन करना है तो यह आवश्यक है कि हम उनका विश्लेषणात्मक अध्ययन करें ताकि उनके वास्तविक स्वरूप को उद्घाटित किया जा सके। इस दृष्टि से प्रो. राजेन्द्र प्रसाद का प्रयास स्तुत्य है यद्यपि भारतीय दर्शन की गहराइयों में पैठ न होने से वे कहीं कहीं भटक से गए हैं।

मोक्ष की अवधारणा भारतीय दर्शन ही नहीं, भारतीय धर्म और संस्कृति में भी महत्त्वपूर्ण रही है। अतः यह स्वाभाविक है कि इसकी तार्किक, तत्त्वमीमांसीय, नैतिक, धार्मिक आदि कई भूमिकाएं रही हों। प्रस्तुत लेख का लक्ष्य इसकी एक प्रमुख तार्किक भूमिका का उद्घाटन करना है। लेखक का यह मन्तव्य है कि इस अवधारणा का आश्रय इसी अपेक्षा से लिया गया है कि केवल यही उस भूमिका को अदा करने में समर्थ है। वह भूमिका है धर्म का औचित्य प्रदान करना।

भारतीय दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण अंग मूल्य-मीमांसा है। मूल्यों का अध्ययन आदर्शात्मक हो सकता है, वर्णनात्मक हो सकता है और विश्लेषणात्मक भी हो सकता

१. **The concept of Moksha, Rajendra Prasad, Phel. and Phenomenological Research, March 1971**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। भारतीय दर्शन में मूल्यों का आदर्शात्मक और विश्लेषणात्मक दोनों प्रकार का अध्ययन हुआ है,परन्तु इसके विश्लेषणात्मक पक्ष को अभी तक व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास नहीं किया गया है। मानव के लिए क्या करणीय है और क्या अकरणीय है, इससे संबंधित होने के कारण मूल्य-मीमांसा का व्यावहारिक होना स्वाभाविक है। परन्तु दर्शन के अंग के रूप में यह विधि-निषेधों का समुच्चय मात्र नहीं वरन् एक सुव्यवस्थित बौद्धिक संरचना है। अतः मूल्य मीमांसा में बौद्धिक तत्त्व अनिवार्यतः समाविष्ट रहते हैं। भारतीय मूल्य-मीमांसा में धर्म के प्रभाव के कारण बौद्धिक पक्ष उतना नहीं उभर सका है जितना आवश्यक था। धर्म का संबंध 'करने' और 'होने' से है अतः इसका कार्य जीवन के चरम लक्ष्य को स्थिर करने और उसकी प्राप्ति के मार्ग को बताना है। धर्म के साथ दर्शन का घनिष्ठ सम्पर्क होने से यह मान लिया गया कि दर्शन का महत्त्वपूर्ण कार्य भी जीवन के चरम मूल्य से ही संबंधित है। चूंकि धार्मिक चरम मूल्य आध्यात्मिक पूर्णता होता है, दर्शन का चरम लक्ष्य भी आध्यात्मिक पूर्णता माना गया।

भारतीय मूल्य-मीमांसा में अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष को पुरुषार्थ के नाम से मानव-जीवन के अन्तिम मूल्य के रूप में स्वीकार किया गया है। पुरुषार्थ का तात्पर्य है मानव का इष्ट या जो उसे इष्ट होना चाहिए। अर्थात्, वह जिसे प्राप्त करने का मानव प्रयास करता है या जिसे प्राप्त करने का प्रयास मानव को करना चाहिए। प्रो. राजेन्द्र प्रसाद का मत है कि इस चतुर्विध पुरुषार्थ-विचार में 'क्या इष्ट है' और 'क्या इष्ट होना चाहिए' इन दो तार्किक दृष्टि से पृथक् विचारों को पृथक् नहीं किया गया है। अर्थ और काम की प्राप्ति का यथार्थ में प्रयास किया जाता है परन्तु आदर्श के रूप में इनकी स्वीकृति भारतीय सामान्य दार्शनिक चेतना के विपरीत प्रतीत होती है, जिसमें अपरिग्रह को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। यदि किसी तत्त्व को आदर्श के रूप माना जाए तो उसे पूर्णता के विचार में एक अनिवार्य अंग के रूप में मानना पड़ेगा। परन्तु पूर्णता के भारतीय विचार में अर्थ और काम की प्राप्ति का प्रयास नहीं होना पूर्ण जीवन में कोई बाधा या कमी नहीं उपस्थित करता। पुरूषार्थ के इस चतुर्विध वर्गीकरण में, लेखक के अनुसार, दूसरा दोष यह है कि इसमें वर्गीकरण के लिए साधना-साध्य-संबंध और औचित्य समर्थक-समर्थित संबंध (जस्टिफायर-जस्टि-फाइड रिलेशन) के दो पृथक् आधारों का आश्रय लिया गया है। अर्थ साधन है और काम उसका साध्य, धर्म साधन है और मोक्ष उसका साध्य। परन्तु साथ ही काम के औचित्य-समर्थन के लिए धर्म को और धर्म के औचित्य समर्थन के लिए मोक्ष को प्रस्तुत किया गया है।

काम को साध्यरूप मानने से यह प्रश्न तो नहीं उठता कि हमें काम की प्राप्ति क्यों करनी चाहिए, क्योंकि ऐसा करने पर यह भी पूछा जावेगा कि मोक्ष, जो कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साध्यरूप है, की प्राप्ति क्यों करनी चाहिए, जबकि मोक्ष चरम मूल्य होने से किसी कारण से बद्ध नहीं हो सकता। परन्तु काम को साधन रूप न मानने पर भी यह समस्या तो अवश्य उठेगी कि किस आधार पर एक काम की तुलना में दूसरे काम का चयन किया जावे, क्योंकि सभी काम साध्य रूप तो हैं पर एक समान नहीं। इसके लिए जो मानदंड प्रस्तुत किया गया है वह धर्मसम्मतता है। भारतीय मूल्य-मीमांसा में काम (सुख) और शुभ को एक रूप न माना जाने से यह मानदंड, जो प्रकृतिवादी सुखवाद (नेचुरलिस्टिक हिडोनिज्म) को अनुपलब्ध है, यहां स्वीकार करना संभव हो सका है।

अतः इस प्रश्न का कि 'कौनसा काम वरणीय है?' सहज उत्तर मिल जाता है कि 'वह जो धर्म सम्मत या शुभ हो।' (धर्मसम्मत ही शुभ है।) यह विवादास्पद हो सकता है कि कोई विशिष्ट काम धर्मसम्मत है या नहीं, यह भी विवादास्पद हो सकता है कि धर्म के विधि-निषेध उचित हैं या नहीं, पर यह निर्विवाद है कि काम का औचित्य उसकी धर्मानुकूलता में है। यद्यपि इस प्रकार काम के चयन में धर्म का आधार सुलभ है, यह बहुत अधिक सहायक नहीं है, क्योंकि ऐसी स्थिति आ सकती है जिसमें एक धर्मविधि किसी काम का अनुमोदन करे और दूसरी उसका परित्याग करने को'कहे। ऐसी दशा में एक धर्मविधि को दूसरी धर्मविधि से श्रेष्ठता स्थापित करने केलिए किसी अन्य मानदंड की आवश्यकता होगी। दूसरे शब्दों में, धर्म को अर्थ और काम से श्रेष्ठतर मूल्य मानते हुए भी यह प्रश्न उठ सकता है कि हम ऐसे कार्य क्यों करें जो धर्म-विहित हैं। वैसे एक दृष्टि से यह प्रश्न पुनरुक्ति ही है यदि इसका तात्पर्य यह हो कि 'हमें ऐसे कार्य क्यों करने चाहिएं, जो हमें करने चाहिएं?' परन्तु इसका यह भी तात्पर्य हो सकता है कि (अ) वे क्या कारण हैं जो मेरे द्वारा धर्म-विहित कार्यों को करना औचित्यपूर्ण ठहराते हैं?, अथवा (व) धर्म-विहित कार्यों को करने से क्या लाभ है? (अ) में धर्म के औचित्य का और (ब) में उसके आचरण की प्रेरणा का प्रश्न समाविष्ट है। धर्म का औचित्य और धर्म के आचरण की प्रेरणा एक ही तत्त्व नहीं हैं। प्रेरणा के उत्तर के लिए तो सरलता से कहा जा सकता है कि 'हमें सामाजिक हित के लिए ऐसा करना चाहिए', परन्तु औचित्य के प्रश्न का उत्तर देना थोड़ा कठिन है। इसका कारण यह है कि किसी विशेष कार्य के लिए एक धर्मविधि को प्रस्तुत किया जा सकता है या एक धर्मविधि के लिए धर्मविधियों की संरचना को प्रस्तुत किया जा सकता है, परन्तु क्या संपूर्ण संरचना के लिए औचित्य प्रस्तुत करना संभव हो सकता है? यह कहा जा सकता है कि धर्म के लिए किसी इतर औचित्य की आवश्यकता नहीं है क्योंकि धर्म स्वयमेव अपना औचित्य है। इससे भिन्न, यह भी कहा जा सकता है कि धर्म का औचित्य मोक्ष में है। प्रो. राजेन्द्र प्रसाद का मत है कि धर्म का औचित्य प्रदान करने की अपेक्षा से ही मोक्ष की अवधारणा को भारतीय मूल्य मीमांसा में स्वीकार किया गया है। परन्तु

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यहां यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि क्या मोक्ष को धर्म के औचित्य के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है ? क्योंकि, मोक्ष विधायक पद है जबकि धर्म नियामक, और विधायक को नियामक का औचित्य नहीं माना जा सकता। यदि यह कहा जाए कि मोक्ष विधायक नहीं नियामक है तो भी यह प्रश्न सामने आता है कि मोक्ष तो धर्म का औचित्य है, पर मोक्ष का औचित्य क्या है ? इसके उत्तर में यदि यह कहा जाए कि मोक्ष जीवन की चरम अवस्था ही नहीं चरम मूल्य भी है अतः मूल्य के रूप में भी स्वयं प्रमाणित है, तो भी यह पूछा जा सकता है कि इसका क्या प्रमाण है कि यह चरम मूल्य भी है। यह आवश्यक नहीं कि जो चरम अवस्था हो वह चरम मूल्य भी हो। यह कहा जा सकता है कि अनंत आनंद की दशा होने से यह चरम मूल्य है। पर आनंद की अनंतता उसके चरम मूल्य होने को सिद्ध नहीं कर सकती। यदि मात्र अनंतता किसी मूल्य को चरम या अधिक वरणीय बना सकती होती तो अनंत दु:ख क्षणिक दु:ख से अधिक वरणीय होता। यह कहना भी तर्क संगत नहीं कि अनंतता किसी वस्तु को वरणीय तो नहीं बनाती पर उसकी वरणीयता को बढ़ाती है।

मोक्ष को धर्म का साध्य होने से धर्म से अधिक श्रेष्ठ माना गया है। पर यह आवश्यक नहीं कि साध्य से साधन कम श्रेष्ठ हो। उदाहरणार्थ, ईमानदारी को अधिक लाभ का साधन माना गया है, पर इसका तात्पर्य यह नहीं कि यह अपने साध्य से न्यूनतर है। अतः मोक्ष की श्रेष्ठतरता का कोई दूसरा आधार होना चाहिए। इसके लिए यह कहा जा सकता है कि मोक्ष की चरम मूल्य के रूप में श्रेष्ठता अतिबौद्धिक अनुभव से जानी जा सकती है। परन्तु ऐसा कहना इस प्रश्न का उत्तर होगा कि उस अनुभव का क्या स्वरूप है जिसमें मोक्ष को चरम मूल्य के रूप में माना जाता है, न कि इस प्रश्न का उत्तर कि मोक्ष चरम मूल्य क्यों है। यह कहा जा सकता है कि मोक्ष के चरम मूल्य होने से इसकी श्रेष्ठता के बारे में कोई प्रमाण नहीं दिया जा सकता। पर यदि हमें मोक्ष को ही स्वयंप्रमाण मानना है तो धर्म को ही क्यों न स्वयं प्रमाण मान लिया जाए। पुनश्च, मोक्ष का आधार लेकर भी हम धर्माचरण की प्रेरणा की ही व्याख्या कर सकते हैं, धर्माचरण की बाध्यता की नहीं। बाध्यता धर्मपरक पद है,अतः धर्म की सीमा से परे उसका कोई अर्थ नहीं। इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि,न केवल मोक्ष क्या है,अपितु मोक्ष चरम मूल्य क्यों है, यह भी हमें अतिबौद्धिक अनुभव से ही प्राप्त होता है, अतः इसका कोई बौद्धिक कारण नहीं दिया जा सकता। परन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि मोक्ष को चरम मूल्य मानना उसकी अन्य मूल्यों से तुलना करना है जो मात्र बुद्धि का काम है। यदि यह कहा जाए कि मोक्ष एक निरपेक्ष साध्यपरक (इन्ट्रिंसिक) मूल्य है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और ऐसा ज्ञान नैतिक चेतना या अतिबौद्धिक अनुभव से होता है, तो इसमें तुलना की समस्या तो नहीं रहेगी पर कोई दूसरा व्यक्ति कह सकता है कि उसकी नैतिक चेतना या अतिबौद्धिक अनुभव मोक्ष की अपेक्षा किसी अन्य तत्त्व को चरम मूल्य मानता है। ऐसी दशा में ऐसा कोई उपाय नहीं होगा जो इस समस्या का समाधान कर सके। अतः मोक्ष को धर्म के औचित्य के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास असफल हो जाता है।

सिद्धेश्वर भट्ट
दिल्ली विश्वविद्यालय

व्यक्तिवाचक संज्ञा पदों के अनिर्देशात्मक प्रयोग[1]

व्यक्तिवाचक संज्ञा पदों से संबंधित समस्याएं ग्रीक दार्शनिक प्लेटो के समय से दार्शनिकों का ध्यान आकृष्ट करती रही हैं। प्लेटो के सामने यह समस्या थी कि व्यक्तिवाचक संज्ञा पद किसे कहते हैं। वर्तमान काल में फ्रेगे और विट्गिन्स्टाइन के बीच मत-भेद रहा है कि व्यक्तिवाचक संज्ञा पद भाव (सेन्स) युक्त भी होते हैं या मात्र विषय (आब्जेक्ट) का निर्देशन ही करते हैं। प्रस्तुत लेख में रिचार्ड टी. गार्नर प्लेटो की समस्या को इस प्रश्न में घटाकर, कि 'वे क्या कारक अवस्थाएं हैं जो किसी पद को व्यक्तिवाचक बनाती हैं ?' इसका समाधान ढूंढने के लिए इन पदों के निर्देशात्मक और अनिर्देशात्मक प्रयोगों में भेद स्पष्ट करते हैं।

यदि यह कहा जाए कि 'राम खाना खा रहा है' और यदि कोई ऐसा व्यक्ति है जिसका नाम 'राम' है, जो खाना खा रहा है, और यह वही व्यक्ति जिसके लिए उक्त कथन अभिप्रेत है, तो यह 'राम' पद का निर्देशात्मक प्रयोग कहा जाएगा। इस

१. Non-Referring uses of Proper Nouns by Richard T. Garner Philosophy and Phenomenological Research, March 1971.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रयोग का मानदंड यह है कि किसी विषय (आब्जेक्ट) के बारे में कुछ कहा या पूछा जाता है और उसके विशिष्ट नाम का प्रयोग उसे अन्य विषयों से पृथक् करने के लिए किया जाता है, ताकि श्रोता या पाठक को उसके निर्देश का स्पष्ट ज्ञान हो सके। इससे भिन्न, यदि यह कहा जाए कि, 'राम, आओ खाना खाएं।' तो यहां 'राम' को निर्दिष्ट कर कोई कथन या प्रश्न नहीं किया जा रहा है, अतः ऐसे प्रयोग को अनिर्देशात्मक प्रयोग कहा जाएगा। विस्मयजन्य, नामकरण, संबोधन, नामलेखन आदि प्रयोग अनिर्देशात्मक होते हैं। गार्नर इस बात को स्वीकार करते हैं कि यह द्विविध वर्गीकरण निःशेष्य नहीं, तथापि अधिकांश पदों को इन दो प्रकारों में विभाजित किया जा सकता है।

यद्यपि सभी निर्देशात्मक प्रयोग सामान्यरूप से एक समान हैं, प्रसंग भेद से उनके कई प्रकार हो सकते हैं, जैसा कि निम्नलिखित विश्लेषण से स्पष्ट होता है।

(१) कोई पादरी नामकरण संस्कार के समय किसी बालक के पिता से उसका नाम पूछे और उत्तर में पिता कहे 'महेशचन्द्र' तो यह **नामकरणात्मक** (नेमिंग) प्रकार कहा जाएगा। इसमें जो नामोच्चारण होता है वह किसी व्यक्ति का निर्देश नहीं करता, उसका मात्र उल्लेख करता है।

(२) नामकरण के पूर्व या पश्चात् यदि कोई व्यक्ति किसी बालक के माता-पिता से पूछे कि उन्होंने उसका क्या नाम रखा है और उत्तर में वे उसके नाम का उच्चारण करें तो यह नामोच्चारण की ही स्थिति है, परन्तु उदाहरण (१) की स्थिति से भिन्न है। (१) में नामकरण का प्रसंग है तो (२) में नामोल्लेख का। अतः (२) को हम **नामोल्लेखात्मक** प्रकार कह सकते हैं।

(३) कक्षा में अध्यापक किसी विद्यार्थी से व्यक्तिवाचक पद का दृष्टान्त पूछे और ऐसी स्थिति में वह किसी नाम का उच्चारण करे तो उसे **दृष्टांतोल्लेखात्मक** प्रकार कहेंगे। (३) का (२) से मुख्य भेद यह है कि इसमें किसी विशिष्ट विषय को लक्ष्य में रखकर नामोच्चारण नहीं होता है। पुनश्च, वह विषय काल्पनिक भी हो सकता है।

अनिर्देशात्मक प्रयोग के उपरोक्त तीनों प्रकार नामोच्चारणपरक हैं। इसी तरह नामलेखनपरक तीन प्रकार वर्गीकृत किए जा सकते हैं।

इन विभिन्न प्रकारों का वर्गीकरण करने के पश्चात् लेखक अपनी मूल समस्या पर आते हैं। प्रायः सभी नामाभिव्यञ्जनों में व्यक्तिवाचक संज्ञा-पदों का प्रयोग अपरिहार्य होता है। केवल (५) और (६) में नाम की जगह क्रमांक या अन्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कोई चिह्न हो सकता है। परन्तु (७), (८) और (९) में सर्वनाम पद, वर्णनात्मक पद (डिस्क्रिप्टिव फ्रेज़) या शारीरिक संकेत भी प्रयुक्त हो सकते हैं। शारीरिक संकेतों को छोड़कर बाकी समस्त प्रयोगों को व्यक्तिवाचक संज्ञा पद के प्रयोगों से पृथक् करने का कोई स्पष्ट विधान नहीं है। उदाहरणार्थ 'तुम' शब्द सर्वनाम पद है परन्तु यदि 'तुम' किसी व्यक्ति का नाम हो तो वह व्यक्ति-वाचक संज्ञा होगा। व्याकरण का कोई ऐसा नियम नहीं जो हमें स्पष्ट बताए कि अमुक शब्द व्यक्तिवाचक संज्ञा पद है या नहीं। लेखक इस समस्या का कोई समाधान प्रस्तुत तो नहीं करते हैं पर यह कहते हैं कि यदि यह संभव हो कि हम उन सभी आवश्यक एवं पर्याप्त दशाओं का वर्णन कर सकें जो यह बता सकें कि कोई पद किसी विशेष सन्दर्भ में व्यक्तिवाचक संज्ञा पद के रूप में प्रयुक्त होता है, तो हम उस आधार पर शेष सन्दर्भों में उसके व्यक्तिवाचक संज्ञा पद के रूप में प्रयोग की दशाओं का भी स्थिरीकरण कर सकते हैं। वे इसी उद्देश्य से नाम-संबोधन प्रकार की निम्न-लिखित आवश्यक एवं पर्याप्त दशाओं को विचारार्थ प्रस्तुत करते हैं।

कोई व्यक्ति 'अ' किसी व्यक्ति 'ब' के लिए किसी पद 'क' को व्यक्तिवाचक संज्ञा के रूप में तब ही प्रयुक्त करता है जब,

(१) 'अ' इस ज्ञान या विश्वास के साथ 'ब' के लिए 'क' का प्रयोग करे कि 'क' रूढ़ि द्वारा 'अ' से सम्बद्ध है अथवा 'अ' को यह ज्ञान या विश्वास है कि 'ब' को यह ज्ञात है कि 'अ' उस पद का प्रयोग 'ब' के लिए करता है।

(२) 'ब' जिसे 'अ' 'क' के प्रयोग से सम्बोधित कर रहा है, यह समझ रहा है कि उसे 'क' के द्वारा सम्बोधित कर कहा जा रहा है।

(३) जो व्यक्ति यह समझता है कि उसे सम्बोधित कर कहा जा रहा है, यथार्थ में वही व्यक्ति है जिसे 'अ' लक्ष्य कर कह रहा है।

यदि उपरोक्त दशाएं आवश्यक और पर्याप्त सिद्ध हों तो इनमें समुचित परिमार्जन करते हुए शेष प्रयोगों की ऐसी दशाओं को स्थिर किया जा सकता है।

सिद्धेश्वर भट्ट
दिल्ली विश्वविद्यालय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विलियम जेम्स का विज्ञान-दर्शन[1]

लेखक ने इस लेख में यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि विलियम जेम्स विज्ञान-दर्शन की आधारशिला रखने वाले अपने समय के अनेक अन्य विचारकों से काफी आगे थे। उन्होंने विज्ञान की ज्ञान-मीमांसा को नयी दिशा दी। ज्ञान के इस क्षेत्र को उन्होंने सभी दिशाओं में समृद्ध किया और विज्ञान के सीमित दृष्टि-कोण का परित्याग कर इसके व्यापक दृष्टिकोण को अपनाया और उसकी निरंकुशता के प्रति हमें यह बताकर सचेत किया कि विज्ञान का स्वरूप अभ्युपगमात्मक होता है। बोरिंग, केसीरर, फ्रेन्क और कोकलमैन्स प्रभृति दार्शनिक इतिहासज्ञों के कठिन परिश्रम के कारण समकालीन विज्ञान-दर्शन पर अनेक अन्य चिन्तकों में से माख, पाइनकैर, पर्स, ब्रिजमैन और ड्यूहेम के प्रभाव को तो सार्वभोम रूप से मान्यता भी मिल गई है और उसे स्वीकार भी कर लिया गया है, किन्तु लेखक के मत में जेम्स के समृद्ध चिन्तन के इस आयाम को अभीतक प्रकाश में नहीं लाया गया है और उन्होंने इसीलिए इसे जेम्स के विचार-क्षेत्र का एक ऐसा आयाम माना है जिसकी अभीतक गवेषणा नहीं हो पाई थी। अपने लेख को पाल टिब्बैत्स ने दो भागों में बांटा है। प्रथम भाग में उन्होंने उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में उपलब्ध विज्ञान-दर्शन की आधार-भूत अवधारणाओं की चर्चा की है और दूसरे भाग में उन्होंने विज्ञान को 'द्वितीय स्तर की व्याख्या' माना है और उसके अभ्युपगमात्मक स्वरूप पर बहुत ज़ोर दिया है, क्योंकि इस स्पष्टीकरण के अभाव में हम विज्ञान से कुछ और भी मांग कर सकते हैं।

भाग-एक

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में विज्ञान-दर्शन में हुई नवीन प्रक्रियाएं और अन्वेषण-

'वैज्ञानिक सिद्धांत रूढ़ियां हैं' का प्रतिपादक मत

इस मत के अनुसार विज्ञान के समस्त सिद्धान्त, परिकल्पनाएं और धार-णाएं रूढ़ियां मात्र हैं जिन्हें कि गोचर-गत घटनाओं की व्याख्या के लिए अभ्युपगमित किया जाता है।

---

१. पॉल टिब्बैत्स, 'दि फिलासोफि ऑव साइंस ऑव विलियम जेम्स: एन अनएक्स-प्लोर्ड डाइमेन्शन ऑव जेम्सेज थॉट, दी पर्सनलिस्ट, (१९७१) पृ. ५३५-५५६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रकार टोलेमी; गेलिलियो और कापरनिकस की व्याख्याएं तीन भिन्न प्रकार की रूढ़ियां हैं; तीन ऐसे सिद्धान्त थे जो गोचरविश्व और उसकी घटनाओं की एक उत्तरोत्तर अधिक सरल, सुस्पष्ट और अधिक-सम्यक् भविष्यवाणियां करने में समर्थ हैं। इसके ठीक विपरीत वस्तुसत्वादियों का मत है जो यह मानते हैं कि केवल कुछ ही सिद्धान्त—बल्कि अन्ततः केवल एक ही सिद्धान्त-तर्कतः संभव है। उदाहरण स्वरूप अरस्तू के। को, डेमोक्रेटीज़ के परमाणुवाद को, टोलेमी की खगोल-विद्या को, उन्नीसवीं शताब्दी के ऐन्द्रिय प्रत्यक्षवाद को (जैसाकि कोंत और हैवेल का था) और आरम्भिक तार्किक प्रत्यक्षवाद को लिया जा सकता है।

हैनरी पाइनकैर और पीरे ड्यूहेम को उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त के विज्ञान-दर्शन का प्रधान प्रतिनिधि माना जा सकता है। पाइनकैर ने स्पष्टतः कहा है कि विज्ञान के नियम रूढ़ियां ही होते हैं, हमारे अपने आविष्कार या सृजन होते हैं, जिन्हें हम प्रकृति पर आरोपित करते हैं। किन्तु हम यह जानते हैं कि वे आगन्तुक नहीं होते और न ही सिद्धान्त का निर्माण करने वाले या वैज्ञानिक लोग उन तथ्यों का सृजन करते हैं जिन्हें ये नियम अभिव्यक्त करते हैं। अतः नियम रूढ़ियां हो सकते हैं किन्तु वे तथ्य रूढ़ियां नहीं होते जिनकी ये नियम व्याख्या करते हैं।

पाइनकैर के अनुसार रेखा गणित के स्वयंसिद्ध भी केवल रूढ़ियां हैं। एक रेखा गणित दूसरे रेखा गणित से अधिक सत्य नहीं हो सकता, वह उससे केवल अधिक सुविधाजनक हो सकता है। देश और काल को प्रकृति हमारे लिए प्रस्तुत नहीं करती अपितु हम प्रकृति पर उनको आरोपित करते हैं, क्योंकि वे हमें अधिक सुविधाजनक लगते हैं।

ड्यूहेम का कथन है कि भौतिक शास्त्री प्रयोग के निष्कर्ष के रूप में जो कहता है वह निरीक्षण किए गए तथ्यों का वर्णन मात्र नहीं होता वरन् उनका सिद्धान्तों के आदर्श, अमूर्त और प्रतीकात्मक विश्व में निर्वचन और व्याख्या होती है। वैज्ञानिक चिन्तन का उद्देश्य निरीक्षण और घटनाओं का विवरण देने तक सीमित नहीं है।

'सत्य' और 'निश्चितता' शब्दों का भौतिक सिद्धान्त के सन्दर्भ में केवल एक ही महत्व होता है और वह यह कि वे उस सिद्धान्त के निष्कर्षों और प्रेक्षणों के द्वारा स्थापित (निर्धारित) किए गए नियमों के बीच संवादिता को अभिव्यक्त करते हैं।

इस प्रकार के विचार को विज्ञान में रूढ़िवाद कहा गया है।

इस मत के अनुसार, व्याख्या को अन्ततः प्रेक्षणात्मक परिणामों में पर्यवसित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होना चाहिए और उसका स्वरूप ऐसा होना चाहिए कि वह आगे होने वाली घटनाओं के बारे में भविष्यवाणी कर सके।

पर्स ने किसी प्रत्यय या विचार के अर्थ एवं उसकी वैधता को निश्चित करने के लिए इसी प्रकार की प्रत्यक्षवादी विधि को अपनाया था। उनके अनुसार, किसी वस्तु के स्वरूप का सम्यक् अवगमन उसकी व्यावहारिक संभावनाओं के अनुमान का पर्याय है। जेम्स ने भी इसी विधि को अपने दर्शन में अपनाया।

(स) विधिपरक अभ्युपगम–

ये किसी वैज्ञानिक सिद्धान्त के उन मूल पदों का निर्देश करते हैं जिन्हें निरीक्षण के योग्य घटनाओं का लेखा-जोखा लेने के लिए अभ्युपगमित किया जाता है। ये सैद्धान्तिक रचनाएं होती हैं, इनको कभी मूर्त्त सत्ताओं के रूप में नहीं कल्पित करना चाहिए। जब हम 'बिन्दु', 'मन' और 'जड़ द्रव्य' जैसे अमूर्त्त अभ्युपगमों को देशकाल गत वस्तुएं मानने लग जाते हैं तब हम एक भारी दोष कर बैठते हैं जिसे व्हाइटहैड 'फैलेसी आफ मिसप्लेस्ड कान्क्रीटनैस' कहा है। अतः निर्दोष चिन्तन के लिए यह अपेक्षित है कि हम इस बात को भलीभांति जान लें कि विधिपरक अभ्युपगम (मैथोडोलोजीकल पोस्चूलेट्स) किसी सम्प्रत्ययात्मक योजना से निस्सृत होने के कारण अनिवार्य रूप से उस योजना की अपेक्षाओं और पूर्व मान्यताओं को प्रतिबिम्ब करेंगे।

ये अभ्युपगम साधारण प्रत्यक्षमूलक अनुभव की अपेक्षा अपने उद्भव को किसी सम्प्रत्ययात्मक योजना में खोजेंगे। ये अपनी सत्ता का दावा नहीं करते और न ही स्वयं को बाह्य जगत् से या निरीक्षण के संसार से निगमित करते हैं। इडिंगटन ने इसी भेद को स्पष्ट करने के लिए दो मेजों की चर्चा की है : एक तो वह जिसका निरूपण भौतिकशास्त्र करता है और दूसरी वह जो अनुभव जगत की वस्तु है— बैठकर लिखने की मेज़ के रूप में।

मांख और पर्स का विचार था कि वस्तुएं प्रतीकों के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं पर्स ने तो 'मनुष्य' को भी एक प्रतीक ही माना है। ड्यूहेम ने भी इन अभ्युपगमों के अमूर्त और मूलतः प्रतीकात्मक स्वभाव पर जोर दिया। उनके अनुसार विज्ञान मूलतः एक प्रतीकात्मक प्रक्रिया है जो वस्तुओं से संबंधित नहीं है वरन उनके प्रतीकात्मक पक्ष से संबंधित है। यह विज्ञान के इतिहास में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कदम था कि उसका संबंध नित्य प्रति के अनुभव की वस्तुओं से हटाकर अमूर्त प्रत्ययों एवं प्रतीकों से है।

जेम्स ने लिखा कि यह एक महान आश्चर्य की बात है कि हम प्रदत्त व्यवस्था को अपने वैज्ञानिक, सौन्दर्यात्मक एवं व्यावहारिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए अपने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुसार ढाल लेते हैं। जेम्स पर्स की भांति ही इस बात से भी सहमत थे कि प्रत्येक सार्थक प्रत्यय या विचार के संवेदजन्य परिणाम होने चाहिए और यदि दो प्रत्ययों के परिणाम समान हैं तो वे शब्दतः भिन्न होते हुए भी वस्तुतः समान ही होंगे। जेम्स के अनुसार, प्रमाणीकरणीयता का सिद्धांत अव्यवहित अनुभवों पर ही आधारित होगा।

इन्हीं सब सिद्धांतों के आधार पर जेम्स ने निम्न महत्त्वपूर्ण खोजों का विशद विवेचन प्रस्तुत किया :—

> चेतना की व्याख्या, संकल्प का सिद्धांत, धार्मिक अनुभव का मनोवैज्ञानिक पक्ष, प्रयोजनवादी पद्धति, मन की प्रक्रियात्मक अवधारणा, 'शुद्ध अनुभव' का सिद्धांत।

चूंकि जेम्स स्वयं एक मनोवैज्ञानिक था अतः उसका कार्य विज्ञान-दर्शन के दार्शनिक आधार के स्पष्टीकरण तक ही सीमित नहीं रहा अपितु उसने मानव–व्यवहार को समझने और उसकी व्याख्या करने में भी इसे चरितार्थ किया।

विज्ञान—"द्वितीय स्तर की व्याख्या के रूप में"—

जेम्स ने जानने की प्रक्रिया में दो ज्ञानात्मक स्तारों की चर्चा की है और इन्हें रसल की भांति संवेदमूलक ज्ञान और विवेकमूलक ज्ञान कहा है। उसकी पुल की उपमा को यदि मान लिया जाय तो पहले प्रकार का ज्ञान पुल की आधारशिला है, उसको आधार प्रदान करने वाले खम्भे हैं जबकि दूसरा ज्ञान पुल है। पहला प्रदत्त को हमारे समक्ष प्रस्तुत करता है, उसका अव्यवहित रूप से अनुभव होता है जबकि दूसरा परिकल्पनात्मक प्रदत्त और नियमों का एक अमूर्त संस्थान मात्र होता है। अतः जेम्स उन संप्रत्ययात्मक योजनाओं को—जिनका संवेदों में न तो आरंभ होता है और न ही अवसान होता है—बिना आधार (खंभों) का पुल कहता है। संवेदन ही स्थायी चट्टान हैं, वे ही चिंतन के आरम्भ-बिन्दु हैं और उन्हीं में उसका पर्यावसान होता हैं। किन्तु जेम्स ने यह बड़े दुःखपूर्ण स्वर में स्वीकार किया कि जो भी व्याख्या करने वाली योजना होगी उसे अव्यवहित अनुभव की समृद्धि, आवेग की तीव्रता और अनुभूत सार्थकता का त्याग करना होगा।

जेम्स के अनुसार, न केवल विज्ञान अपितु धर्म और नैतिकता भी हमें अंतिम बात नहीं कहते। स्वरूपतः ये साधन मात्र हैं और अमूर्त भी। उसने हमेशा 'अति' से बचने की राय दी। इसीलिए मांख, हेकेल और वाट्सन की भांति उसने अपना कोई सम्प्रदाय नहीं बनाया। इन तीनों ने क्रमशः भौतिकशास्त्र, जीवविज्ञान और मनोविज्ञान (व्यवहारवाद) में अपने-अपने संप्रदायों की स्थापना के द्वारा विज्ञान के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूल स्वरूप को विनष्ट किया। उसने तो 'शुद्ध अनुभव' तक को अन्त में एक अभ्युपगम ही मान लिया। जेम्स ने अपने विचारों द्वारा न केवल विज्ञान-दर्शन को समृद्ध बनाया अपितु उसने संकुचित प्रत्यक्षवादी दृष्टिकोण को समाप्त करने में भी अपना बहुमूल्य योगदान किया और इस क्षेत्र में एक ऐसे युग का सूत्रपात किया जिसका उसे सूत्रधार कहा जा सकता है।

रमेशचन्द्र शर्मा
जयपुर

मैटाफिज़िकल फाउंडेशन ऑव महात्मा गांधी'ज़ थॉट

—सुरेन्द्र वर्मा

प्रकाशक : गांधी पीस फाउंडेशन की ओर से ओरियंट लौंगमैन्स १९७०
पृष्ठ १७७

प्रस्तुत पुस्तक लेखक के शोध प्रबन्ध का परिवर्धित रूप है। (१३) लेखक का लक्ष्य गांधी जी की तत्त्व मीमांसात्मक दृष्टि को 'एक व्यवस्थित रूप' देना तथा उसकी 'आधारभूत मान्यताओं को प्रस्तुत करना है' (१०) जिसमें वह सफल हुआ है। लेखक ने गांधी जी को उस भारतीय परम्परा का प्रतिनिधि माना है जिसमें विचारों को जीवन से असम्बद्ध रूप में नहीं अपितु उन्हें जीवन के सन्दर्भ में ही महत्त्व प्राप्त हुआ है।

पुस्तक के प्रथम तीन अध्यायों में सत्य, ईश्वर, तथा आत्मा एवं मोक्ष पर विचार किया गया है तथा बाद के तीन अध्यायों में एक ओर उपनिषद्, गीता, योगसूत्र में तथा दूसरी ओर बौद्ध एवं जैन दर्शन में गांधी जी के विचारों के स्रोत खोजने का प्रयास किया गया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गांधी जी ने लिखा तो बहुत है—कर्म के साथ चिन्तन तथा लेखन बराबर चलता रहा, परन्तु उनके विचार उनके अनेक लेखों में बिखरे पड़े हैं। लेखक ने विभिन्न स्रोतों से इन विचारों को एक स्थान पर संयोजित तथा व्यवस्थित रूप में एकत्रित कर दर्शन के विद्यार्थियों पर उपकार किया है। इस प्रयास के फलस्वरूप गांधी जी के विचारों में एक सम्यक् दार्शनिक तन्त्र के दर्शन होते हैं। लेखक ने गांधी जी को एकवादी तथा आदर्शवादी कहा है क्योंकि गांधी जी समस्त अस्तित्त्व के मूलाधार के रूप में एक ही परम तत्त्व 'सत्य' (जिसे वे 'ईश्वर', 'परम आत्मा' भी कहते हैं) को स्वीकार करते हैं। परन्तु साथ ही वे सृष्टि को भी मिथ्या नहीं मानते हैं। लेखक ने एक महत्त्वपूर्ण कार्य उन युक्तियों को संकलित कर किया है जो गांधी जी ने ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के निमित्त प्रस्तुत की है। यह द्रष्टव्य है कि गांधी जी ने इन युक्तियों का महत्व एक सीमित रूप में ही स्वीकार किया है। ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने की बात का क्या आशय हो सकता है? उससे अधिक सिद्ध क्या हो सकता है?

इन युक्तियों के अन्तर्गत सत्तामूलक, अन्तिम कारण संबंधी, साध्य मूलक, नैतिक-व्यवहार संबंधी तथा आप्तवचनात्मक युक्तियों का उल्लेख हुआ है। इनमें से कुछ के नामों से ही दर्शन के इतिहास में प्राप्त युक्तियों से उनका साम्य स्पष्ट है। किन्तु कहीं कहीं यह साम्य केवल सतही है। लेखक के साथ यह मानना संभव प्रतीत नहीं होता कि नैतिक युक्ति कांट की युक्ति से साम्य रखती है। "नैतिक नियम" तथा 'निरपेक्ष आदेश'को समान नहीं कहा जा सकता। गांधीजी के लिए नैतिक नियम ईश्वर की आवाज़ है', काण्ट की स्वायत्तता की धारणा इससे भिन्न है। आप्तवचनात्मक युक्ति (धार्मिक अनुभव, असंख्य मानवों के विश्वास, इतिहास का साक्ष्य) की बात एक दृष्टि से दिलचस्प है।

इस प्रकार की युक्तियों की कठिनाइयां सर्वविदित होते हुए भी, इसके मूल में जिस सुदीर्घ तथा व्यापक सांस्कृतिक चेतना का संकेत है कदाचित् वह अन्य प्रकार की युक्तियों के लिए मनोवैज्ञानिक प्रेरणा के रूप में कार्य करता है।

गांधी जी के विचारों के स्रोत को निश्चित करते हुए लेखक ने यह स्पष्ट किया है कि वर्तमान समाज की असंगतियों तथा आवश्यकताओं के प्रति सचेत गांधीजी ने भारतीय दार्शनिक तथा सांस्कृतिक परम्परा से उन तत्त्वों का चयन किया जो न केवल इस परम्परा के आधारभूत तत्त्व रहे हैं, अपितु जिन्हें बृहद् सामाजिक परिप्रेक्ष्य में व्यवहृत भी किया जा सकता है। इस प्रक्रिया में अपने अनुभवों के आधार पर गांधी जी ने पुरातन अवधारणाओं को नवीन अर्थ तथा पुनर्जीवन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिया (१३३)। दार्शनिक के रूप में गांधी जी का महत्त्व इसी तथ्य के आधार पर अक्षुण्य रहेगा कि उन्होंने एक महान परम्परा को जिया (१३४)। लेखक के इस मत से कदाचित् किसी का मत-भेद नहीं होगा।

परन्तु उनके इस प्रबन्ध से दर्शन के संबंध में, दर्शन को लेकर गांधी की स्थिति के विषय में, एक दिलचस्प प्रश्न उठता है। दर्शन के अर्थ को स्पष्ट करते हुए, उसे ज्ञानमीमांसा तथा तत्त्वमीमांसा तक सीमित करते हुए, (८) लेखक ने गांधी को अकादमिक दार्शनिक नहीं माना है। एक अन्य स्थल पर उन्होंने दर्शन को किसी जीवन की एक सुसंगत तथा सामञ्जस्यपूर्ण प्रणाली मानते हुए कुछ ऐसा संकेत दिया है कि गाँधी जी के विचारों में एक सुसंगत दर्शन सन्निहित है (१०–११) दर्शन के अर्थ तथा उसके कार्यों को लेकर यही दो दृष्टियां नहीं हैं, अपितु दर्शन का समस्त इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि इस संबंध में कोई निश्चित मत व्यक्त करना दार्शनिक को पुनः आत्मनिरीक्षण के लिए प्रेरित करता है। परम तत्त्व का ज्ञान अथवा दर्शन, मानव-जीवन के परम लक्ष्य का अन्वीक्षण, उन मूल्यों के स्वरूप तथा आधार का निर्धारण जो मानव के पारस्परिक संबंधों तथा व्यक्ति के जीवन की दिशा निर्धारित कर सके, प्राकृतिक अथवा सामाजिक विज्ञानों में प्रयुक्त होने वाले आधारभूत प्रत्ययों तथा विज्ञान की पद्धति पर विचार, विचार पर विचार, स्वयं दार्शनिक प्रक्रिया पर विचार-जैसे विभिन्न विषयों को 'दर्शन' अथवा 'फिलोसोफी' शब्द द्वारा अभिहित किया जाता है। दूसरी ओर गांधीजी की वैचारिक स्थिति पर ध्यान दें तो कदाचित् यह किसी को अमान्य नहीं होगा कि गांधीजी एक तत्त्व दृष्टि रखते थे। आत्मा जगत् तथा ईश्वर के विषय में, जो कि दर्शन में चिन्तन के प्रमुख प्रेरक रहे हैं, गांधीजी एक निश्चित दृष्टि रखते थे। इनके संबंध में जो उनकी अनुभूतियां थीं, उन्हें उसी रूप में परम मूल्य मानते हुए भी, गांधीजी ने उन्हें युक्तियों से पुष्ट करने का प्रयास किया है, जैसा कि लेखक के प्रबन्ध से स्पष्ट है। समाज के आदर्श स्वरूप, उसके आधारभूत मूल्यों तथा समाज की वर्तमान स्थिति के स्वरूप–परिवर्तन पर गांधीजी ने युक्तियुक्त विचार किया है।

यह एक हास्यास्पद युक्ति होगी यदि हम यह मानें कि क्योंकि इन सभी विषयों पर गांधीजी के विचार किसी एक ग्रन्थ में किसी विचार–तन्त्र के रूप में उपलब्ध नहीं होते इसलिए गांधी जी को दर्शनिक नहीं कहा जा सकता। न ही यह कोई महत्त्वपूर्ण तर्क है कि क्योंकि गांधीजी ने दर्शन का अध्ययन नहीं किया अथवा उन्होंने स्वयं को दर्शन के इतिहास में पिरोए जाने के निमित्त किसी तत्त्व-मीमांसक अथवा दार्शनिक का खण्डन नहीं किया, इसलिए उन्हें दार्शनिक कहना उपयुक्त नहीं होगा। पश्चिम में आधुनिक विश्लेषणात्मक दर्शन के प्रभाव में भारतीय चिन्तन में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

113448
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

केवल उसके सदृश प्रवृत्तियों की खोज तथा दर्शन के उस अधिक गहन रूप के प्रति उदासीनता रखना जो जीवन के अधिक निकट है,केवल इसी तथ्य का संकेत देता है कि हम में आत्मविश्वास का अभाव है।

'अकादमिक दार्शनिक' से यदि लेखक का आशय दर्शन के अध्यापक अथवा दर्शन के विद्यार्थियों के लिए पुस्तकें लिखने वाले विचारक से नहीं है तो उपर्युक्त सन्दर्भ में वह गांधीजी को पूरे अर्थ में दार्शनिक मानने में संकोच का ही परिचायक है।

राजेन्द्र स्वरूप भटनागर
दर्शन विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय
जयपुर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

113546

तत्त्व-चिन्तन

संपादक :

चांदमल-यशदेव शल्य

दर्शन-प्रतिष्ठान की यह पत्रिका 1968 से प्रकाशित हो रही है। इसमें दर्शन के प्रमुख भारतीय विद्वानों के लेख प्रकाशित किये जाते हैं।

वार्षिक शुल्क :

१. व्यक्तिगत क्रेताओं के लिये	रु० १०/-
२. संस्थाओं के लिये	रु० १५/-

—

दर्शन-प्रतिष्ठान के अन्य प्रकाशन :

१. रत्नकीर्ति-विरचित अपोहसिद्धि, अनुवाद एवं टीका
गोविन्दचद्र पाण्डे — मूल्य ३.००

२. धर्मकीर्ति-विरचित न्याय-बिन्दु, अनुवाद एवं टीका
गोविन्दचंद्र पाण्डे — ८.००

३. समकालीन पाश्चात्य दर्शन
(कार्नप, रसल, मूर आदि के प्रतिनिधि निबंधों का संकलन)
स० यशदेव शल्य, चांदमल — २०.००

४. विषय और आत्म
यशदेव शल्य — २०.००

प्रकाशक :

दर्शन-प्रतिष्ठान

डो-१४, बापूनगर, जयपुर-४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते" ऐसा कोई विचार संभव नहीं है जिसमें शब्द का अनुवेध न हो। शब्द के ही सहारे बुद्धि-प्रक्रिया सम्पन्न होती है। इसी कारण विचार-पद्धतियां एवं दृष्टियां भाषा की अपेक्षा रखती हैं। किसी भी देश में स्वतन्त्र चिन्तन का विकास तब तक सम्भव नहीं है जब तक उसके निवासी अपनी मातृ-भाषा में अपना चिन्तन एवं लेखन नहीं करें। भारत की सभी भाषाएं समान परम्परा के अन्तःसूत्र से बँधी हैं और उनका पूर्ण विकास हिन्दी के विकास का अविरोधी ही नहीं है अपितु हिन्दी के उत्कर्ष से ही उनकी परस्पर-सम्बद्धता अभिषिक्त होती है। अतः स्वतन्त्र चिन्तन के विकास के लिये एवं भारत की अखण्ड एकता के लिये हिन्दी के विकास में सहयोग देना सभी भारतीयों का कर्त्तव्य है।

113446

राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, ए २६, विद्यालय मार्ग, तिलक नगर, जयपुर-४ के लिये श्री यशदेव शल्य द्वारा प्रकाशित तथा संपादित, एवं अजमेरा प्रिंटिंग [illegible] का रास्ता, जयपुर से मुद्रित।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Compiled
1999-2000

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar